कृष्ण की आत्मकथा
खांडव दाह
मनु शर्मा

खांडव दाह

जीवन को मैंने उसकी समग्रता में जीया है। न मैंने लोभ को छोड़ा, न मोह को; न काम को, न क्रोध को, न मद को, न मत्सर को। शास्त्रों में जिनके लिए वर्जना थी, वे भी मेरे लिए वर्जित नहीं रहे। सब वंशी की तरह मेरे साथ लगे रहे। यदि इन्हें मैं छोड़ देता तो जीवन एकांगी हो जाता। तब मैं यह नहीं कह पाता कि करील के कुंजों में रास रचानेवाला मैं ही हूँ और ब्रज के जंगलों में गायें चरानेवाला भी मैं ही हूँ। चाणूर आदि का वधक भी मैं ही हूँ और कालिय का नाथक भी मैं ही हूँ। मेरी एक मुट्ठी में योग है और दूसरी में भोग। मैं रथी भी हूँ और सारथि भी। अर्जुन के मोह में मैं ही था और उसकी मोह-मुक्ति में भी मैं ही था।

जब मेघ दहाड़ते रहे, यमुना हाहाकार करती रही और तांडव करती प्रकृति की विभीषिका किसीको कँपा देने के लिए काफी थी, तब भी मैं अपने पूज्य पिता की गोद में किलकारी भरता रहा। तब से नियति न मुझपर पूरी तरह सदय रही, न पूरी तरह निर्दय। मेरे निकट आया हर हर्ष एक संघर्ष के साथ था।

❖

कृष्ण के अनगिनत आयाम हैं। दूसरे उपन्यासों में कृष्ण के किसी विशिष्ट आयाम को लिया गया है। किंतु आठ खंडों में विभक्त इस औपन्यासिक शृंखला 'कृष्ण की आत्मकथा' में कृष्ण को उनकी संपूर्णता और समग्रता में उकेरने का सफल प्रयास किया गया है। किसी भी भाषा में कृष्णचरित को लेकर इतने विशाल और प्रशस्त कैनवस का प्रयोग नहीं किया गया है।

यथार्थ कहा जाए तो 'कृष्ण की आत्मकथा' एक उपनिषदीय कृति है।

'कृष्ण की आत्मकथा'
शृंखला के आठों ग्रंथ

- नारद की भविष्यवाणी
- दुरभिसंधि
- द्वारका की स्थापना
- लाक्षागृह
- खांडव दाह
- राजसूय यज्ञ
- संघर्ष
- प्रलय

कृष्ण की आत्मकथा -५

खांडव दाह

मनु शर्मा
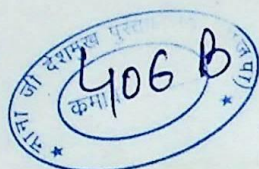
प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
४/१९ आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२

संस्करण • २०१५

मूल्य • तीन सौ रुपए (प्रति खंड)
दो हजार चार सौ रुपए
(आठ खंडों का सैट)

मुद्रक • नरुला प्रिंटर्स, दिल्ली

KHANDAVDAH (Krishna Ki Atmakatha Vol. V)
novel by Manu Sharma
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2

Vol. V	Rs. 300.00	ISBN 978-93-5186-505-6
Set of Eight Vols.	Rs. 2400.00	ISBN 978-93-5186-509-4

आत्मकथ्य

मेरी मनुजात की वास्तविकता पर जब चमत्कारों का कुहासा छा जाता है तब लोग मुझमें ईश्वरत्व का अनुमान करने लगते हैं। मैं भी अपने में ईश्वरत्व की तलाश में लग जाता हूँ। शिशुपाल वध के समय भी मेरी मानसिकता कुछ ऐसे ही भ्रम में पड़ गई थी; पर जब उसके रक्त के प्रवाह में मुझे अपना ही रक्त दिखाई पड़ा तब मेरी यह मानसिकता धुल चुकी थी। उसका अहं अदृश्य हो चुका था। मेरा वह साहस छूट चुका था कि मैं यह कहूँ कि मैंने इसे मारा है। अब मैं कहता हूँ कि वह मेरे द्वारा मारा गया है। मारनेवाला तो कोई और था। वस्तुत: उसके कर्मों ने ही उसे मारा। वह अपने शापों से मारा गया।

संसार में सारे शापों से मुक्त होने का कोई-न-कोई प्रायश्चित्त है; पर जब अपने कर्म ही शापित करते हैं तब उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं।

आखिर वह मेरा भाई था। मैं उसे शापमुक्त भी नहीं करा पाया। मेरा ईश्वरत्व उस समय कितना सारहीन, अस्तित्वविहीन, निरुपाय और असमर्थ लगा!

एक
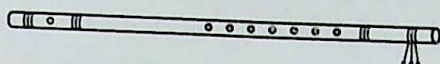
कार्यक्रम के अनुसार लौटते समय हम हस्तिनापुर गए। मेरे सभी मित्र साथ थे और साथ थी द्वारका से आई सात्यकि के नेतृत्व में सेना। लगभग एक काफिला जैसा हो गया था।

यद्यपि हम सीधे खांडवप्रस्थ से द्वारका जा सकते थे। हस्तिनापुर हमारे मार्ग में नहीं पड़ता था। हमें एकदम उलटा आना था; फिर द्वारका के मार्ग को भी लंबा करना था। भैया ने इसका विरोध भी किया। पर जब मैंने यह कहा कि लौटने के पूर्व मिलने का मैंने प्रपितामही सत्यवती को वचन दिया है, तो वे चुप हो गए।

''हम संध्या होते-होते हस्तिनापुर पहुँचेंगे। इसका तात्पर्य है कि एक रात्रि वहीं बितानी पड़ेगी।'' सात्यकि बोला।

''पर किया क्या जाए? हमें हस्तिनापुर की प्रतिक्रिया भी जाननी है, अन्यथा द्वारका जाकर भी हमारी जिज्ञासा बनी रहेगी।'' मैंने कहा।

''मन भी शांत रहेगा।'' उद्धव बोला, ''इतनी लंबी यात्रा अशांत मन से नहीं की जा सकती।''

''कोई आवश्यक नहीं कि वहाँ जाकर शांति ही मिले; अशांति भी प्राप्त हो सकती है। यह तो हस्तिनापुर की स्थिति और मुद्रा पर निर्भर है।'' मैंने कहा, ''उद्धव, शांति [illegible] बाहर से नहीं आती, वह तो मन के भीतर से ही आती है। वह मन की एक दशा है, जिसे हम बाहरी [illegible] समग्र भी योग द्वारा बनाए रख सकते हैं।''

उद्धव चुप हो गया। बात समाप्त हो गई और हम चलते रहे।

सूर्यास्त होते-होते हम हस्तिनापुर की नगरीय सीमा में प्रवेश कर चुके थे। मुसकराते हुए नगरपालों ने हमारा स्वागत किया। पर उन्हें आश्चर्य था एक तो हमारे अप्रत्याशित आ धमकने का और दूसरे, द्वारका की इस सैन्य टुकड़ी के साथ होने का। निश्चय ही मेरे पहुँचने की सूचना विस्मय के साथ राजभवन में पहुँचाई

गई; क्योंकि देखते-ही-देखते सारा राजभवन सिंहद्वार पर उपस्थित हो गया।

पूरा नगर उदास लगा—अंग कटे तन की तरह मृतप्राय और अर्द्धसंज्ञा की स्थिति में। न तो अभाव की छटपटाहट थी और न संतोष की तृप्तता; केवल एक अनिर्वचनीय शांति। और ऐसे ही सन्नाटे ने हमारा स्वागत भी किया। राजमार्ग पर भी लोग कम दिखे—और जो दिखे भी, वे अचरज से भरे हुए। हर आँख जैसे पूछ रही हो, अब आपको यहाँ से क्या लेना-देना है?

वस्तुतः नगर को आशंकाग्रस्त कर दिया था हमारी सेना ने। द्वारका की सेना स्तिनापुर में क्यों? अवश्य कुछ होने वाला है। मार्ग के लोग भी हमें देखकर चाप हट-बढ़ जाते थे। भवनों के छज्जे भी खाली हो जाते थे। वातायन भी थराई आँखों की तरह, खुले होकर भी सूने-सूने। ऐसा तो नहीं कि इस बार द्वारकाधीश पांडवों की ओर से कोई गंभीर दबाव बनाने आए हों।

ऐसी ही आशंका राजभवन के सिंहद्वार पर कौरव पक्ष के सभी वरिष्ठ लोगों को खींच लाई थी। पितामह, महाराज धृतराष्ट्र, विदुरजी, शकुनि मामा और अपने भाइयों के साथ दुर्योधन भी वहाँ हमारी अगवानी में खड़ा था।

हम लोग जब अपने-अपने रथों से उतरकर पितामह के चरण छूने के लिए उनकी ओर लपके, तभी महाराज की व्यग्रता एकदम मुखरित हुई—''हम लोगों की ओर से कोई त्रुटि रह गई है क्या?''

मुझे हँसी आ गई।

''नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। आपकी ओर से भला क्या त्रुटि हो सकती है!'' मैंने कहा।

''नहीं, मैंने सोचा, कदाचित् कोई भूल रह गई हो, जिसके कारण अचानक आपका पुनः और वह भी शीघ्र आगमन हुआ।'' महाराज मुसकराते हुए बोलते चले जा रहे थे—''अरे भाई, जिसके पास आँखें ही न हों, उससे चूक होना स्वाभाविक है।''

''आप भी कैसी बात सोचते हैं! आखिर मामाजी की आँखें किसकी हैं? वह हैं तो आपकी ही न!'' इतना कहने के बाद हम लोगों ने जोर का अट्टहास किया।

कुचक्री को उसकी पहचान बता देने के बाद ही वह आधा मर जाता है। इसीलिए हम लोग बराबर उसे बताते रहते थे कि हम तुम्हें जानते हैं। सारा कुचक्र तुम्हारे द्वारा ही संचालित होता है।

इसीलिए जब हँसी थमी तब मैंने एक हाथ और रखा—''आप इसे परिहास

न समझें। मामा आकाश में अदृश्य होते कपोतों को भी देख लेते हैं।''

''शायद इसीलिए तुमने खांडव वन को जलवा दिया।'' पितामह के मुख से अप्रत्याशित निकल गया।

जो लोग खांडव वन में मामा की 'करनी' से परिचित नहीं थे, उनके लिए यह वाक्य महत्त्वहीन था; पर मुझे तो छू गया। विदुरजी तो एकदम शकुनि की ओर देखने लगे। शकुनि क़ी आँखें नीची जरूर थीं, पर वह कनखियों से आग उगल रहा था।

अब मैंने पितामह को उत्तर दिया—''मैं खांडव वन जलवानेवाला कौन होता हूँ! अरे, पांडवों के भाग्य में ही कुछ ऐसा है कि वे जहाँ जाते हैं, आग उनका पीछा नहीं छोड़ती।''

''पर उन्हें तो छोड़ देती है।'' किसी प्रेत आत्मा का ही चमत्कार था कि यह वाक्य दुर्योधन के मुख से निकल गया। बाद में उसे भी लगा कि यह मैंने क्या कह दिया। पर धनुष से निकला बाण और मुख से निकली बात फिर तो वापस आती नहीं।

दुर्योधन को दिया मेरा उत्तर बड़ी नाटकीयता से भरा था—''यह सब आप लोगों के आशीर्वाद और सुभाशंसा का ही परिणाम है कि आग पांडवों को निगलकर भी ज्यों-का-त्यों उगल देती है।''

इस समय मुझपर सरस्वती कुछ ऐसी सवार थीं कि मेरी हर बात के बाद वे मौन रह जाते थे। बोलते तो शायद और उघड़ते।

संध्या डूब चुकी थी। राजभवन में मशालें झिलमिलाने लगीं। सात्यकि के कथनानुसार मुझे रात यहीं बितानी पड़ी। मेरे साथ आए लोगों की राजभवन में तुरंत व्यवस्था की गई। मेरा रथ तो विदुरजी के रथ के साथ उनके आवास की ओर चला। इस बार सात्यकि और उद्धव को भी मैं अपने साथ लेता गया।

विदुरजी ने खांडव वन जला डालने के लिए मुझे बधाई दी। उनका कहना था—''वह वन पांडवों के विरुद्ध षड्यंत्र का केंद्र हो जाता था। यह बात हम लोगों ने तुमसे बताई नहीं थी कि उस वन से प्रतिदिन परेशान होकर ही हमारे पूर्वजों ने हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाई थी। आज भी वह कौरवों के षड्यंत्र का केंद्र बनता। उसे जलाकर तुमने बहुत अच्छा किया।''

''वस्तुतः हम लोगों ने कुछ नहीं किया।'' मैंने कहा, ''कर्ता तो कोई और था। हम लोग तो मात्र माध्यम बने और यश लिया।''

इसके बाद मैंने उन्हें सारी कथा सुनाई और यह भी बताया कि किस प्रकार

खांडवप्रस्थ अब इंद्रप्रस्थ होने जा रहा है।

वे बड़े प्रसन्न हुए। उनके लिए यह बहुत बड़ी बात थी। इसके पीछे उन्हें किसी पिता-पुत्र का अप्रत्याशित मिलन दिखाई दे रहा था।

उन्होंने बड़े विश्वास के साथ कहा, ''अब मुझे लगता है कि व्यासजी की भविष्यवाणी को पांडव किसी तरह झेल ले जाएँगे।''

मैं उन्हें कुछ और खोलना चाहता था; पर उन्होंने उलटा मुझसे ही प्रश्न किया—''जिसके ब्राह्मण होने पर अर्जुन को शंका हुई थी, उस परम तेजवान् पुरुष को कुंती भाभी ने नहीं देखा क्या?''

''इस ओर तो मैंने ध्यान नहीं दिया।'' मैंने कहा और उनकी ओर देखता रहा कि शायद वे कुछ और बोलें; पर उस समय वे चुप ही रह गए।

बाद में उन्होंने बताया—''वह भयंकर अग्नि थी। उसके धूम-मेघ हम सबने देखे थे। कुछ लोगों को राजभवन के शिखर से उसकी लपटें भी दिखाई पड़ी थीं।'' हँसते हुए उन्होंने कहा, ''महाराज भी चिंतित थे। पर वे किसीसे कुछ पूछने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने दुर्योधन से ही पूछा था—'तुम लोगों ने फिर कोई षड्यंत्र तो नहीं किया?' ''

विदुरजी बताते रहे—''संयोग कुछ ऐसा कि उसी समय मैं उनके कक्ष में प्रविष्ट होने वाला था। उन लोगों की बातें सुनकर कपाट की आड़ में हो गया। उस समय दुर्योधन झल्ला उठा था—'आप हर समय हमें षड्यंत्रकारी ही समझते हैं!'

'' 'यह हमारा ही दुर्भाग्य है, वत्स, कि इसके अतिरिक्त हमारी बुद्धि तुम्हें और कुछ समझ नहीं पाई। पर हाँ, पिता के मोह ने कभी तुम्हें षड्यंत्रकारी के रूप में देखा नहीं।' ''

विदुरजी का कहना था—''इतना सुनते ही दुर्योधन एकदम कक्ष के बाहर निकल आया।''

''यह एक अच्छी सूचना है कि महाराज बुद्धि और मोह को अलग-अलग करके देख सकते हैं।'' मैंने कहा, ''इसका तात्पर्य है कि राजभवन में अभी विवेक का अस्तित्व है।''

''विवेक का अस्तित्व तो सदा रहा है और रहेगा; पर दुःख तो यह है कि शकुनि भी यहाँ रहा है और रहेगा।'' इस कथन पर वे भी हँसने लगे और हम सब भी।

हँसी थमते ही वे बोले, ''यह तुमने अच्छा किया कि द्वारका लौटते समय एक बार आ गए। कौरव तुमसे बहुत घबराते हैं। मैं तो चाहता हूँ कि उनकी यह

घबराहट बनी रहे। अब आज ही देखना, उनकी गुप्त बैठकें होने लगेंगी।''

''पर मैं उन्हें व्यग्र करने नहीं आया। न ऐसा करने का मेरा कोई उद्देश्य है।'' मैंने कहा, ''प्रपितामही को मैंने वचन दिया था कि लौटते समय मैं आशीर्वाद लेने आऊँगा। इसीलिए चला आया।''

''जब खांडव वन के भस्म होने का समाचार उन्हें मिला था तब उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा था, 'कन्हैया चला गया क्या?' मैंने कहा था कि 'अभी तो वह वहीं हैं।' तब वह बड़ी संतुष्ट लगी थीं।''

इसके बाद बात समाप्त हुई। रात का प्रथम प्रहर बीत चुका था। हम लोग भोजन कर शयनकक्ष में चले गए।

एक ही कक्ष में हम तीनों की शय्याएँ पड़ी थीं; क्योंकि यथाशीघ्र ही हमें चल देना था। मुझे अचानक एक बात याद आई।

मैंने उद्धव से पूछा, ''तुम्हारे उस बूढ़े विरजा का क्या हुआ?''

''उसे भी मैं अपने साथ द्वारका ले चल रहा हूँ।''

''इस समय वह है कहाँ?''

''इसे मैं आपको नहीं बताऊँगा।'' उद्धव बोला, ''जहाँ बात एक मुँह से दो मुँह की हुई तहाँ उसे फैलते देर नहीं लगती।'' इस बार उद्धव थोड़ा खीजकर बोला, ''आप भी विपत्तियाँ पालते चलते हैं।''

''जो मेरी शरण में आता है, उसे पालना मेरा धर्म है; भले ही वह विपत्ति ही क्यों न हो!'' यह कहकर मैं हँस पड़ा।

□

सैनिकों को प्रस्थान करने के लिए तैयार होने के निर्देश पहले से ही दे दिए गए थे। हम भी यथाशीघ्र विदुरजी के यहाँ से निकले और प्रपितामही के यहाँ पहुँचे। उन्हें कल ही मेरे आने की सूचना मिल चुकी थी। वे मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं।

मुझे देखते ही उन्होंने भी अग्निकांड की चर्चा छेड़ी। उनका भी यही कहना था—''इतना भयंकर अग्निकांड मैंने जीवन में कभी सुना नहीं था। पर तुम्हारी उपस्थिति में यह घटना हो गई, अच्छा ही हुआ। पांडव एक मुसीबत से और मुक्त हुए।''

''धीरे-धीरे वे सभी मुसीबतों से मुक्त हो जाएँगे।'' मैं बोला। पर प्रपितामही तो महर्षि व्यास की भविष्यवाणी से आक्रांत थीं। मैंने कहा, ''वह तो भवितव्यता है। 'होनी' है, होगी अवश्य ही। पर उसे भी उन्हें झेल जाना चाहिए; क्योंकि उनके

साथ शक्ति और पराक्रम के साथ ही धर्म और भक्ति भी है।''

''इन सबके अतिरिक्त तुम्हारी आवश्यकता उन्हें बराबर बनी रहेगी। यह सत्य है कि तुम होनी को नहीं टाल सकते; पर बरसते बादलों के समय छत्र तो बन सकते हो।''

मैंने उनका अनुग्रह स्वीकार किया—''आप मुझे इस योग्य समझती हैं, यह मेरा सौभाग्य है।''

मैंने शीघ्र बात समाप्त की और आशीर्वाद लेकर चल पड़ा। मुझे अब किसीसे मिलने की आवश्यकता नहीं थी। कल सबसे भेंट भी हो चुकी थी। फिर भी मैंने सोचा कि पितामह और महाराज से बिना मिले यदि चल दिया जाएगा तो तरह-तरह की अफवाहें फैलेंगी। अनेक शंकाओं का जन्म होगा। अतएव संक्षिप्त मिलन की इच्छा से पहले पितामह के यहाँ पहुँचा।

मुझे देखते ही वे प्रसन्न हो गए। बोले, ''मैं प्रात: से ही सोच रहा था कि तुम आओगे अवश्य।'' अग्निकांड को लेकर उनकी जिज्ञासा तो थी ही। पहले तो उन्होंने सोचा कि उन तांत्रिकों ने कोई गड़बड़ की होगी; पर जब गुप्तचरों से सूचना मिली कि द्वारकाधीश के आदेश से वह जलाया जा रहा है, तब वे आश्वस्त हुए। सोचा, तांत्रिकों के षड्यंत्र से बचने के लिए ऐसा किया गया होगा।

मैंने भी इस संदर्भ में कुछ कहा नहीं। उनकी विशेष जिज्ञासा अर्जुन के धनुष और रथ के विषय में थी। इस संदर्भ में भी मैं मुसकराकर रह गया।

वे ही बोलते रहे—''अच्छा है कि पांडव चारों ओर से शक्ति संकलन में लगे हैं।'' बातों के क्रम में ही उन्होंने बताया—''एक दिन मैं महाराज के पास बैठा था। उसी समय सत्राजित् का कोई दूत आया था। आते ही उसने दुर्योधन से मिलने की इच्छा व्यक्त की—और महाराज ने तुरंत अपने एक चर को दुर्योधन के पास उसे पहुँचाने का आदेश दिया।

''वह क्यों आया था, कुछ पता नहीं चला।'' पितामह ही बोलते रहे—''कोई रहस्य अवश्य होगा, जिसे धृतराष्ट्र ने मेरे सामने खोलना नहीं चाहा। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि दोनों के बीच कोई दुरभिसंधि चल रही है।''

पितामह ने हमें भी यथाशीघ्र द्वारका पहुँचने का संकेत किया।

आशीर्वाद लेकर जब मैं बाहर निकला तब भैया और उद्धव काफी चिंतित लगे।

''लगता है, हस्तिनापुर ने अपनी कुदृष्टि द्वारका की ओर की है। हमें इसके बारे में कुछ सोचना चाहिए।''

मैं गंभीर ही रहा। उन्हें शांत करते हुए महाराज से मिलने चला। वहीं दुर्योधन, गांधारी और मामा—सभी मिल गए। एक स्थान पर सबसे भेंट हो गई।

मैंने दुर्योधन को देखते ही कहा, ''चल रहे हैं द्वारका?''

''क्या करूँगा वहाँ जाकर?''

मैंने भैया की ओर संकेत करते हुए कहा, ''अरे, आप अपने गुरु की सेवा में रहिएगा। समुद्र की लहरों को राजनीति पढ़ाइएगा।'' इस समय मेरा उद्देश्य उसे उत्तेजित करने का था; क्योंकि जब वह उत्तेजित होता था तब भीमसेन की तरह बहुत कुछ उगल देता था। पर वह उत्तेजित नहीं हुआ, बस मुसकराता रहा।

''फिर आपके मित्र सत्राजित् की राज्य सीमा भी पास ही है। कुछ दिन वहाँ भी रह लीजिएगा। उन महानुभाव को मंत्रणा के लिए यहाँ अपना दूत भेजने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।'' मैंने उसके चिंतन को एक गहरा आघात दिया।

वहाँ बैठे सभी लोग सकते में आ गए कि जरा सी बात हुई और इसे पता चल गया। मामा ने इसे अपनी कूटनीतिक पराजय समझा। फिर भी वह मुँह लटकाए हारे हुए जुआरी की तरह बैठा रहा।

इसपर दुर्योधन थोड़ी उत्तेजना में आया और बोला, ''मुझे क्या आवश्यकता है सत्राजित् के यहाँ जाने की! उसे आवश्यकता होगी तो अपना दूत मेरे यहाँ भेजेगा।''

मैं मुसकराते हुए चुप ही रह गया। पर इतना तो निश्चित था कि इस दुरभि-संधि का प्रस्ताव सत्राजित् की ओर से ही आया होगा। अवश्य ही वह किसी षड्यंत्र की अवतारणा कर रहा है। मैंने सात्यकि की ओर देखा। उसकी आँखें कह रही थीं कि मैंने कहा न, वह बड़ा दुष्ट है।

मैंने एकदम अपनी मुद्रा बदली। चलने को हुआ। महाराज एवं गांधारी के चरण छूकर जब मामा की ओर बढ़ा तब वह मुझे रोकते हुए एकदम बोल पड़ा—''बस, बस भानजे, बस। मामा का चरण छूकर उसे नरक में मत डालो।''

''तो अब भी आप समझते हैं कि आपका स्वर्ग में स्थान सुरक्षित है!'' महाराज के इतना कहते ही जोर का ठहाका लगा। महाराज आज परिहास की मुद्रा में थे। उन्होंने दूसरा व्यंग्य बाण मारा—''शकुनि, मैं सोचता हूँ कि यदि तुम नरक नहीं जाओगे तो वहाँ का सिंहासन खाली-का-खाली रह जाएगा।'' इस बार औरों के साथ गांधारी भी हँसी।

यह व्यंग्य बाण परिहास के लिए ही रहे होंगे। मामा भी हँस रहा था; पर भीतर-ही-भीतर वह तिलमिला भी रहा था। फिर मैं यह नहीं समझ पाया कि

महाराज की प्रकृत गंभीरता आज अचानक बदल कैसे गई, या वे बदले हुए दिखाई पड़ने की चेष्टा तो नहीं कर रहे थे।

मैंने वातावरण को गंभीरता प्रदान करते हुए कहा, ''अब दो व्यक्तियों से हमें और मिलना है। वे हैं—सुशर्मा और कर्ण।''

''और ये दोनों व्यक्ति इस समय हस्तिनापुर से बाहर हैं।'' दुर्योधन ने बताया—''सुशर्मा अपनी बहन के साथ काशी लौट गया। कर्ण को भी अपने राज्य से आए बहुत दिन हो गए थे। वे अंग देश चले गए।''

''पर कर्ण के बिना हस्तिनापुर वैसे ही है जैसे...''

मैं इतना ही कह पाया था कि मामा बोल पड़ा—''जैसे कृष्ण के बिना इंद्रप्रस्थ।''

''अच्छा किया कि तुमने दोनों पक्षों से 'क' अक्षर (कर्ण और कृष्ण) को ही आमने-सामने किया है।'' महाराज हँसते हुए बोले।

इस बार मामा को मौका मिला। वह अपने ऊपर किए गए व्यंग्य प्रहार का बदला निकालते हुए बोला, '' 'क' से ही एक शब्द और शुरू होता है, जो दोनों महानुभावों के लिए बड़ा उपयुक्त भी है। वह है—कलह।''

इस बार का अट्टहास काफी जोरदार था।

□

जब हम आनर्त (उत्तर-पश्चिम गुजरात) की सीमा पार कर रहे थे तब आकाश में मेघों के टुकड़े दिखाई देने लगे थे। मैंने अपने साथियों को विश्वास दिलाया कि घबराने की बात नहीं है। हम अपने राज्य की सीमा के निकट हैं और आषाढ़ लगने में कुछ दिनों की देर भी है। हम चातुर्मास द्वारका में ही करेंगे।

पर सबसे बड़ी बात थी कि आनर्त की राजधानी सौभनगर ने तो जैसे मेरे आगमन पर ध्यान ही नहीं दिया। न स्वागत, न सत्कार और न अगवानी। बात यह थी कि वहाँ का राजा शाल्व हमारा विरोधी था; फिर भी एक औपचारिकता भी होती है। उसकी प्रजा भी बड़ी उदासीन लगी। जो भी मार्ग में मिलता, सिर झुकाकर अभिवादन तो करता; पर एकदम ठंडा-ठंडा, कर्तव्य-निर्वाह जैसा। पर किसीने हमें रोककर कुशलक्षेम तक नहीं पूछा। मार्ग में मिले प्रतिहारियों की भी लगभग यही मुद्रा थी। इसीलिए राजधानी में न जाकर बाहर से ही हमने मार्ग मोड़ लिया।

सात्यकि ने टोका—''कुछ अनुभव कर रहे हैं? सारे वातावरण को एक व्यक्ति दूषित कर रहा है।''

मैं कुछ बोला नहीं। अपनी लंबी अनुपस्थिति के प्रभाव को स्पष्ट अनुभव

करता हुआ आगे बढ़ा। संध्या भी आई और बादलों के रंगीन चीथड़े फहराती हुई निकलने को भी हुई।

भैया बोल पड़े—''इस सरोवर के पास शिव मंदिर के निकट ही हमें पड़ाव डाल देना चाहिए और अपने कुछ सैनिकों को आगमन की पूर्व सूचना देने के लिए द्वारका भेज देना चाहिए।''

मैंने मुसकराते हुए कहा, ''सूचना तो पहुँच ही गई होगी। हस्तिनापुर में ठहरते ही मैंने रक्ताक्ष के नेतृत्व में कुछ सैनिक भेज दिए थे। अब मार्ग में रुकने का कोई औचित्य नहीं है। सत्राजित् का राजभवन तो अब एक योजन ही होगा। घड़ी बीतते-बीतते हम लोग वहाँ पहुँच जाएँगे।''

''तो क्या हम उनके अतिथि होंगे?'' सात्यकि ने साश्चर्य पूछा।

''इसमें हानि क्या है?'' मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, ''हमसे अप्रसन्न वे हैं, पर हम उनसे अप्रसन्न थोड़े ही हैं।''

''इतना सब होने पर भी सत्राजित् के प्रति आपकी भावना में कोई अंतर नहीं आया!'' सात्यकि बोला, ''आप साँप के बिल में हाथ डाल रहे हैं।''

''मैं कालीदह में भी कूदा था। अंतर इतना ही था कि वहाँ अनजान में कूदा था और यहाँ जानबूझकर कूद रहा हूँ।''

''पर आप इसका परिणाम जानते हैं?''

''वही होना चाहिए, जो कालीदह का हुआ था।'' मैं बड़ी गंभीरता से बोला।

वह कुछ बोला तो नहीं, पर उसी समय उसने वहाँ न ठहरने की बात मन में ठान ली।

नगर की सीमा में घुसते ही मैंने दारुक को सत्राजित् के भवन की ओर बढ़ने का निर्देश दिया और फिर पूरा दल मेरे पीछे हो लिया।

यह नगर द्वारका की बाह्य सीमा के काफी निकट है। इसीलिए मन में विचार आया कि हम इतने दिनों बाद द्वारका पहुँच रहे हैं, पर द्वारका के लोगों का उत्साह इतना ठंडा क्यों है? उन्हें तो यहाँ तक अगवानी के लिए चले आना चाहिए था। नानाजी यहीं हैं, अक्रूर चाचा यही हैं, शायद मणिभान भी यहीं हों; पर कोई दिखाई नहीं दिया। किसी-न-किसीको अवश्य आना चाहिए था।

सत्राजित् के राजभवन के बाहर भी द्वारपालों एवं कुछ सैनिकों के अतिरिक्त और कोई नहीं था। मैंने उन्हींसे महाराज के पास संदेश भिजवाया—''कहो कि कन्हैया आए हैं।''

काफी प्रतीक्षा के बाद द्वारपाल लौटा। बोला, ''महाराज अस्वस्थ हैं। शयनकक्ष में चले गए हैं। आप लोग चलें, मैं अतिथिभवन खोल देता हूँ।''

राजकीय मर्यादा को धूल-धूसरित करनेवाले इस व्यवहार की हमपर गंभीर प्रतिक्रिया हुई। सात्यकि पहले से ही मन बना चुका था। उसे मौका मिला। वह बिना कुछ कहे-सुने चला गया। निश्चित है, वह अपने राज्य की ओर गया होगा। रात्रि के द्वितीय प्रहर तक पहुँच जाएगा। भैया बहुत नाराज थे।

''सत्राजित् का यह अहं तो एक प्रहार में ठीक किया जा सकता है।''

''यह अहं उसका नहीं, उसकी स्यमंतक मणि का है। घबराइए नहीं, उसे भी देखा जाएगा।'' मेरे मुख से निकला।

पर मैंने ध्यान नहीं दिया कि उसका पुत्र भंगकार वहीं प्रहरियों के बीच खड़ा था। अचानक वह बोल उठा—''आप लोग अतिथिभवन की ओर चलने की कृपा करें।''

''अरे, तुम यहीं थे! मैंने तुम्हें देखा तक नहीं।''

''आप देखते कैसे! आपकी आँखों के सामने तो स्यमंतक मणि नाच रही थी।'' उसने बड़े बेढंगे तरीके से कहा।

भैया तो रथ से उतरकर उसे एक हाथ लगा देने वाले थे। मैंने संकेत से उन्हें रोका। उनका फनफनाया क्रोध मेरे आग्रह की पिटारी में बंद हो गया।

हम लोग चुपचाप अतिथिगृह की ओर चले। मार्ग में उद्धव ने बताया—''भंगकार अंधकार में मौन खड़ा हमारी बातें सुन रहा था। स्यमंतक मणि की चर्चा सुनते ही वह सामने आ गया।''

''इसका तात्पर्य है कि सत्राजित् का मन तो कलुषित है ही, इस समय वह आक्रामक भी है; क्योंकि आक्रामक व्यक्ति ही अपने विरोधी की हर गतिविधि के प्रति जिज्ञासु रहता है।''

हम लोग अतिथिगृह में आए। भैया, उद्धव और मुझे अलग-अलग कक्ष दिए गए। थोड़ी देर बाद भंगकार अपने चाचा प्रसेनजित् के साथ आया।

प्रसेनजित् की जबान उसके भतीजे से अधिक तेज थी—''इस रात्रि में हम आपके भोजन की क्या व्यवस्था कर सकते हैं?''

''हम लोग यहाँ भोजन करने नहीं आए हैं!'' मेरा स्वर उससे भी अधिक टेढ़ा हुआ—''मुझसे किसीने कहा कि सत्राजित् चाचाजी अस्वस्थ हैं। सोचा, मार्ग में उन्हें भी देखता चलूँ। संध्या हो चली थी। सोचा, रात्रि का विश्राम भी यहीं कर लूँ।'' मैं बातें करते-करते अपने कक्ष से बाहर आ गया था। मेरी आवाज सुनकर

अगल-बगल से उद्धव और बलराम भैया भी आ गए। मैंने अपनी आवाज और तेज की कि अन्य लोग भी सुन लें—"आप हमारे भोजन की बिलकुल चिंता न करें। हो सके तो हमारे घोड़ों को तृप्त करें। नहीं तो द्वारका के लोग क्या सोचेंगे! स्यमंतक मणि के राज्य में भी घोड़े भूखे रह गए!"

वे दोनों चुपचाप चले गए। मैंने अपने साथ आए लोगों को कहलवा दिया कि मार्ग में मिली खाद्य सामग्री जिनके पास रह गई हो, उसीको मिल-बाँटकर खा लें।

मध्य रात्रि तक मैं जागता रहा। मैंने अनुभव किया कि राजभवन की आंतरिक गतिविधि तेज हो गई है। बाहर साँय-साँय करता सन्नाटा हवा के तेज झोंकों से झकझोरा जा रहा था। वायु के इस प्रहार को मशालें बड़ी दृढ़ता के साथ झेल रही थीं; पर अचानक अतिथिगृह के उस ओर की मशाल बुझ गई, जिधर मेरा कक्ष था। फिर भी मैं सो नहीं पा रहा था। उस अंधकार में नई परिस्थितियों को झेलती द्वारका खड़ी थी। मन उसीमें उलझा था कि पीछे के द्वार से स्वर्ण पात्र में कुछ लिये एक स्त्री ने प्रवेश किया।

उस अंधकार की कालिमा को नकारती उसके वस्त्र की धवलता ही उसकी पहचान बनी। मैं तुरंत बोल पड़ा—"अरे सत्यभामा, इस समय तुम कहाँ?"

"मैंने सुना कि मेरा भगवान् आया है और वह भूखा सो रहा है।" सत्यभामा बोली, "इसीलिए मधुमिश्रित दुग्ध लेकर सेवा में उपस्थित हो गई।"

"तुम तो जानती हो, सत्यभामा, कि दूध मेरी रुचि के अनुकूल नहीं पड़ता। बचपन से ही मेरी माँ का यही उलाहना रहा है कि मैं दूध नहीं पीता।"

"पर यह केवल दूध ही नहीं है, इसे देखो तो।"

उसकी आवाज में आग्रह की ऐसी मृदुता थी कि मैंने पात्र पकड़ लिया। मैं बोला, "देखूँ, ऐसी कौन सी वस्तु घुली है इस दूध में!"

"कुछ दिखाई पड़ा आपको?" सत्यभामा बोली, "जो वस्तु है, वह अँधेरे में भी देखी जा सकती है; क्योंकि उसमें आपका प्रकाश है। एक प्रेम-विह्वल पथराई आँखों की प्रतीक्षा है, एक व्याकुल मन के रंगीन सपने हैं और है एक समर्पित हृदय की असमर्थ हताशा।" इतना कहते-कहते वह एकदम मेरी शय्या पर बैठ गई और लगी मेरी बाँह सहलाने।

दिन भर की तपन के बाद यह बादलोंवाली रात थी। रह-रहकर मचल उठते थे शीतल हवा के झोंके।...और फिर सत्यभामा का यह मादक स्पर्श कैसा लग रहा था, सो कैसे बताऊँ!

मैं अपने हाथ में दुग्ध पात्र लिये सत्यभामा को ही देख रहा था। वह पहले से अब अधिक दिखाई दे रही थी। उसको देखने में अँधेरा कहीं से भी बाधक नहीं हो रहा था। उसकी आकृति पर ऊपर से जड़ी दो बड़ी-बड़ी आँखों की आकर्षक नीली झील में मैं डूबने लगा था।

उसने झकझोरा—"क्या देख रहे हो? दूध पीयो।"

"दूध तो पीने को बहुत मिला है।" मैंने कहा, "पर तुम बहुत दिनों के बाद आज देखने को मिली हो।"

"पर मुझे तो तुम रोज दिखाई पड़ते थे।" उसने कहा, "हर सुबह-शाम जब मैं तुम्हारी प्रतिमा के सामने नवनीत का भोग लगाती थी, तब तुम मुझमें ऐसे झाँकते दिखाई देते थे कि मैं तुममें खोने लगती थी।"

"मैं भी इस समय तुममें खोने लगा हूँ।"

"तुम्हारे लिए यह सहज नहीं है।"

"क्यों?"

"क्योंकि बिंदु सिंधु में समा सकता है, पर सिंधु बिंदु में समा नहीं सकता।" सत्यभामा भावविभोर थी—"और जब सिंधु बिंदु में समाएगा तब तो सारी मर्यादाएँ मिट जाएँगी। जब आकाश ही आँगन में उतर आएगा तब सभी दीवारें गिर जाएँगी।" इसके बाद अतिथिभवन में किसीके आने की आहट लगी। वह एकदम सचेत हुई। द्वार की ओर लपकी।

मैं भी दूध पीने लगा।

लौटकर उसने सूचना दी—"कोई दिखाई नहीं दिया।"

"जब आकाश आँगन में उतरता है तब भी कोई दिखाई नहीं देता।" मैंने कहा। वह मुसकराई और मैं भी हँसा; पर खुलकर नहीं।

इसके बाद वह गंभीर हुई। उसने बड़ी वेदना से कहा, "पर अब मेरे प्रेम के आँगन में आकाश नहीं उतरेगा। उसमें दीवारें खड़ी की जा रही हैं। उसमें नया निर्माण होने वाला है।" उसने बताया—"पिताजी (सत्राजित्) मेरा विवाह युयुधान (सात्यकि) से करना चाहते हैं।"

"सात्यकि से?" मैंने साश्चर्य पूछा।

उसने स्वीकृति में सिर हिलाया।

अब मुझे याद आया कि सात्यकि सत्राजित् की बातें बताते-बताते बीच में रुक गया था। और जब मैंने जोर देकर पूछा था तब उसकी आँखों में लज्जा के बादल उतर आए थे।

"तो तुम वाग्दत्ता हो चुकी हो?"

"नहीं, मैंने अपनी ओर से कोई वचन नहीं दिया है। न सात्यकि को कभी मैंने इस दृष्टि से ही देखा है। सात्यकि ने भी पिताजी के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया है; पर उनकी धमकी और आतंक के कारण वे 'नहीं' नहीं कर पाए हैं।"

"तो तुम्हारे पिताजी का बड़ा आतंक है आजकल!"

"क्या इसका अनुभव आपको नहीं हुआ?" सत्यभामा बोली, "राज्य में किसीने आपकी आवभगत क्या, खुलकर प्रणाम तक नहीं किया होगा। यह सब उनके आतंक का ही प्रभाव है। वह आपको अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं।"

"यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वे मुझे अपने शत्रुओं में बड़ा स्थान देते हैं।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "मैं आज तक समझ नहीं पाया कि वे मुझे अपना शत्रु क्यों समझते हैं! मैं कभी उनके मार्ग में बाधक तो नहीं बना।"

"हो सकता है, उनका अहं ही आपको बाधक समझता हो; क्योंकि अब वे पश्चिमी आर्यावर्त्त में अपने समान किसीको नहीं समझते। उनके अहं ने महाराज कृतवर्मन को भी नाराज कर दिया। अब उनसे भी ठन गई है।"

इसके बाद वह जाने को हुई; क्योंकि उसने मेरे कक्ष के वातायन से कुछ देखा। राजभवन के मुख्य द्वार पर जलती मशाल पर स्पष्ट दिखाई दिया कि प्रसेन चाचा निकल रहे हैं। इतनी रात को उनके निकलने का प्रयोजन क्या? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य है। अब उसका रुकना सुरक्षित नहीं था। वह चुपचाप पिछले द्वार से निकल गई।

प्रसेनजित् क्यों आ रहा है? जिज्ञासा तो मेरी भी बढ़ी। स्थिति को देखते हुए मैं पहले से सजग था, अब और भी सजग हुआ; पर शय्या पर ही चुपचाप पड़ा रहा। आँखें खोलता और बंद करता रहा। थोड़ी देर बाद ऐसा लगा कि अतिथिभवन की ओर कोई आ रहा है।

कुछ ही समय में प्रसेनजित् मेरे द्वार पर आ गया। बाहर से ही वह अनुमान लगाने लगा कि मैं सो रहा हूँ या जाग रहा हूँ। मैंने अपने कृत्रिम खर्राटे और तेज कर दिए। उसे पूरा भान हो गया कि मैं गहरी नींद में हूँ। तब वह धीरे-धीरे मेरे कक्ष में घुसा। अब मैं और भी सजग हुआ; क्योंकि यह जगद्विदित था कि वह अपने भाई से भी अधिक दुष्ट है। कुछ भी कर सकता है। सोए में प्रहार करना भी उसके लिए असंभव नहीं।

अँधेरा था। ऐसे में मैंने अपनी आँखें आधी खोल ली थीं और बराबर उसपर दृष्टि लगाए रहा। वह मेरे अस्त्र-शस्त्रों के पास गया। उन्हें उठाया भी। मैं

और चौकन्ना हुआ। वह मेरी हर वस्तु को उठाता, देखता और रख देता था; जैसे कुछ खोज रहा हो और वह उसे मिल न रही हो। वह बीच-बीच में मुझे भी देखता जाता था कि कहीं मैं जाग तो नहीं रहा हूँ। इसी बीच मैंने थोड़ा कनमनाने का अभिनय किया। वह झट द्वार की बगल में चिपक गया। और जब मैंने फिर खर्राटे लेना शुरू किया तो वह द्वार के आगे आया।

एक बार मेरे पर्यंक के निकट आकर भी बड़े ध्यान से मुझे देखता रहा। फिर चुपचाप जाकर मेरा मोर मुकुट उठाया और उसमें लगी एक मणि को नोचने लगा। वह आसानी से निकलने वाली न थी। उसने अपनी कटार निकाली और उसके तार को काटकर उसे निकाल लिया।

मैं कुछ बोला नहीं और न कनमनाया। केवल देखता रहा कि यह क्या करता है। वह उस मणि को लेकर मेरे कक्ष से चला गया। मुझे आश्चर्य था कि आखिर वह उस मणि का क्या करेगा?

कुछ समय तक मैं उसके बारे में ही सोचता रहा, फिर सो गया।

सवेरा हुआ। आँख खुलते ही मैंने देखा, चाँदी की तश्तरी में नवनीत लिये सत्यभामा बैठी है। मेरे अँगड़ाई लेते ही वह बोल पड़ी—''मैंने आपको जगाना उचित नहीं समझा। पता नहीं आपको कब नींद लगी हो!''

''नींद लगती कैसे! वह तो तुम्हारे साथ चली गई थी।'' मैंने कहा।

''पर जब से मैं देख रही हूँ तब से आप खर्राटे ही भर रहे हैं!'' वह हँसते हुए बोली।

''नींद तुम्हारे यहाँ से कब लौट आई, पता नहीं।'' मैंने भी हँसते हुए कहा, ''मैं उसका केवल जाना जानता हूँ, आना नहीं।''

इस बीच अतिथिभवन में कोलाहल हुआ। कोलाहल तो पहले भी हो रहा था, पर इस समय कुछ और ही बढ़ गया था। इस संबंध में मैंने पहली जिज्ञासा सत्यभामा से की।

उसने बताया—''जो जलपान भेजा गया है, वह मनुष्यों के खाने योग्य नहीं है। यह सबकुछ पिताजी आप लोगों का अपमान करने के लिए ही कर रहे हैं।''

उसने यह भी कहा, ''अच्छा हो, आप लोग यह स्थान यथाशीघ्र छोड़ दें; क्योंकि उनका पागलपन कुछ भी कर सकता है।''

मैंने जरा भी गंभीरता अपनी आकृति पर आने नहीं दी। सत्यभामा को सुनते हुए भी मुसकराता रहा। फिर नवनीत लेकर अपने कक्ष से बाहर निकलने को हुआ।

सत्यभामा ने मुझे रोकना चाहा—''अभी मुझे आपसे कुछ कहना है।''

''मैंने सारी बातें सुन ली हैं।''

''पर मैंने बहुत कुछ अभी आपसे नहीं कहा है।''

''जो तुमने स्वयं नहीं कहा है, वह कल चले जाने के बाद तुम्हारी रिक्तता ने कह दिया है।'' मैंने कहा और नवनीत की रजत थाली लेकर बाहर निकल आया।

बाहर लोग मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। भैया मुझे देखते ही बरस पड़े—''मैं कह रहा था कि उस नीच के यहाँ नहीं चलना चाहिए!''

''अच्छा हुआ कि सात्यकि एक क्षण के लिए भी नहीं रुका।'' उद्धव बोला।

वास्तव में उसने बासी पकवान हमारे जलपान के लिए भेजा था। उनमें से कुछ में दुर्गंध आ रही थी।

''यह भूल से आप लोगों के यहाँ आ गया है।'' मैंने अपनी थाली छंदक को थमाते हुए कहा, ''इसमें से थोड़ा-थोड़ा सबको बाँट दो।''

''इतना नवनीत कितने लोगों को बाँटा जाएगा?'' छंदक बोला।

मैंने कुछ संकेतों से और कुछ शब्दों के सहारे उससे कहा कि जितने अधिक-से-अधिक लोगों को संतुष्ट कर सको, करो। विवाद मत बढ़ाओ।

मैंने भैया को शांत करते हुए कहा, ''हमने कल ही भंगकार से कहा था कि हमें कुछ नहीं चाहिए। यदि आप संतुष्ट कर सकें तो हमारे अश्वों को संतुष्ट कर दें। इस समय यह भोजन भी अश्वों का ही है, जो भूल से हमारे पास भेज दिया गया है। निश्चित ही इसमें परिचरों से गलती हुई है।''

''जब चंद्रमा को लोग पाते नहीं तब चाँदनी को ही कोसते हैं।'' इस बार रक्ताक्ष बोला, पर धीरे से—''यह विचित्र रोग आज की राजनीति को लग गया है कि गलती बड़े लोग करें और अपयश परिचरों के सिर मढ़ा जाए।''

छंदक जोर से हँसा। मैं भी हँसा और फिर अन्य लोग भी। तनाव ढीला पड़ा। तब मैंने पुन: समझाया—''अब आप ही सोचें, महाराज अस्वस्थ हैं। हम अचानक आ धमके हैं। इस संबंध में अपनी असमर्थता भी राजकुमार व्यक्त कर गए हैं। इसलिए इन सब छोटी-छोटी बातों पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए।''

''लगता है, महाराज के स्वास्थ्य-लाभ की प्रार्थना के लिए भोजनालय भी बंद कर दिया गया है।'' भैया बोले और फिर जोर से लोग हँस पड़े।

''यह सबकुछ और नहीं, हमारा अपमान करने के लिए ऐसा किया गया है, जिससे हम क्रुद्ध हों और कुछ कर बैठें।''

"यदि यह बात है, तब तो हमारे क्रुद्ध होने से महाराज की इच्छा पूरी हो जाएगी। ऐसी स्थिति में हमें शांतभाव से सबकुछ सहना चाहिए।" मैंने कहा।

"अपमान भी?" छंदक बोला।

"अच्छा, एक बात बताओ, जब शत्रु का बाण सिर की ओर आ रहा हो तो क्या करना चाहिए?"

"सिर झुका लेना चाहिए।"

"तो सिर झुका लेना भी हमारी नीति का एक अंग है।" मैंने कहा और लोग चुप हो गए।

अब तक खड़े मेरे सारथि दारुक ने एकदम संदर्भ ही बदल दिया—"मध्य रात्रि के बाद महाराज के छोटे भाई प्रसेनजित् आए थे और हर कक्ष में ध्यान से झाँकते जा रहे थे।"

जिस बात को अब तक मैं छिपाए बैठा था, वह लगभग खुल गई थी।

"यह तुम्हें कैसे मालूम?" मैंने प्रश्न किया।

"मैंने उन्हें देखा था। उस समय तक मैं सोया नहीं था। फिर तो और भी नींद नहीं आई; क्योंकि मुझे उनकी मंशा कुछ ठीक दिखाई नहीं पड़ी। वह आपके कक्ष में भी गए थे। यदि वह थोड़ी देर भीतर और रहते, तब तो मैं शोर मचा देता। जाग हो जाती।" दारुक ने बताया।

"रही होगी कोई बात।" मैंने बड़े सहजभाव से लिया और इस तथ्य को भी सिर के ऊपर से साफ निकल जाने दिया।

मैंने कहा, "हमें इन सब बातों को छोड़कर प्रस्थान की तैयारी करनी चाहिए।"

इतना कहकर मैं अपने कक्ष में आया। सोकर उठने के बाद अभी तक मैं नित्यकर्म से निवृत्त भी नहीं हुआ था। हमें शीघ्र चलना था। मैं अपनी तैयारी में लगा; पर रह-रहकर मुझे प्रसेन की याद आ रही थी। मेरी दृष्टि अपने मुकुट की ओर जा रही थी। 'इसमें इतनी मणियाँ थीं, कई तो बहुमूल्य भी हैं; पर वह इतनी कम मूल्यवाली मणि ही क्यों ले गया—और वह भी एकदम किनारे से, जिससे मुझे पता भी न चले।'

मैं सोचता रहा, 'चोरी तो उसका उद्‌देश्य हो नहीं सकता। फिर उसका उद्‌देश्य क्या था?' मस्तिष्क इसी उधेड़बुन में था और तन शीघ्र प्रस्थान करने की तैयारी में लगा। उधर सेना भी तैयार होकर प्रांगण में एकत्र होने लगी। मन में आया, चलने के पूर्व महाराज से मिलकर क्यों नहीं उनके स्वास्थ्य का समाचार लूँ;

क्योंकि परिस्थिति भी यही कह रही है और नीति तथा राजनीति भी। मैंने अपनी इच्छा भाइयों और मित्रों के समक्ष व्यक्त की।

भैया तो एकदम भड़क उठे—"जिसके किसी व्यक्ति ने हमसे मिलने का सौजन्य नहीं दिखाया, उससे हमारे मिलने का औचित्य क्या? आज प्रात: एक मामूली-सा कर्मचारी जलपान लेकर आया था। लगता है, वातापति, भंगकार, प्रसेन सभी ने शय्या पकड़ ली है। पूरा-का-पूरा अमात्य मंडल अस्वस्थ हो गया है।"

मैंने देखा, अन्य लोग भी भैया के मत के हैं। तब मैंने कहा, "भाई, उनकी अकर्मण्यता उनके साथ; पर हमारा भी तो कोई धर्म है! उनसे मिलकर चलने में क्या हानि है? आखिर वे हमारे आतिथेय हैं।"

"कैसा उसका आतिथेय जी, जिसने मुझे अतिथि भी नहीं समझा!" भैया और भभके—"हमें शीघ्र द्वारका पहुँचकर तुम्हारे महाराज की अस्वस्थता की उचित ओषधि ढूँढ़नी चाहिए।"

मैं बड़ी विचित्र स्थिति में पड़ा। मेरा मन कहता था कि अवश्य मिलूँ। बहुत सी बातें खुलेंगी, बहुत सा अनजाना जानने में आएगा; पर भैया और मित्रों का दबाव इसके विपरीत था।

मैंने बड़ी विनम्रता से कहा, "आप लोगों का सोचना ठीक है। यदि भैया नाराज हैं तो मैं अपनी औपचारिकता का निर्वाह कर तुरंत चला आऊँगा।"

लोग चुप हो गए और मैं औपचारिकता के निर्वाह के लिए राजभवन की ओर चल पड़ा। छंदक ने कहा, "आप अपने साथ किसीको ले लीजिए। अकेले मत जाइए।"

दारुक ने भी उसकी बातों का समर्थन किया—"आपका अकेले जाना निरापद नहीं है।"

मैंने पहले रक्ताक्ष को लिया। फिर उसे रोककर उद्धव मेरे साथ हो लिया। हम राजभवन में बिना किसी औपचारिकता का निर्वाह किए धड़ल्ले से घुसते चले गए। कुछ परिचर अवश्य मेरे साथ हो गए। यह अच्छा ही हुआ; क्योंकि राजभवन भीतर से मेरा अधिक जाना-बूझा नहीं था।

मेरे पहुँचने की सूचना से ही राजभवन आंदोलित हो उठा। सबसे पहले दौड़ी सत्यभामा आई। उसने कहा, "अरे, आप यहाँ कैसे?"

"क्यों? मेरा आना यहाँ वर्जित है क्या?"

"वर्जित तो नहीं है, पर आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया?" उसके

पीछे भागते आए भंगकार ने कहा।

"क्यों? मेरे सत्राजित् चाचा अस्वस्थ हैं, मैं उनका हाल-चाल भी न लूँ? उनके आशीर्वाद से भी वंचित रह जाऊँ?" मैंने कहा, "यदि मैं चुपचाप चला जाता तो मेरी आत्मा मुझे कभी क्षमा न करती।"

"पर पिताजी शायद आपसे न मिलें।" भंगकार ने कहा।

"किंतु मैं तो उनसे मिलूँगा। कहाँ है उनका कक्ष?" मैंने पूछा और वह बाईं ओर संकेत कर वहीं रह गया। उसने भी मेरे साथ चलना उचित नहीं समझा। उद्धव एकदम छाया की तरह मेरे पीछे लगा रहा।

द्वार के बाहर से ही मुझे सत्राजित् की आवाज सुनाई पड़ी—"अब मैं उस दुष्ट को मजा चखाऊँगा! द्वारकाधीश बनता है! आर्यावर्त्त में भगवान् की तरह पुजवाता है। अरे, ऐंद्रजालिक है, ऐंद्रजालिक! तरह-तरह के चमत्कार दिखाकर मूर्खों पर प्रभाव जमाता है। इस बार ही तो उसे पता चलेगा। पूरे आर्यावर्त्त में उसे बदनाम कर दूँगा कि वह लुटेरा है, चोर है, कायर है, भग्गू है! जहाँ संकट आता है, भाग खड़ा होता है। मथुरा की निरीह जनता को छोड़कर भाग आया। हम दो-चार लोग अगर एक हो जाएँ तो उसे द्वारका से भी भगाया जा सकता है।"

हम द्वार पर खड़े सुनते रहे। उद्धव ने मेरा हाथ पकड़कर लौट चलने का इशारा किया। मैंने मुसकराकर उसकी ओर देखा। वह शांत हो गया। इच्छा हो गई कि मैं द्वार के छिद्र से देखूँ कि भीतर और कोई है या वह स्वत: बड़बड़ा रहा है।

मैंने देखा कि वह अकेले तेजी से टहलते हुए बड़बड़ा रहा था। एकदम विक्षिप्तों जैसा। मैं बराबर देखता रहा।

"इस समय यदि वह पापी मिलता तो मैं उसका गला दबा देता!"

मैंने सोचा, अवसर अच्छा है। धीरे से भीतर घुसा। उद्धव को द्वार पर ही रोक रखा और चुपचाप उसके पीछे खड़े होकर बोला, "चाचाजी, प्रणाम।"

वह अचानक मुझे देखकर चौंक पड़ा।

"अरे, आप इतना चौंकते क्यों हैं?" मैंने कहा, "आप इतनी देर से जिसके लिए व्यग्र थे, वह आपके सामने है। है न यह इंद्रजाल!" फिर मैं मायावी हँसी हँसा। वह एकटक मुझे देखता रह गया। उसका सारा आक्रोश विस्मय में बदल गया।

"मैंने सोचा, आप अस्वस्थ हैं, रुग्ण हैं, शय्याशायी हैं; उठ नहीं सकते। आपको देखने चला आया।" मैंने कहा, "सोचा, लौटते समय आपका आशीर्वाद भी लेता चलूँ।"

"मैं क्यों रुग्ण होऊँ! रुग्ण हों तुम्हारे पिता, तुम्हारी माता।" उसका बड़बड़ाना और बढ़ा—"मैं क्या अस्वस्थ लगता हूँ? मैं अभी भी तुम्हारी ग्रीवा मसल सकता हूँ।" वह बड़े झटके से मेरी ओर बढ़ा और मैं एकदम पीछे हट गया। उसका वेग मेरी रिक्तता को सँभाल नहीं पाया और वह एकदम धरती पर गिर गया। इस धर-पकड़ में उद्धव भी भीतर घुस आया।

मैंने उसे उठाते हुए कहा, "आप रुग्ण अवश्य हैं। तन से भले ही न हों, मन से तो हैं ही।"

"इसका तात्पर्य है कि मैं पागल हूँ, विक्षिप्त हूँ!" वह जोर से चिल्लाया और सचमुच मेरी गरदन पकड़ ली। मैंने उसे गहरा धक्का दिया। मेरा मुकुट भूमि पर गिर गया और वह अपने पर्यंक पर गिरा। उसके सिर का पिछला भाग पर्यंक के सिरहाने से टकराया। वह इतना तेज गिरा था कि अचेत हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि इसके बाद फिर उसकी आवाज सुनाई नहीं पड़ी।

मैं झंझा के प्रखर झोंके-सा बाहर निकला और उसी वेग से चल पड़ा। उद्धव अब भी मेरे पीछे-पीछे था।

राजभवन से बाहर आकर मैं सीधे अतिथिगृह में आया। तैयारी पहले से ही थी। आनन-फानन में चल पड़ा।

भैया ने व्यंग्य भी किया—"आशीर्वाद ले आए अपने चाचा का!"

मैं गंभीर था, गंभीर ही रहा। शायद उद्धव ने भी किसीसे कुछ नहीं कहा।

मैंने मुड़कर राजभवन की ओर देखा। केवल एक बार देखा। अलिंद पर खड़ी सत्यभामा बड़े ध्यान से मुझे देख रही थी। मैंने अनुभव किया कि उसकी आँखें बहुत दूर तक मुझसे चिपकी चली आ रही हैं।

□

वहाँ से हम लोग सीधे सात्यकि के यहाँ आए। वह हमारी प्रतीक्षा ही कर रहा था। वह मुझे देखते ही हँसते हुए बोला, "मैं जानता था कि आप लोग भूखे होंगे, इसलिए मैंने पर्याप्त भोजन की व्यवस्था कर रखी है।"

"तुम सचमुच अंतर्यामी हो।" मैंने हँसते हुए कहा, "तुमने हम सबके मन की बात जान ली।"

"मुझमें भला आप लोगों के मन की बात जानने की शक्ति कहाँ!" सात्यकि बोला, "पर मैं सत्राजित् को अवश्य जानता हूँ। इतनी बार तो मैं गया हूँ; पर कभी उसने जलपान तक को तो पूछा नहीं।"

"फिर वह इतना कंजूस कैसे है? उसके पास तो सूर्य उपासना से मिली

स्यमंतक मणि है, जिसमें पारस मणि के भी गुण हैं। वह उससे जितना चाहे, सोना बना सकता है।''

''इससे क्या होता है! वह प्रकृत्या कृपण है। उसके राज्य में अकाल पड़ता है और वह मणि का ही पूजन करता रहता है।'' सात्यकि बोला, ''आपने पांडवों के कोष में देने के संदर्भ में उससे बात की?''

मैं मौन ही रहा।

उद्धव अवश्य बोला, ''वे बात करने की स्थिति में नहीं थे।''

''क्यों? क्या बात हुई?''

''वे हम लोगों को विक्षिप्त-से लगे।'' उद्धव ही बोला।

''आप लोगों को देखकर वह विक्षिप्त हो गया होगा।'' सात्यकि ने कहा, ''मैंने कई बार अनुभव किया है कि कन्हैया का नाम लेते ही उसे विक्षिप्तता का दौरा पड़ता है। इसके पीछे रहस्य क्या है, यह बहुतों की जिज्ञासा का विषय है।''

''तुम अपनी जिज्ञासा बहुतों पर क्यों मढ़ रहे हो?'' मैंने कहा।

''एक दिन पिताजी भी इसी संबंध में बातें कर रहे थे।''

''अच्छी बात है, तो मैं चाचाजी के सामने ही इस रहस्य का उद्‍घाटन करूँगा।''

हम लोग मध्याह्न के पूर्व ही दशार्ण पहुँच गए थे। यहाँ से द्वारका की सीमा कुछ योजन ही रह जाती है। सात्यकि ने हम लोगों की बड़ी आवभगत की। वस्तुत: वह पहले से ही तैयार था। हमारे अश्वों के लिए उसने कल रात को ही चने भिगवा रखे थे। सैनिकों के अश्व पहले छोड़े गए और बाद में रथों को। सभी खाकर तृप्त हुए। उधर राजभवन में हम सबके लिए जलपान की व्यवस्था थी।

''पर अब तो भोजन का समय हो रहा है।'' बलराम भैया ने कहा।

''आज भैया तो भीमसेन की तरह बोल रहे हैं!'' उद्धव ने परिहास किया।

''आखिर वह भी तो इन्हींका शिष्य है।'' मैंने उस परिहास पर एक परत और चढ़ाई।

जोर की हँसी हुई।

जलपान शुरू होते-होते सत्यक चाचा भी आ गए। उन्हें पूजन में पूरे दो घड़ी लगती थी। आते ही उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से हम सबका अभिवादन स्वीकार किया। हमें आशीर्वाद दिया और आकर हमारी ही बगल में बैठ गए।

''अब तो आप रहस्य का उद्‍घाटन करेंगे ही।'' सात्यकि बोला और मेरे तथा सत्राजित् के विरोध के संदर्भ को पुनः छेड़ा।

"आश्चर्य है कि इस संदर्भ को तुम नहीं जानते।" मैंने कहा, "जबकि दो-चार व्यक्ति जो मेरे सबसे निकट हैं, उनमें एक तुम हो।" मैंने कहा और कथा आरंभ से शुरू की—"कंस मामा का वध हो चुका था। नानाजी को कारागार से निकाला गया। वे अत्यंत जीर्ण थे। तन पीला पड़ गया था। कुछ वर्षों तक उन्हें काल कोठरी में रखा गया। सूर्य के दर्शन तक नहीं हुए। एक तो बढ़ती वय की मार और दूसरे यह स्थिति। शरीर एकदम टूट चुका था। यदि नानाजी को कारागार से शीघ्र निकाला न जाता तो उनका शरीर टूट जाता। शायद मामाजी ऐसा चाहते भी थे।"

जलपान चलता रहा और मेरी कथा आगे बढ़ती रही—"मैंने ज्योतिषियों और वैद्यों को उन्हें दिखाया। सबकी सलाह थी कि इनके लिए ओषधि बहुत लाभकारी सिद्ध नहीं होगी। इन्हें सूर्य की आराधना करनी चाहिए। इसी क्रम में किसीने कहा कि सूर्योदय के समय सूर्य के सामने सूर्यमणि को रखकर इन्हें उपासना करनी चाहिए। एक तो सूर्योदय के समय के सूर्य का प्रकाश तथा दूसरे उस मणि से पर्यावर्तित होती किरणों का शरीर पर चमत्कारी प्रभाव पड़ेगा और ये कुछ दिनों में एकदम स्वस्थ हो जाएँगे।

"अब प्रश्न था कि वह सूर्यमणि कहाँ से लाई जाए? तब किसीने बताया, पर मुझे ठीक याद नहीं है कि यह किसने कहा था कि सत्राजित् के पास एक स्यमंतक मणि है। वह सूर्य आराधना से प्राप्त एक सिद्ध मणि है। उसमें संपत्ति और स्वास्थ्य दोनों प्रदान करने की क्षमता है। यदि वह कुछ दिनों के लिए प्राप्त हो जाए तो आपके नानाजी शीघ्र नीरोग हो सकते हैं।"

मैं कहता गया—"उस समय मैं नानाजी को लेकर काफी चिंतित था और कुछ भी कर सकता था; पर मेरा परिचय सत्राजित् से नहीं था। मैंने सत्राजित् और मणि की चर्चा नानाजी से की। उन्होंने ही बताया कि वह मेरा पूर्व परिचित है। वृष्णि कुल का ही यादव है। मेरा नाम लेकर ही तुम कुछ दिनों के लिए यदि उस मणि को उधार माँगोगे तो वह शायद दे दे।

"फिर क्या था, मैं यथाशीघ्र सत्राजित् से मिलने चल पड़ा। पहले तो वह मुझसे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला, 'उग्रसेनजी को मैं याद हूँ, यह मेरा सौभाग्य है।' पर जब मैंने अपना प्रयोजन बताया तो वह एकदम आगबबूला हो गया; जैसे मैं किसी सर्पराज की मणि छीनने आया हूँ।"

"सचमुच तुमने सर्पराज की मणि पर ही हाथ लगा दिया था।" सत्यक चाचा हँसते हुए बोले, "तब तो वह एकदम फुफकार उठा होगा।"

"अरे, कुछ मत पूछिए।" मैंने कहा, "सत्राजित् तो जैसे विक्षिप्त हो गया। बोला, 'तुम्हारा साहस कैसे हुआ कि तुम मणि लेने चले आए? जानते हो, वह मेरा प्राण है। उसे माँगनेवाले को मैं अपना प्राणहर्ता मानता हूँ—अर्थात् शत्रु, परम शत्रु। यदि तुम उग्रसेन के नाती न होते तो मैं तुम्हारा इसी समय वध कर देता।' "

"तब आपने क्या कहा?" इस बार सात्यकि बोला।

"तो मैं क्या कहता! चुपचाप चला आया।" मैंने कहा।

"उसने इतना कुछ कहा और आपने कुछ नहीं कहा?"

"मैं होता तो उसका वध कर देता।" बलराम भैया बोले।

"पर मेरे लिए वह वध्य नहीं था। उसने ऐसा कुछ नहीं कहा था कि उसे मारा जाता।" मैंने कहा, "यदि कोई अपनी वस्तु न देना चाहे तो मैं क्या करूँगा! फिर वह उसकी सूर्य तपस्या का फल था। किसीकी तपस्या के फल के लिए उसका वध कर देना सरासर पाप है। फिर मैं कोई डाकू या लुटेरा तो हूँ नहीं।"

"पर चोर तो हो ही।" भैया बोले, "तुम्हारी चोरी तो माँ यशोदा खूब जानती थी।"

सब हँस पड़े।

फिर मैंने बताया—"वह तब से मुझसे नाराज है; वरन् नाराज ही नहीं, वह मुझे अपना शत्रु समझता है। वह सबसे कहता है कि कन्हैया इस मणि के लिए मेरी जान भी ले सकता है।"

"तुमने अपने नानाजी से सारी बातें नहीं कहीं?" सत्यक चाचाजी ने पूछा।

"कहा न! मैंने बताया, तब वे बोले, 'वह मूर्ख है। मणि पाते ही उसका मस्तिष्क खराब हो गया है।'

"इसके बाद उन्होंने सूर्योपासना आरंभ की। उगते हुए सूर्य के समक्ष घंटों बैठकर आराधना करते रहे। ओषधि भी चलती रही। शीघ्र लाभ दिखाई दिया। मथुरा से द्वारका आते समय मार्ग में भी उन्होंने अपना उपासना क्रम नहीं छोड़ा। द्वारका आते समय तो उनका स्वास्थ्य लगभग सामान्य था; पर अब कैसे हैं, पता नहीं।"

"अब भी वे ठीक ही हैं।" सत्यक चाचा बोले, "तुम्हारे चले जाने से वे दुःखी अवश्य रहते हैं; पर यह भी कहते हैं कि मेरे लिए तो वह एक है और उसके लिए तो पूरा संसार है।...और वही उसकी समस्या है।"

मैं कुछ बोल नहीं पाया। मैंने बातों का क्रम ही बदल दिया।

"मुझसे अप्रसन्न रहने का तो कारण है, पर सत्राजित् आपसे क्यों अप्रसन्न रहता है?" मैंने सत्यक चाचा से पूछा।

“वह अपनी बेटी का विवाह तुम्हारे मित्र सात्यकि से करना चाहता है। इसके लिए उसने कई बार प्रस्ताव भेजा। मुझे बुलाया भी और डराया-धमकाया भी।”

“डराया-धमकाया! उसका इतना मन बढ़ गया है!” मैंने कहा।

“इस समय वह अहं का हिमालय है। किसीको कुछ समझता थोड़े ही है।” सत्यक बोले, “तुम्हारे न रहने पर वह स्वयं को ही द्वारकाधीश कहने लगा है।” उन्होंने कुछ रुककर बड़ी गंभीरता से कहा, “तुम्हें भी उससे सावधान रहना चाहिए। उसकी दृष्टि पर तुम्हीं हो। वह कभी भी कुछ भी कर सकता है। उसका छोटा भाई प्रसेन तो उससे भी बढ़कर है। यद्यपि दोनों जुड़वे भाई हैं। दोनों का लग्न एक ही है। हमें तो किसीकी दुष्टता कम दिखाई नहीं देती।”

“उन लोगों के दुष्ट होने से क्या होता है; पर सत्यभामा तो बड़ी सरल और सुंदर भी है।” मैंने कहा, “आपको उनका प्रस्ताव मान लेना चाहिए और सात्यकि का विवाह उससे कर देना चाहिए।”

मेरे इतना कहते ही सात्यकि वहाँ से उठकर चला गया।

“कैसे करता! एक तो वह सगोत्रीय है। फिर विवाह समान स्तर के लोगों में करना चाहिए। इस समय वह आकाश पर है और मैं धरती पर।”

“कभी-कभी असमान स्तर का विवाह भी समानताजनक हो जाता है।” मैंने कहा और मुसकराया—“आकाश पर रहनेवाले की अंतिम परिणति धरती पर आना ही है।”

“एक बार मैंने भी ऐसा ही सोचा और विवाह स्वीकार करने का निश्चय भी किया; पर तुम्हारा मित्र स्वयं बाधक हुआ। बोला, ‘सत्यभामा से मैं विवाह नहीं करूँगा।’ ”

“क्यों?”

“इसका कारण तो वही बता सकता है।” सत्यक चाचा बोले।

पर सात्यकि तो वहाँ से पहले ही जा चुका था। बातों का क्रम भी उसीकी खोज में चला गया।

ज्यों-ज्यों गंतव्य निकट आता है, उसकी ओर खिंचाव बढ़ता जाता है। अब द्वारका मुझे पहले से अधिक खींच रही थी। हम अपनी राज्य सीमा से कुछ ही दूर रह गए थे। सोचा, भोजन के बाद ही चल पड़ूँगा; पर सत्यक चाचा की आत्मीयता मुझे छोड़ने को तैयार न थी। अभी तो वहाँ की जनता ही मेरे दर्शन को आतुर थी। इतने दिनों बाद यहाँ आया था। फिर चाचा का आग्रह टालने का मुझमें साहस नहीं था। वे बहुत भले आदमी थे और मेरा बड़ा खयाल रखते थे। बातों के क्रम में

उन्होंने इसका संकेत तक नहीं किया कि पांडवों को देनेवाली राशि में सत्राजित् के अंश को मैंने ही अपने कोष से दिया है। यह भी उनकी महानता थी। फिर मैं उनके आतिथ्य को अस्वीकार कैसे करता।

अंत में मैंने आज चलने का विचार छोड़ दिया। भोजन के बाद विश्राम किया और संध्या को हम टहलने निकले—बिना किसी पूर्व घोषणा और कार्यक्रम के। दशार्ण के हर व्यक्ति का स्वागत-अभिवादन स्वीकार किया। मैं केवल एक औपचारिकता का निर्वाह ही कर रहा था; क्योंकि मन द्वारका में चला गया था। केवल तन था, जो यंत्रवत् अपना काम करता रहा।

अपने विवाह की चर्चा के बाद सात्यकि मुझसे कुछ कटा-कटा-सा दिखा; पर रात्रिभोज पर मैंने उसे घेरा और कहा कि इसके बाद मेरे कक्ष में मिलो। वह समझ गया। एक सलज्ज मुसकराहट उसके अधरों के बीच उगी। फिर भी उसने एक छोटे भाई की तरह मेरे आदेश का पालन किया।

मैं सोने जा ही रहा था कि वह मेरे कक्ष में आया।

मैंने उससे आते ही पूछा, "क्या तुम्हें सत्यभामा अच्छी नहीं लगी?"

"अच्छी तो बहुत लगी।"

"तब तुमने उससे विवाह करने से इनकार क्यों कर दिया?"

"क्योंकि मैं दूसरे की वस्तु पर अधिकार जमाना नहीं चाहता।" उसने मुसकराते हुए मेरी ही कही बात दुहराई—"मैं कोई चोर या डाकू थोड़े ही हूँ।"

मुझे भी हँसी आ गई। पर मैं उसकी पूरी बात समझ नहीं पाया था।

उसने बताया—"सत्यभामा मानसिक रूप से विवाहित है।"

"मानसिक रूप से विवाहित है! यह तुम कह कैसे सकते हो?"

इस प्रश्न के उत्तर में उसने जो कुछ बताया, वह मेरे लिए सुखद भी था और आश्चर्यजनक भी। उसने बताया—"सत्यभामा ने मुझसे विवाह न करने का वचन ले लिया है।"

"यह कैसे हो सकता है? क्या वह दशार्ण आई थी?" मैंने पूछा।

"नहीं, मैं ही उसके पास गया था।"

"कुआँ प्यासे के पास आए या प्यासा कुएँ के पास जाए, बात तो एक ही हुई।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"पर ये दोनों बातें नहीं हुईं। केवल एक संयोग घटित हुआ।" उसने कहा और विस्तार से बताया—"आपका वचन पूरा करने के लिए जब यादव राजाओं और सामंतों से उनके कोष का पाँचवाँ भाग माँगने जाता रहा, तब कई बार

सत्राजित् के यहाँ मेरा जाना हुआ। पहले तो वह उबल पड़ा, आपके ही साथ हम सबको खरी-खोटी सुनाई; फिर अचानक एक दिन मुझे बुलवाया। आश्चर्यजनक रूप से मेरी आवभगत की। बड़ी आत्मीयता और प्रेम का व्यवहार किया। सत्यभामा से भी मुझे कई बार मिलवाया। यहाँ तक कि भोजन के समय भी उसे मेरी बगल में बिठाया गया। फिर एकांत में बुलाकर एक निर्लज्ज पिता की तरह उसने पूछा, 'तुम्हें मेरी बेटी सत्यभामा कैसी लगी?'

"अब मैं क्या कहता! मैं तो उसकी निर्लज्जता पर ही अवाक् रह गया।" सात्यकि ने बताया—"मैं इस स्थिति के लिए पहले से तैयार नहीं था। फिर मैं उसे नाराज करना भी नहीं चाहता था; क्योंकि मुझे अपने स्वार्थ की सिद्धि करनी थी। उससे अंशदान लेना था।" सात्यकि पुन: मुसकराया—"और यह कहकर कि सत्यभामा मुझे पसंद नहीं है, मैं झूठ भी बोलना नहीं चाहता था।"

मुझे भी हँसी आ गई।

"फिर तुम सत्य ही बोल देते।" मैंने कहा।

"मैं कुछ बोला तो नहीं, पर सत्राजित् ने मेरे मौन का यही अर्थ लगाया।" सात्यकि ने कहा, "सत्राजित् बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने मुझसे एक दिन और ठहरने का आग्रह किया। मुझे रुकना पड़ा।"

सात्यकि कहता गया—"मुझे सत्यभामा के साथ उद्यान में अकेला छोड़ दिया गया। प्रतिहारी और प्रहरी भी हटा लिये गए।"

"तब तो तुम्हें पूरी स्वतंत्रता थी।" मैंने हँसते हुए कहा।

"आप विश्वास करें। मैं इस स्वतंत्रता का कोई उपयोग कर नहीं पाया।" वह हँसते-हँसते बोला, "क्योंकि उसने जरा भी अवसर नहीं दिया। एकदम कटी-कटी-सी रही। फिर पुष्करिणी से थोड़ी दूर पर अशोक वृक्ष के तने से लगकर चुपचाप बैठ गई।"

"भूमि पर ही?"

"हाँ, बिलकुल भूमि पर।" सात्यकि कहता गया—"जड़ के पास मिट्टी का ढूहे जैसा बन गया था, उसी पर बैठी रही। बाल बिखेरे। ऐसा लगा जैसे संध्या की सारी उदासी रूपायित हो गई हो।"

"तू तो कवि होता जा रहा है, सात्यकि!"

"ऐसी स्थितियाँ मनुष्य को स्वयं कवि बना देती हैं।"

"तब तुमने मनुहार नहीं किया?"

"आप भी कैसी बात करते हैं! मैं रावण थोड़े ही हूँ।" सात्यकि ने बड़ी

गंभीरता से कहा, ''मुझे तो वह अब वियोगिनी सीता की तरह दिखाई दे रही थी। अब मुझे उसको सामने से देखने का साहस ही नहीं हुआ। फिर भी मैं उसे देखता रहा। कभी बाएँ से, कभी दाहिने से और कभी दूर से। संध्या डूबने के पहले मैं उद्यान से निकल भी आया और वह वहाँ बैठी ही रह गई।

''इसपर भी रात को जो हुआ, वह चकित कर देनेवाला था।'' उसने कहा, ''मैं अभी सोया नहीं था, पर पर्यंक पर था। सोने को था। आँखों पर नींद सवार हो चुकी थी कि मुझे लगा, एक नारी प्रतिमा द्वार पर आ रही है। यह भी आभास लगा कि उसके साथ दो स्त्रियाँ और थीं, जो मेरे कक्ष तक उसके साथ आईं—और फिर या तो लौट गईं या बाहर ही अँधेरे में द्वार से सटकर खड़ी हो गईं।

''उस अंधकार में भी मैंने उसे पहचान लिया कि वह सत्यभामा है। उसके स्वागत में मैं खड़ा हो गया। फिर वह टस से मस न हुई। एक प्रतिमा की तरह खड़ी रही, पर काँपती हुई। 'कहिए, मैं क्या सेवा कर सकता हूँ?' मैंने कहा। वह बोली, 'मेरी रक्षा कीजिए।' और फिर मेरे चरणों पर गिर पड़ी। निश्चित ही यह उसका आधा-अधूरा वाक्य था, जिसके बाद वह बोल नहीं पाई। मैं समझा, सचमुच यह किसी संकट में है।''

वह कहता गया—''इसके बाद अपने चरणों पर से उसे उठाने के लिए मैंने उसकी बाँह पकड़ी। वह आँधी में पीपल के पत्ते की तरह एकदम थरथराने लगी। बोली, 'आप मेरा स्पर्श मत कीजिए वरन् मेरे प्रेम की रक्षा कीजिए।'

''मैं कुछ समझ नहीं पाया। काफी देर तक वे दोनों वाक्य मेरे मस्तिष्क में टकराते रहे। उसने फिर कहा, 'आप मेरे प्रेम की रक्षा कीजिए।'

'' 'तो तुम्हारे प्रेम पर कोई संकट है?' मैंने पूछा। उसने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। तब उसने बताया—'आप स्वयं वह संकट हैं। मेरे प्रेम के मार्ग से हट जाने की कृपा कीजिए। मुझे वचन दीजिए कि आप कभी भी मुझसे विवाह की बात नहीं सोचेंगे।' वह विक्षिप्त जैसी बोलती रही—'मैं मानसिक रूप से विवाहिता हूँ। मैंने श्रीकृष्ण के चरणों में स्वयं को अर्पित कर दिया है। आप मेरे इस समर्पण की रक्षा कीजिए।'

''मैंने उसे वचन दिया।'' सात्यकि हँसते हुए बोला, ''इसके बाद वह फुदकती हुई ऐसे चली गई मानो मुझे लूटकर जा रही हो।''

मुझे भी हँसी आ गई। इसके बाद सात्यकि चला गया। रात आधी से अधिक जा चुकी थी।

□

दो
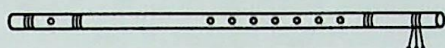
अब हम द्वारका में थे। बहुत दिनों बाद हम लौटे थे। इतने दिनों बाद कि सबकुछ नया-नया और बदला-बदला लग रहा था। लोग प्रतीक्षा करते-करते ऊब चुके थे। उनकी पथराई आँखें हमें देखकर पिघलने लगीं।

नानाजी ने विदग्ध हृदय से कहा, "मैं तो समझता था कि अब तुम हमारी अंत्येष्टि करने ही आओगे।" फिर वे बड़ी देर तक मेरे तन पर हाथ फेरते रहे; जैसे किसीकी जंगल की बिछुड़ी गाय आशा के विपरीत आज अचानक चली आई हो।

अक्रूर चाचा बोले, "आजकल-आजकल करते-करते और तुम्हारी राह देखते-देखते इतने दिन यहाँ रह गया। मथुरा में मेरा परिवार क्या सोचता होगा!"

मेरे माता-पिता तो जैसे स्थितप्रज्ञ-से थे; पर ऐसा नहीं था कि उनकी ममता सो गई थी। मुझे और भैया को गले लगाते हुए उनकी भी आँखों से गंगा-यमुना बहने लगी। उनकी मानसिकता बड़ी मार्मिकता से मुखर हुई—"हम तो अभ्यस्त हो गए हैं। तुम लोगों का अब 'न होना' हमें खलता नहीं। हम तुम्हारे कुशलक्षेम के समाचार मात्र से संतोष कर लेते हैं। आरंभ से ही हम तुम्हारे अभाव को जीते रहे हैं। तुम्हारे पैदा होते ही हमने तुम्हें दूसरे को सौंप दिया। फिर तुम वृंदावन के ही हो लिये। इसके बाद आचार्य सांदीपनि के आश्रम में चले गए। कितने दिन रहे तुम हमारे साथ? पर इसके लिए मेरा कोई उलाहना नहीं; क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम मेरे लिए नहीं, समाज के लिए पैदा हुए हो। इसीलिए बिना किसी प्रकार की वेदना और दुःख के तुम्हारे अभाव का भाव ही हमारा स्वभाव हो गया है। इसीसे तुम्हारे न रहते हुए भी हम हर क्षण तुम्हें अनुभव करते रहते हैं।"

इतना कहने के बाद भी उनकी आँखें निरंतर बरस रही थीं। ऐसा लग रहा था कि आज वे परम प्रसन्न हैं। उनकी आकृति की हर झुर्री से संतोष टपक रहा था। लगभग हर वृद्ध की यही स्थिति थी। अब हमें बड़ा सहेजकर रखना चाहता था। हम सबसे मिले; पर सबसे विचित्र स्थिति तो रेवती भाभी और रुक्मिणी की

थी। स्त्री-सुलभ लज्जा की दीवार वे लाँघ नहीं पाई थीं, अन्यथा उनकी उत्सुकता यहाँ तक उन्हें अवश्य खींच लाती। हमारा मन रह-रहकर उनकी ओर जाता था; पर हम मित्रों, संबंधियों, अमात्य मंडल के सदस्यों के बीच ही दिन भर रह गए। इच्छा होते हुए भी हमारा अंतःपुर में जाना न हुआ। मेरे साथ भैया भी थे। उद्धव हम लोगों से अलग था। वह अपने ढंग से लोगों से मिलता रहा।

जो सुनता, वह राजभवन में बेहिचक चला आ रहा था; क्योंकि मेरी प्रकृति ऐसी थी कि मैं जब द्वारका में रहता था तब हर छोटे-बड़े से बड़े सहज और सामान्य भाव से मिलता था। वेश के अतिरिक्त मेरे स्वभाव में कहीं भी सत्ताधारी की गंध तक नहीं थी। यही प्रकृति आज अधिक सक्रिय थी। लोगों से मिलते-जुलते दिन बीत चला था।

इस बीच अंतःपुर की कंचुकी कई बार आई थी और मुझे भीड़ में देखकर मुसकराकर रह गई थी। मैं भी मुसकराने के अतिरिक्त कर क्या सकता था। दोनों एक-दूसरे की विवशता समझते थे। भैया तो मौका मिलते ही भाभी के पास चले गए; पर मुझे तो जनता घेरे ही रही। उधर रुक्मिणी और मित्रविंदा की व्यग्रता धैर्य की ड्योढ़ी पर सिर पटकती रही।

सूर्य डूबने के बाद भी लोगों ने उस समय मुझे छोड़ा, जब छंदक ने लोगों से कहा, ''अब द्वारकाधीश बड़े श्लथ हो गए हैं। आप लोगों ने देखा नहीं, आज उन्होंने न दोपहर का भोजन किया है और न संध्या का जलपान।''

यह छंदक की वाणी से छूटा अव्यर्थ बाण था। अब कोई वहाँ खड़ा नहीं रहा। मैं सीधे रुक्मिणी के कक्ष में आया। वह अभी तक द्वार पर खड़ी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। देखते ही बोल पड़ी—''भला छुट्टी तो मिली।'' और मेरे चरणों पर गिर पड़ी।

मैंने उसे वक्ष से लगा लिया। सामने पर्यंक पर एक बच्चा किलकारी भर रहा था। मेरी दृष्टि स्वतः उधर चली गई। अब रुक्मिणी को छोड़कर मैं पर्यंक की ओर बढ़ा। वह हाथ-पैर मारता अब भी किलकारी भरता जा रहा था। अकथनीय आकर्षकता और अनिर्वचनीय सुंदरता!

''यह किसका शिशु है?''

''पहचानिए।'' रुक्मिणी मुसकराते हुए ऐसे बोली कि मैं समझ गया और उसे देखता ही रह गया।

''प्रिये, मैंने कामदेव को तो नहीं देखा था; पर क्या वह इतना ही सुंदर रहा होगा!''

"यह मैं कैसे कह सकती हूँ!" रुक्मिणी बोली, "जब आपने नहीं देखा तब मैं उसे कैसे देख सकती हूँ?"

"तब अब देख लो।" मैंने विह्वल होकर कहा, "ऐसा लगता है जैसे यह कामदेव ही हो। अनंग ने अंग धारण कर लिया हो।"

"यह कैसे हो सकता है?" रुक्मिणी ने वह शाश्वत शंका की, जिसे आज तक ऋषि-मुनि करते आ रहे थे—"अंगधारी अनंगी हो सकता है। शिव ने उसे भस्म कर दिया था; पर अनंग अंगधारी कैसे हो सकता है?"

"जैसे ब्रह्म अवतारी हो सकता है। जैसे हम सब हैं। हम सबके भीतर एक अनंग है। वही अंगी है। वही अंग धारण करता है।"

"पर यह बात मेरी सहज बुद्धि में नहीं आती।"

"मूर्त में अमूर्त को देखना, यह सहज बुद्धि का काम नहीं है। शब्द में शून्य को सुनना, यह आसान नहीं है। अंग में अनंग को तुम्हारी बुद्धि नहीं देख सकती।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"पर आपकी बुद्धि तो देख सकती है।" उसने कहा, "लो, अपने अनंग को देखो।" एक इठलाती हुई मुसकराहट के साथ रुक्मिणी ने उस बालक को उठाया और मेरी गोद में डाल दिया। बालक अब भी किलकारी भर रहा था। हाथ-पैर मार रहा था और मुझे देख रहा था; जैसे उसे कोई अभीप्सित वस्तु मिल गई हो।

मैं उसे देख रहा था और वह मुझे। 'पुत्र पिता की आत्मा होता है', इस ऋषि वचन की यह मेरी पहली अनुभूति थी। मैं पर्यंक पर बैठकर उसे बड़ी देर तक खिलाता रहा, मुग्ध होता रहा—और मुग्ध होती रही रुक्मिणी हम दोनों पर।

"तुमने इसके जन्म लेने की सूचना नहीं भेजी?" मैंने कहा।

"कहाँ भेजती!" रुक्मिणी बोली, "आप तो आर्यावर्त्त की राजनीति के निष्ठुर प्रवाह में बहते एक ऐसे यान हो, जो कब किस घाट लगे होगे, इसे तो भगवान् ही जान सकता है। यों पिताजी ने पुत्र-जन्म की सूचना हस्तिनापुर में भी भेजी थी और पांचाल में भी।"

"आश्चर्य है!"

रुक्मिणी बोली, "यह तो सत्य है कि दूत आपसे मिल नहीं पाया था। वह जहाँ-जहाँ गया वहाँ आप नहीं थे; पर सूचना तो वह हर जगह छोड़ आया था।"

"यह नियति की ही निष्ठुरता है।" मैंने कहा।

मैं विवाद की स्थिति में नहीं था। मेरा मन तो बाल-सुलभ किलकारी में खोया था।

"इसका जन्म कब हुआ?"

"पिछले वसंत में।"

"तब तो यह वसंत का निश्चित ही सहचर है।"

आप विश्वास नहीं करेंगे, वह मुझे कामदेव का शिशु रूप दिखाई देने लगा। वस्तुत: यह मेरे मन की स्थिति थी। कामदेव हमारी कल्पना में चरम सौंदर्य का प्रत्यय है। जब भी हम किसीको सुंदरता के शिखर पर देखते हैं, तब यह प्रत्यय संज्ञापित हो जाता है, अन्यथा किसीने कामदेव को देखा तो नहीं है।

मैं पुत्र-प्रेम में ऐसा डूबा कि संध्या कब डूब गई, पता ही नहीं चला। महल में भी दीप जलाए जाने लगे। एक परिचारिका आई और कक्ष के एक कोने में रखे रजत दीपाधार की सारी वर्तिकाएँ जला गई। अब मेरा ध्यान उधर गया। वहाँ एक बड़े से काष्ठ मंचक पर एक स्वर्ण सिंहासन था। उसी पर मेरा स्वर्ण मुकुट और वंशी रखी थी।

मैंने पूछा, "वह क्या है?"

"मेरा पूजा-स्थान। मेरा मंदिर।" रुक्मिणी ने बड़ी संकोच भरी शालीनता से कहा और फिर बोली, "यदि अनुमति हो तो मैं अपने मंदिर में भी दीप जला दूँ।"

मैं इस पूज्यभाव के समक्ष द्रवित था। उसने दीप जलाए और मेरे सामने ही मेरी वंशी एवं मुकुट की आरती उतारने लगी। तब तक एक परिचारिका नैवेद्य के लिए दधि और नवनीत ले आई। पर वह लेकर खड़ी ही रही; क्योंकि प्रात: जो भोग लगा था, वह अब तक ज्यों-का-त्यों पड़ा था। नैवेद्य का पात्र खाली नहीं था। यह स्थिति देखकर रुक्मिणी भी हँसने लगी और मैं भी।

उसने बताया—"प्रात: की पूजा के बाद आपके आने की सूचना मिली। फिर किसीकी सुध-बुध ही न रही। अलिंद से बराबर झाँकती रही। ज्यों-ज्यों घड़ी बीतती गई, घबराहट बढ़ती गई। जब आपका रथ आता दिखाई दिया, व्यग्रता विह्वलता में बदल गई। मरुभूमि में वसंत आ गया। अब तक मरु से तपता मन वसंत की मादकता में खो गया। इसीलिए मैं प्रसाद लेना भूल गई। जब प्रत्यक्ष दर्शन होने वाला हो तब प्रसाद की कौन परवाह करता है!"

पर मुझे तो भूख लगी थी। मैं प्रात: का पड़ा नवनीत और दधि खाने लगा।

"दधि तो खट्टा हो गया होगा। प्रात: से पड़ा है।" रुक्मिणी बोली।

"पर इतना मीठा दधि इस यात्रा में कहीं नहीं मिला।" मैं बोला।

एक तो मैं भूखा था और दूसरे स्वाद एवं रस भी बहुत कुछ मन की स्थिति

पर निर्भर है। वियोग में वही चंद्रमा जलाता है और संयोग में शीतल लगता है। चंद्रमा वही है, मन बदलते ही वह भी बदला नजर आता है।

संभव है, वह दधि मीठा न रहा हो; पर इस समय वह सचमुच बड़ा मीठा लग रहा था। रुक्मिणी ने नैवेद्य के लिए लाया गया नवनीत एवं दधि भी मेरी ओर बढ़ा दिया और बोली, ''इसे भी ग्रहण कीजिए।''

''क्यों? इस समय अपने भगवान् को भोग नहीं लगाओगी क्या?''

''जब स्वयं भगवान् ही सामने हों तो उनके प्रतीक को भोग लगाने की मैं मूर्ख़ता नहीं कर सकती।'' वह इतना कहते हुए मुसकराकर ऐसे इठलाई जैसे कोई नागिन डसकर उलट जाए।

अब मैं अपने को रोक नहीं पाया। उसे एकदम अपनी गोद में उठा लिया। फिर हम दो दो नहीं रहे।

मेरे आलिंगन में बद्ध होते हुए भी वह नारी-सुलभ लज्जावश किलकते बालक की ओर देखकर बोली, ''देखिए, वह देख रहा है।''

''इसी काम का तो वह पुत्र है। अपने पिता को नहीं देखेगा तो किसे देखेगा!''

वह धीरे-धीरे समर्पित होती चली गई।

मैंने वातायन की ओर देखा, चंद्रमा भी सरक चुका था। केवल उसकी चाँदनी झाँक रही थी।

□

द्वारका में आए कई दिन हो गए; पर अब भी मैं यहाँ के लोगों के लिए नया-नया था। अब भी अधिकांश समय लोगों से मिलने में जाता था। संध्या को मैं पर्यटन में निकलता। यह पुरुष से हटकर प्रकृति से मिलने का समय होता। कभी वनों में और कभी समुद्र के किनारे। जब मैं वनों की ओर जाता, रुक्मिणी को अवश्य साथ रखता। कभी-कभी मित्रविंदा भी साथ होती। करील के कुंज तो यहाँ नहीं थे; पर कदली, नारिकेल, पारिजात, बकुल, पुन्नाग आदि के वृक्ष और पौधे अधिक थे। उन्हींके कुंज करील के कुंज हो जाते थे और बाँहों में पड़ी रुक्मिणी राधा। इस स्थिति में जो कुछ फूटता था, वह राग था। अधरों पर वंशी भी रागमय, हम भी रागमय और प्रकृति भी रागमय।

कितना अच्छा लगता था! पर एक क्षण के लिए भी जब मैं राग से मुक्त होता था, मेरा मन मुझसे पूछता था—'क्या तुम रुक्मिणी पर राधा को आरोपित करके रुक्मिणी के प्रेम के साथ धोखा नहीं कर रहे हो? यह कैसा छल है कि

आलिंगन में कोई हो और मन में कोई! बाँह में कोई हो और आह में कोई!'

सचमुच तब मैं अपने सामने ही एक अपराधी की तरह खड़ा हो जाता था। अपने ही दर्पण में अपनी ही आकृति कुछ और दिखाई देने लगती थी; पर मैं लाचार था, विवश था। राधा मुझपर इतनी छाई रहती थी कि संयोग और राग के इन क्षणों में वह पहले मेरे मन से आकर लिपट जाती थी और दूसरे बाद में। मैं जीवन भर इस रोग का शिकार रहा। मेरी स्वकीयाएँ मेरे मन में वह स्थान न पा सकीं, जिसे उस परकीया (राधा) ने पा लिया था; पर मैंने अपनी पत्नियों के सामने यह स्थिति स्पष्ट नहीं की थी। मैं स्वयं उन्हें छल रहा था या राधा द्वारा जीवन भर छला जा रहा था, शायद मैं इसका निर्णय कभी कर नहीं पाया।

मुझे ज्वार का सिंधु बहुत अच्छा लगता था। बहुधा मैं अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा की संध्या समुद्र के किनारे बिताता था। जब लहरें समुद्र में उठतीं तब मैं पीतांबर कमर में कसकर कूद पड़ता था और उन लहरों में ऐसा डूबता-उतराता था मानो यमुना की गोद में ही हूँ। यह सही है कि ज्वार के सिंधु की उन्मत्तता यमुना के भाग्य में नहीं थी; पर जब पुरवैया बहती थी, यमुना में लहरें उठती थीं तो उन लहरों के थपेड़ों की मादकता समुद्र की इन उत्ताल तरंगों में कहाँ! वहाँ राधा मेरे डूब जाने के भय से निकल आने के लिए किनारे पर बैठी-बैठी बार-बार चिल्लाती थी—'निकल आओ, कन्हैया! निकल आओ, कन्हैया!' पर मैं लहरों से अठखेलियाँ करता हुआ बढ़ता ही जाता था। कभी-कभी तो यमुना के पार निकल जाता था। उस तट पर खड़े होकर उसे चिढ़ाता था। कटि से वंशी निकालकर बजाने लगता था। वह बेसुध होकर मुझे निहारती रहती थी। कितना विचित्र लगता था! एक किनारे पर मैं और दूसरे किनारे पर वह। उसकी दृष्टि की डोर मुझे बाँधे रहती थी और मेरी वंशी के सुरों की डोर उसे।

यहाँ भी जब रुक्मिणी रहती तो वैसी ही स्थिति पैदा हो जाती; पर थोड़ी भिन्नता लिये हुए। यहाँ मुझे जब भाटा के थपेड़े समुद्र की ओर ढकेल ले जाते तो रुक्मिणी चिल्लाकर बरजती—'आगे मत जाओ प्रिये, लौट आओ।' पर उसके इस 'प्रिये' शब्द में उस प्रियता की अनुभूति नहीं होती, जो राधा के संबोधित 'कन्हैया' में रहा करती थी। यहाँ भी मैं रुक्मिणी के बुलाने पर लौटता नहीं था, वरन् उसकी मूर्खता पर हँसता हुआ और आगे निकल जाता था। उसे क्या मालूम था कि मुझे संतरण की कला पैतृकदाय के रूप में मिली है। पैदा होते ही नियति ने मुझे पिता के साथ उफनती यमुना में फेंक दिया था और जब ज्वार स्वयं मुझे किनारे की ओर ढकेल देता तो वह पकड़ने के लिए दौड़ती; पर मैं उसके हाथ को छूकर भी देखते-

देखते उसके हाथ से बाहर हो जाता। वह खीजती, परेशान होती और कभी-कभी तो रोने भी लगती थी।

मेरा शरीर आयु के प्रभाव से मुक्त नहीं था। वह प्रौढ़ता की ओर बढ़ता रहा। फिर व्रज में किल्लोल करनेवाला मेरे भीतर का वह बालक अब भी जीवित था—और शायद जीवन के अंत तक जीवित रहा। वही मेरी जिजीविषा का प्रेरक भी था, आधार भी था और साक्षी भी।

दिन भर मैं शासन में रुचि लेता था। मालीविहीन उपवन की तरह द्वारका की सारी व्यवस्था गड़बड़ा गई थी। कोष लगभग चुक चुका था। राज्य में कोई अनुशासन नहीं था। छोटे कर्मचारी बड़ों की नहीं सुनते थे और बड़े अपने से बड़ों की उपेक्षा करते थे।

पत्तन कर में काफी कमी आ गई थी। यद्यपि व्यापार पहले से अधिक हो गया था। प्रकृति भी सदय रही। कृषि भी अच्छी हुई। फिर कोष रिक्त क्यों हुआ? उसे तो बढ़ना चाहिए था। इन्हीं सब विषयों पर विचारार्थ आज मैंने अमात्य मंडल की बैठक बुलाई थी।

बैठक में लोगों का कहना था कि अधिकांश प्रजा ने 'कर' के रूप में अपना अंशदान नहीं दिया। आप लोगों के इतने दिनों तक राज्य के बाहर रहने का यह प्रभाव है। फिर इस सारी अव्यवस्था के मूल में महाराज सत्राजित् का कुचक्र है, यह बात वित्तामात्य द्वारा उठाई तो गई, पर वह इतना कहने के बाद अप्रत्याशित रूप से चुप हो गया।

"हाँ-हाँ, कहिए। आप चुप क्यों हो गए?" मैंने कहा।

फिर उसने अन्य अमात्यों की ओर देखा। सभी चुप थे, इसलिए वह भी चुप ही रह गया।

"आप लोग किसी अप्रत्याशित भय से आक्रांत लगते हैं।" मैंने कहा।

"हम सभी की सलाह है कि आप दोनों व्यक्ति (बलराम भैया और मैं) कभी एक साथ द्वारका न छोड़ें। यदि एक का जाना अनिवार्य हो तो दूसरे महानुभाव को तो यहाँ रहना ही चाहिए। आप लोगों के अभाव में राज्य बिना पतवार की नौका हो जाता है। डगमगाना स्वाभाविक है—और यदि तूफान उठा, तब तो वह डूब भी सकता है।"

"तो डूबने तक की कल्पना आपने कर ली है!" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"क्या करता!" महामात्य बोला, "जब सत्राजित् ने पूरी द्वारका में मुनादी करा दी कि कोई भी प्रजा राजकोष में कर जमा न करे। अब द्वारका की गद्दी पर

मैं विराजमान होने वाला हूँ। जो लोग जमा करेंगे, वे अपनी हानि करेंगे; क्योंकि जब मैं शासक होऊँगा तो उन्हें फिर कर देना होगा और मैं पुराना सब जोड़कर उनसे लूँगा।'' महामात्य ने कहा, ''अब ऐसी स्थिति में आप ही बताइए, राजकोष रिक्त नहीं तो और क्या होगा? दशा तो यह हो गई है कि दो-एक मास में कदाचित् राजकर्मचारियों को वेतन देने की स्थिति में भी हम न रहें।''

मैंने भैया की ओर देखा। वे एकदम उबल पड़े—''उस नीच की हम लोग इतनी इज्जत करते हैं, उसीका यह फल है! क्यों नहीं हम लोग भी उसके राज्य में ऐसी मुनादी करा दें?''

मैंने मुसकराते हुए भैया की ओर देखा। उनका आक्रोश उसी मुसकराहट में दब गया। तब मैंने अमात्य मंडल से कहा, ''आप लोगों के यहाँ रहते दूसरे राज्य के लोग यहाँ मुनादी करा दें, यह बात तो कुछ समझ में नहीं आती। राजा के न रहने पर यदि उसने कोई अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया है तो सारे अधिकार अमात्य मंडल में आ जाते हैं। उसे ऐसे अराजक तत्त्वों से सावधान ही नहीं वरन् उसे दबाने का पूरा अधिकार है।''

अमात्य मंडल के सदस्य एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए।

अब मैंने इस बैठक का निष्कर्ष सुनाते हुए कहा, ''आप अपने-अपने विभागों को आदेश दें कि कार्य व्यवस्थित और अनुशासित ढंग से किया जाए। शासन में जरा भी ढिलाई अब सह्य नहीं होगी।''

मेरा दूसरा निष्कर्ष था—''प्रजा में शीघ्र मुनादी करा दी जाए कि वह शेष 'कर' एक पक्ष में जमा करें। यदि वे किसी कारणवश न जमा कर पाएँ तो अपनी असमर्थता की सूचना देते हुए यह भी बताने का कष्ट करें कि वे कब तक जमा कर सकेंगे।''

अमात्य मंडल का विचार था कि इससे स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगी और कल से ही कोष में धन आने लगेगा। फिर मैंने आश्रमों की जानकारी चाही। मैंने कहा, ''यों तो उन आश्रमों में मैं स्वयं जाऊँगा, जो राज्याश्रित हैं। उनके आचार्यों से संपर्क करूँगा। उनका कुशलक्षेम स्वयं पूछूँगा; पर आप बताइए कि इस अराजकता की गंध उन आश्रमों तक तो नहीं पहुँची है? वहाँ किसी प्रकार की अराजकता तो नहीं है? हमारे न रहने से आचार्य और ब्रह्मचारियों को किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं हुआ है? क्योंकि किसी राज्य का वर्तमान उसकी सत्ता में और भविष्य उसके आश्रमों में पलता है।''

मुझे सूचना दी गई—''आश्रमों में किसी प्रकार की कमी होने नहीं दी गई

हैं। वहाँ की व्यवस्था में भी किसी प्रकार की त्रुटि का आभास नहीं मिला है। यों गर्गाचार्य इस समय नगर में ही हैं। यदि आप चाहें तो उनसे विशेष जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।''

''नगर में ही हैं!'' मुझे सुखद आश्चर्य हुआ।

दुःख यदि था तो यही कि उनकी उपस्थिति की सूचना मुझे इतने विलंब से दी गई। द्वारका में आने के बाद ही उनका आशीर्वाद मुझे प्राप्त करना चाहिए था।

''आपके द्वारका आगमन पर अगवानी में जो लोग गए थे, उनमें वे भी थे।'' महामात्य ने बताया—''मैंने सोचा कि उनपर आपकी दृष्टि तो गई ही होगी।''

''मैं उन्हें देख नहीं पाया, यह तो और भी बड़ी भूल हो गई। कदाचित् मैं पिताजी और नानाजी की आत्मीयता से ही घिर गया था।'' मैंने अमात्य मंडल से कहा, ''अब मैं शीघ्र ही उनसे मिलकर क्षमा माँगना चाहता हूँ। अब आप राजकीय गोशाला और अश्वशालाओं का हाल बताइए।''

''अराजकता की छाया तो वहाँ भी पड़ी।'' महामात्य बोला, ''पर उन पशुओं को किसी प्रकार की कमी होने नहीं दी गई है। उनका खान-पान पहले जैसा ही है। राज्य में गायों के दूध में भी किसी प्रकार की कमी नहीं आई है।''

इसके बाद अमात्य मंडल की बैठक की समाप्ति की घोषणा की गई। पर चलते-चलते मैंने यह तो कह ही दिया कि ''आजकल सत्राजित् महाराज का मानसिक संतुलन कुछ विकृत हो गया है। लौटते समय हम लोग वहाँ गए थे।''

बैठक समाप्त होते ही मैंने छंदक को बुलवाया। भैया रह-रहकर अब भी सत्राजित् पर उबल रहे थे—''तुम कन्हैया, उचित समय पर कोई काम नहीं करते। साँप के फुफकारते ही उसका फन कुचल देना चाहिए।''

''आप ठीक कहते हैं, भैया, पर फुफकारने दीजिए।'' मैंने कहा और भैया चुप हो गए। वह किसी बात पर जोर नहीं देते थे। उनका उबाल बहुत देर तक टिकता भी नहीं था।

तब तक छंदक भी आ गया। मैंने उसे एकांत में ले जाकर कहा, ''घबराओ नहीं, मैं तुमसे कोई अनुचित कार्य नहीं लूँगा।''

''क्या कभी आपने अनुचित कार्य भी लिया है!'' छंदक के इस उत्तर पर मुझे हँसी आ गई। पर वह अपने ओठों में मुसकराहट बंद किए चुपचाप खड़ा रहा।

मैं कहता गया—''पहले तुम गर्गाचार्य का पता लगाओ; फिर इस बात का प्रचार करो कि सत्राजित् का मस्तिष्क विकृत हो गया है। यों मैंने यह बात अमात्य मंडल के समक्ष भी कही है।''

''तब तो अमात्य मंडल स्वयं इस कार्य में लगेगा।'' छंदक बोला, ''अब हमें इस संदर्भ में कोई चेष्टा नहीं करनी चाहिए। रह गई आचार्यजी से मिलने की बात, तो चलिए।''

''तुम्हें मालूम है, वे कहाँ हैं?'' मैंने चकित हो पूछा।

''मुझे सब मालूम है।'' छंदक बोला, ''इस समय वे प्रमोद उद्यान के पीछे सिंधुतट पर एक अनुष्ठान कर रहे हैं। शायद आज ही उनका अनुष्ठान पूरा होने वाला है। मुझे आश्चर्य है कि इसकी सूचना भी आपको नहीं है।''

''किसलिए अनुष्ठानरत हैं आचार्यजी?''

''यह तो वे ही बता सकते हैं।''

हम दोनों बिना किसीसे कुछ कहे गर्गाचार्य से मिलने चल पड़े। मध्याह्न का सूर्य हमारे माथे पर था। प्रमोद उद्यान के समीप पहुँचते ही हमने रथ छोड़ दिया। हम दोनों पैदल आगे बढ़े। सागरी समीरण पर तैरती यज्ञ की सुरभि यहीं से मेरा मार्ग निर्देश करने लगी।

मेरे पहुँचने के पूर्व ही यज्ञ समाप्त हो चुका था। अपने अन्य शिष्यों के साथ आचार्यजी यज्ञ कराने की सामग्री और उच्छिष्ट अन्न आदि समेट रहे थे। मैं पहुँचते ही उनके चरणों पर गिर पड़ा।

''क्षमा करें, आचार्य।''

''किसलिए क्षमा और कैसी क्षमा?'' कहते हुए उन्होंने मुझे उठा लिया और सिर सूँघकर हम दोनों को आशीर्वाद दिया। फिर मैंने अपनी भूल बताई। वे हँसने लगे। बोले, ''पिता और नाना की आत्मीयता से फिर जाना स्वाभाविक है। इसमें भूल कैसी! वरन् तुम ऐसा न करते तो भूल करते।

''मैं तुमसे मिलना चाहता था; पर स्थिति ऐसी आई—और वसुदेवजी ने भी यही राय दी कि इस समय तुम लोगों से न मिलना ही उचित है।''

''ऐसा क्यों, आचार्य?''

''इसे मैं बाद में बताऊँगा। इस समय प्रसाद ग्रहण करो।'' अब उन्होंने स्रुवा से यज्ञकुंड की भस्मी निकाली, हम दोनों के मस्तक पर लगाई और यज्ञ का उच्छिष्ट अन्न प्रसाद में दिया।

मेरा साहस नहीं हो रहा था कि मैं पूछूँ कि यह अनुष्ठान किसलिए? पर उन्होंने ही बताना शुरू किया—''इसीको कहते हैं सुयोग। जिसके लिए यह संक्षिप्त अनुष्ठान किया ज़ा रहा था, वह समाप्ति के समय बिना बुलाए आशीर्वाद और प्रसाद के लिए उपस्थित हो गया। ऐसी स्थितियाँ ही तुम्हें अंतर्यामी सोचने के

लिए किसीको भी विवश कर सकती हैं।'' इतना कहकर वे हँसने लगे।

अब मुझे मालूम हुआ कि यह अनुष्ठान मेरे लिए किया जा रहा है। आचार्य के मन में अनुष्ठान की चिंता इतनी व्यापक रही कि वे राजभवन में न जाकर सीधे समुद्र के किनारे आए। पिताजी से कहकर अविलंब कुटिया बनवाई। यज्ञवेदी तैयार की गई और अपने चार शिष्यों के साथ उन्होंने अनुष्ठान आरंभ किया। अब मुझे लगा कि पिताजी जब हमसे मिले थे तब उनकी बातों से कुछ ऐसा लग रहा था।

पर अब तक मैं उस स्थिति से अनभिज्ञ ही रहा, जिसके कारण यहाँ अनुष्ठान हुआ। आंशीर्वाद और प्रसाद लेने के बाद आचार्य से पूछा, ''आखिर वह कौन सी बात है, जिसके कारण आपको इस अनुष्ठान का विधान करना पड़ा?''

आचार्य ने बताया—''इस बार तुम काफी दिनों बाद लौटे हो और जिस समय तुमने द्वारका में चरण रखा, उस समय ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति अच्छी नहीं थी। काल सर्प उत्पात योग था। शीघ्र ही तुम्हारी प्रतिष्ठा पर आँच आने वाली है, या कोई अप्रत्याशित विपत्ति पड़ने वाली है।''

मेरा मन दुःखी हुआ। इतनी उलझनों के बाद तो लौटा हूँ। सोचा, द्वारका चलकर विश्राम करूँगा; पर आचार्यजी के कथनानुसार विपत्ति के बादल अचानक छाने वाले हैं।...छंदक भी दुःखी दिखा। मैंने कहा, ''यदि नियति की यही इच्छा है कि हर क्षण किसी-न-किसी विपत्ति का सामना करूँ, संघर्ष में उलझा रहूँ तो सिवाय इसके कि नियति की हर आज्ञा को शिरोधार्य करूँ—और कोई चारा भी तो नहीं है, आचार्यजी।...पर इसमें अनुष्ठान क्या करेगा?''

''अनुष्ठान तुम्हें बल देगा। तुम संघर्ष में विजयी होगे।'' आचार्यजी बोले, ''भवितव्यता को तो भोगना ही पड़ेगा। यह भवितव्यता और कुछ नहीं, हमारे कर्मों का फल है।''

यही मेरे भी जीवन का निष्कर्ष था।

□

अभी द्वारका आए एक पक्ष भी समाप्त नहीं हुआ था। मैं शासन व्यवस्था के सुधार में ही व्यस्त था कि एक अप्रिय स्थिति की छाया दिखाई देने लगी।

ब्राह्म मुहूर्त समाप्त होने को था। मैं मंदिर से पूजन करके निकल रहा था कि नगर रक्षकों ने एक बड़े अपराधी को मेरे समक्ष उपस्थित किया। उसके हाथ और पैरों में तो बेड़ियाँ पड़ी ही थीं, उसके मुँह पर भी पट्टी बँधी हुई थी।

मैं उसे देखते ही भड़क उठा—''अरे, यह भी समय किसी अपराधी को

उपस्थित करने का है!''

पहले तो सैनिक सहमे, फिर बोल पड़े—''पर यह अपराधी 'किसी अपराधी' में नहीं है।''

''कुछ भी हो, पहले इसे दंडाधिकारी के पास ले जाओ।'' मैंने कहा, ''यदि वे उचित समझेंगे तो पूरे आरोपपत्र के साथ अपराह्न में जब मैं न्यायपीठ पर बैठता हूँ, तब उपस्थित करेंगे।''

इसी बीच उस अभियुक्त ने अपने मुँह पर बँधी पट्टी की ओर संकेत किया। मैंने उन सैनिकों से पूछा, ''इसके मुँह पर पट्टी क्यों बाँधी गई है?''

''यह आपत्तिजनक घोषणाएँ कर रहा था और मना करने पर भी मान नहीं रहा था।'' सैनिकों ने कहा, ''हम विधान को अपने हाथ में नहीं लेना चाहते, अन्यथा अब तक इसका वध कर दिया जाता।''

''जैसे तुमने विधान को अपने हाथ में नहीं लिया है वैसे तुम लोगों को इसकी आवाज पर भी बंधन नहीं लगाना चाहिए। जानते हो, प्रजा के मुँह पर पट्टी बाँधनेवाली सत्ता एक-न-एक दिन गूँगी हो जाती है; फिर बोलना व्यक्ति का मौलिक अधिकार है। इसीलिए परमात्मा ने वाणी दी है।''

''यह हमारी प्रजा भी नहीं है और इसकी वाणी भी आपत्तिजनक है।'' एक सैनिक ने बड़ी शालीनता से कहा।

''फिर भी इसकी पट्टी खोल दो। हमारी परंपरा इस संदर्भ में बड़ी पवित्र है।'' मैंने कहा, ''सीता के चरित्र पर लांछन लगानेवाले धोबी को भी अभिव्यक्ति की पूरी स्वतंत्रता दी गई थी। उसके मुख पर कोई पट्टी नहीं बाँधी गई।...पर मैं राम नहीं हूँ, जो धोबी के द्वारा लगाए लांछन की परीक्षा किए बिना इसे छोड़ दूँगा। मेरा विवेक इसकी कही हुई बातों की विवेचना करेगा और आवश्यक समझने पर इसे दंड देगा।'' इतना कहकर मैं अपने रथ पर सवार हुआ और चल पड़ा।

कुछ आगे बढ़कर मैंने पीछे मुड़कर देखा। उसकी पट्टी खोल दी गई थी और वह चुप था। लगता है, अब उसके मन ने स्वयं उसकी घोषणा पर पट्टी बाँध दी थी।

मैं राजभवन में आया और दैनिक कार्यों में व्यस्त हो गया; पर मन अब भी प्रायः मंदिर के पास हुई घटना में उलझा रहा। मैंने इधर-उधर से सुन भी लिया कि मेरे विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है और उसके मूल में कौन है।

अफवाह तो बिना अग्नि का प्रदूषित धूम होता है, जो केवल प्रदूषण फैलाता है, ताप नहीं। उस घोषणा का प्रदूषण हवा के साथ-साथ पूरी द्वारका में

फैलने लगा।

मेरे न रहने पर या मेरे आदेश पर दंडाधिकारी ही बहुत से मामलों का निपटारा कर देता था; पर आज मैंने आदेश दे रखा था कि मैं अपराह्न में न्यायपीठ पर आऊँगा, क्योंकि मेरी जिज्ञासा थी। मैं आज समय के कुछ पूर्व ही उपस्थित हो गया।

अमात्य मंडल के अतिरिक्त आज दर्शक दीर्घा भी भरी थी। अभियुक्त उपस्थित किया गया। दंडनायक ने आरोपपत्र पढ़ा—"अभियुक्त सत्राजित् का राजकर्मचारी है। यह आज प्रात: भेरी की चोट पर यह घोषणा करते हुए द्वारका की राज्य सीमा में घुसा कि—'विशिष्ट और सामान्य सभी व्यक्तियों को यह सूचित किया जाता है कि महाराज सत्राजित् की स्यमंतक मणि चोरी चली गई है। उसे अपने को द्वारकाधीश कहनेवाले कन्हैया ने चुराया है। उससे आप सभी होशियार रहें। वह चोर, धूर्त और ऐंद्रजालिक है। बड़ा मायावी है। माया फैलाकर वह स्वयं को भगवान् घोषित करता है। अब उसकी माया चलनेवाली नहीं है। उसकी वास्तविकता खुल गई है। वह शीघ्र ही अपनी चोरी का दंड पाएगा और द्वारका के सिंहासन पर महाराज सत्राजित् विराजमान होंगे। भाइयो, इस कन्हैया जैसे चोर और धूर्त से सावधान रहें।' "

आरोपपत्र सुनाए जाने के बाद मैंने अभियुक्त से पूछा कि आरोपपत्र के संबंध में तुम्हें कुछ कहना है।

उसने सिर हिलाकर 'नहीं' का संकेत किया।

"तब तुमने ऐसा क्यों किया?"

"मेरे महाराज की आज्ञा थी।"

"पर क्या तुम यह जानते हो कि तुमने जो कुछ कहा है, वह सरासर झूठ है?"

वह बहुत धीरे से बोला, "नहीं।"

पूरे कक्ष में सन्नाटा छा गया।

"तो तुम भेरी बजाकर जो घोषणा कर रहे थे, क्या तुम समझते हो कि वह सत्य है?"

"नहीं।"

"जब तुम उसे न सत्य समझते हो और न असत्य समझते हो, तब तुम उसे क्या समझते हो?"

"केवल अपने महाराज की आज्ञा।"

''इसे तो तुम जानते ही होगे कि अपने महाराज की आज्ञा अपने राज्य में ही प्रसारित की जा सकती है?''

''जानता हूँ।'' संक्षिप्त सा उत्तर था।

''तुम द्वारका में इसे प्रसारित करने क्यों चले आए?''

''मेरे महाराज की ऐसी ही आज्ञा थी कि तुम द्वारकावासियों को घूम-घूमकर बताओ कि अब मैं उनका स्वामी होने वाला हूँ।''

''तुम जानते हो कि तुम्हारे इस अपराध का तुम्हें क्या दंड मिलेगा?''

''मृत्युदंड।''

''तब तुमने ऐसा अपराध क्यों किया?''

''न करता, तब भी मुझे मृत्युदंड ही मिलता।'' अब उसकी ध्वनि करुणार्द्र हो गई थी—''अपने महाराज की आज्ञा का पालन करने पर आप मृत्युदंड देंगे और न करने पर अपने महाराज के कोप का भागी होता, उनका मृत्युदंड सहता। हम तो राजकीय कर्मचारी हैं। हमने अपनी अस्मिता पेट के लिए बेच दी। अब मैं राजा का क्रीत दास मात्र रह गया हूँ।''

उसने ऐसा कहा कि सभा में सन्नाटा छा गया। मैं भी सोच में पड़ा। मेरे मन ने कहा, 'यह अपराधी होकर भी निरपराध है।' बहुत सोच-समझकर मैंने अपना निर्णय सुनाया—''तुम्हारी स्थिति और कर्तव्यबोध को मैं समझता हूँ; पर हमारे राज्य के भी कुछ नियम हैं, विधान हैं। यदि उनकी उपेक्षा की जाएगी तो हर व्यक्ति अराजक हो जाएगा। राज्य में दुर्व्यवस्था फैलेगी। इसलिए, यदि तुम्हारे सारे अपराध अनदेखे कर दिए जाएँ, तो भी बिना अनुमति द्वारका की सीमा में प्रवेश करने का और द्वारका के हित के विरुद्ध अनर्गल सूचनाएँ देने के दोष से तुम मुक्त नहीं हो सकते। इसके लिए तुम्हें मात्र अर्द्ध पक्ष के कठोर कारावास की सजा दी जाती है।''

अभियुक्त ने सिर झुकाकर मेरा दंड स्वीकार किया। उसकी मुद्रा से लग रहा था कि वह भीतर से बहुत प्रसन्न है। वह तो मृत्युदंड की आशा से आया था। उसके विपरीत, जो सैनिक उसे पकड़कर लाए थे, वे बड़े गंभीर लगे।

दंडनायक ने भी मेरे कान में धीरे से इतना कहा, ''ऐसे अपराधों पर बड़ी कठोर सजा का अपने यहाँ विधान है।''

उसकी संतुष्टि के लिए मुझे कहना पड़ा—''मुख्य अपराधी तो सत्राजित् है। कठोर दंड का भागी तो वह है—और उसे दिया भी जाएगा।''

□

मेरे इस निर्णय की बड़ी प्रतिक्रिया हुई। स्वयं छंदक ने आकर सूचित किया

कि प्रजा में उसकी अच्छी प्रतिक्रिया नहीं हुई।

"राजकर्मचारियों में इसकी प्रतिक्रिया क्या है?" मैंने पूछा।

"राजकर्मचारी तो बड़े संतुष्ट हैं। उनका कहना है कि इतिहास में पहली बार सिंहासन ने हमारी विवशता को समझा है।"

"बस, मेरा उद्देश्य पूरा हुआ।" मैंने कहा, "क्योंकि हमें राजकर्मचारियों में यह विश्वास जगाना था कि यह राज्य केवल राजा का ही नहीं है, तुम्हारा भी है। सत्ता के एक तुम भी महत्त्वपूर्ण अंशधारी हो। इसी भावना की कमी हो गई थी, जिससे हमारे न रहने पर शासन में अव्यवस्था फैली।" फिर मैंने छंदक को और निकट बुलाकर कहा, "किसी बहाने तुम कारागार में जाओ और सत्राजित् के उस अभियुक्त से उसका कुशलक्षेम पूछो; क्योंकि उससे मुझे मिलना है—और यह भी हो सकता है कि मैं उसे लेकर सत्राजित् से मिलूँ।"

छंदक मुसकराते हुए चला गया।

सत्राजित् के व्यवहार से लोग अत्यधिक चिंतित थे। नानाजी विशेष दुःखी थे; क्योंकि वे ही उसके पूर्व परिचित भी थे। जब कोई मित्र अमित्र निकल जाता है तब उसकी पीड़ा और पछतावा उस प्रसन्नता से कई गुना अधिक होती है, जो कभी उसे मित्र बनाते समय हुई होती है। इसीलिए नानाजी को पीड़ा अधिक थी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि सत्राजित् इतना नीच निकलेगा।

भैया तो मेरे ऊपर लगाए गए आरोप से तिलमिला उठे थे। सीधे-सीधे सत्राजित् को ध्वस्त कर देना चाहते थे। मैंने उन्हें समझाया—"हम उसे पराजित कर या उसका वध कर अपने ऊपर लगा चोरी का आरोप तो नहीं मिटा सकते, वरन् लोग उलटा ही समझने लगेंगे कि उसकी मणि भी चुराई और उसका वध भी किया। सबसे पहले हमें उसके आरोप से मुक्त होना होगा।"

"यह कैसे संभव है?" भैया बोले।

"मणि का पता लगाकर।"

"अब मणि का पता कैसे लगेगा?"

"क्यों नहीं लगेगा?" मैंने कहा, "यदि समुद्र में फेंक न दी गई होगी तब वह धरती पर कहीं-न-कहीं होगी ही। और जब धरती पर होगी तो मैं उसे अवश्य खोज निकालूँगा।"

लोग मेरे हठ को जानते थे। जो मैं एक बार निश्चित कर लेता था, उसे अवश्य पूरा करता था। लोगों के मना करने पर भी मैंने सत्राजित् से मिलने का

कार्यक्रम बनाया—वह भी अकेले ही। पहले भैया ने भी साथ चलने के लिए कहा। मैंने फिर उन्हें समझाया—"वर्तमान स्थिति से हमें तो यह शिक्षा लेनी ही चाहिए कि हम दोनों को साथ-साथ अब द्वारका नहीं छोड़नी चाहिए। हम दो में से किसी-न-किसीको तो यहाँ रहना ही होगा।"

"तब तुम छंदक को लेते जाओ।"

"मैं समझता हूँ कि छंदक की भी यहाँ बड़ी आवश्यकता है।" मैंने कहा, "वह आपको मेरा अभाव नहीं खटकने देगा। ऐसा ही है तो मैं रक्ताक्ष को ले लूँगा; फिर मेरा सारथि दारुक तो रहेगा ही—और एक व्यक्ति और मेरे साथ होगा।" मैंने बड़े ही रहस्यमय ढंग से मुसकराते हुए भैया की ओर देखा।

"वह कौन है?" भैया की जिज्ञासा बोल उठी।

"कारागार में दंड भोग रहा सत्राजित् का व्यक्ति कुशाग्र।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"तुम उस व्यक्ति को अपने साथ रखोगे! सत्राजित् के व्यक्ति को अपने साथ!"

"अब वह उसका व्यक्ति नहीं रहा।" मैंने कहा, "व्यक्ति सदा किसीका नहीं होता। वह केवल अपना होता है या परिस्थितियों का होता है।"

भैया मेरी बात सुनकर बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किए चले गए। मुझे लगा कि वे संतुष्ट नहीं हैं।

□

आज कुशाग्र कारागार से छूटने वाला था। ब्राह्म मुहूर्त में ही उठकर मैं तैयार हो गया। दारुक और रक्ताक्ष से पहले से ही कह रखा था। वे ठीक समय पर राजभवन के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। जब मैं चला, सूर्य की किरणों की लालिमा राजभवन के मंदिर के कलश पर चमकने लगी थी।

मैंने बिना किसीसे कुछ कहे सीधे कारागार के द्वार पर आया। उसी समय कुशाग्र बाहर निकला था। मेरी अचानक उपस्थिति से वह और वहाँ उपस्थित अन्य सैनिक चौंक पड़े।

मैंने कुशाग्र से हँसते हुए कहा, "मैंने सोचा कि स्वयं तुम्हें ले चलकर तुम्हारे महाराज को सौंप दूँ।"

वह चकित रह गया—"आप क्या सत्राजित् महाराज के यहाँ चलेंगे?"

"क्यों? मैं तुम्हारे महाराज के यहाँ नहीं चल सकता!" मैं फिर हँसा और पूछा, "तुम्हारा अश्व कहाँ है?"

''अश्व तो मुझे बंदी बनानेवाले सैनिकों ने ही ले लिया था।''

मैंने तुरंत अश्व लाने का आदेश दिया और कुशाग्र से बोला, ''तुम यहीं मेरी प्रतीक्षा करो। तब तक तुम्हारा अश्व भी आ जाता है। मैं अभी आता हूँ।''

अचानक मुझे गर्गाचार्य की याद आई। उनके कथनानुसार, अपयश तो मुझे लग ही गया था। अब किसी विपत्ति का भी सामना करना पड़ेगा क्या? यही सोचता हुआ मैं उनके आश्रम की ओर बढ़ा।

आचार्यजी अभी पूजन से उठे थे। मुझे देखते ही वे प्रसन्न हो गए। अभिवादन के बाद सारे प्रसंग से मैंने उन्हें अवगत कराया। उन्होंने कहा कि वे सब जानते हैं। फिर मैंने निवेदन किया—''लगता है, आपकी कही बात सत्य होगी।''

''वह बात मेरी कही नहीं थी।'' गर्गाचार्य बोले, ''वह तो नक्षत्रों और ग्रहों की बात थी। एक बार हमारी-आपकी कही बात झूठ हो सकती है; पर नक्षत्रों और ग्रहों की बात झूठ नहीं हो सकती—यदि उन्हें ठीक से सुना जाए तो।''

अब मैंने अपना प्रयोजन कहा, ''तो मैं इस समय उसी प्रसंग में सत्राजित् के यहाँ जा रहा हूँ। इसके विषय में आपके ग्रह-नक्षत्र क्या कह रहे हैं?''

वे गंभीर हुए। उनकी आँखें मुँद गईं। फिर अँगुलियों पर कुछ गणना करते हुए बोले, ''मुहूर्त तो ठीक है। विपत्ति तो पड़नी है, वह पड़ेगी ही; पर अंत में विजय तुम्हारी ही होगी और तुम्हें लाभ भी होगा।'' फिर वे मौन हुए। कुछ सोचते हुए बोले, ''जितनी जल्दी तुम द्वारका छोड़ दोगे, उतना उत्तम होगा।''

अब आचार्यजी के आदेश का मुझे पालन करना था। उनका आशीर्वाद लेकर तुरंत चल पड़ा। मार्ग में सोचने लगा कि आचार्यजी का संकेत कुछ विचित्र है। इस संबंध में मैंने रक्ताक्ष और दारुक से सलाह की। उनकी भी राय थी कि हर प्रकार की परिस्थिति आ सकती हैं। हमें किसी भी स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए।

चक्र तो सदा मेरे पास रहता था। अब मैंने खांडवप्रस्थ में अग्नि ऋषि द्वारा दिया हुआ विशेष अभिमंत्रित चक्र भी रख लिया। निषंग में कुछ और बाण भरवाए तथा कारागार के बाहर प्रतीक्षा कर रहे कुशाग्र के पास आया। इस बीच उसका अश्व भी आ चुका था।

फिर मैं राजभवन के मृत्युंजय मंदिर में गया। स्नान की आरती अभी-अभी समाप्त हुई थी। नमन करके, प्रसाद लेकर जब मैं चला, आकाश की लालिमा पीली पड़ चुकी थी। क्षितिज पूरा सूर्य उगल चुका था। अब सूर्य का धधकता मुखमंडल मेरे सामने पड़ रहा था; क्योंकि मेरी यात्रा पूर्व दिशा की थी।

□

भरे भाद्रपद में हमने यह यात्रा आरंभ की थी। जब पक्षी भी अपना घोंसला नहीं छोड़ता तब मैं अपनी नगरी छोड़ चुका था। यद्यपि इस साल वर्षा अधिक नहीं हुई थी, पर अनावृष्टि भी नहीं हुई थी। सर-सरिता का यौवन एकदम बौराया नहीं था; पर गदराया अवश्य था। कहीं-कहीं मार्ग संकुचित और कहीं-कहीं अवरुद्ध हो गया था। फिर भी सत्राजित् की नगरी में हम लोग पहुँच ही गए।

नगर प्रहरी और द्वारपाल हमें देखकर चकित थे। उन्हें विश्वास नहीं था कि अब इस नगर में मेरा भी कभी पदार्पण हो सकता है। यह नगर के प्रतिहारियों की ही स्थिति नहीं थी, मार्ग में मिले लगभग सभी प्रहरियों की ऐसी ही मन:स्थिति थी। सबके अभिवादन भी बड़े ठंडे, शिथिल और औपचारिकता से भरे थे। पर मैं उन सभी अभिवादनों का बड़ी मस्ती से मुसकराता हुआ उत्तर देता चला जाता था; जैसे मेरी प्रतिष्ठा पर सत्राजित् के प्रहार का कोई असर ही नहीं। सबसे अधिक आश्चर्य तो उन लोगों को मेरे साथ कुशाग्र को देखकर हुआ।

हम धड़धड़ाते हुए राजभवन में पहुँच गए। तहलका मच गया। चोरी का अभियुक्त और ऐसा निर्भीक व दुस्साहसिक हो नहीं सकता! किसीको विश्वास नहीं। स्वयं सत्राजित् को विश्वास नहीं। सुनते ही वह मुझे देखने अपने अंगरक्षकों के साथ राजभवन से बाहर आया।

उसे सबसे अधिक अचरज कुशाग्र को देखकर हुआ। अचानक उसके मुख से निकला—"अरे, तू अभी जीवित है!"

"भगवान् की कृपा से।" यह बात कुशाग्र ने बड़े सहजभाव से कही थी।

पर सत्राजित् को लगा जैसे वह मुझे (कन्हैया को) भगवान् समझ रहा है। अब उससे रहा नहीं गया। वह एकदम उबल पड़ा—"अरे दुष्ट, तू इसे भगवान् समझने लगा! अरे, यह ऐंद्रजालिक है, ऐंद्रजालिक! जादू करता है! तुमपर भी इसने जादू कर दिया है।"

क्षण भर बाद वह पुन: फनफनाया—"तुमने मेरे आदेश का पालन नहीं किया। मैं तुम्हें मजा चखाता हूँ।" इतना कहते हुए उसने अपनी असि से उसपर प्रहार किया।

मैं तो पहले से ही तैयार था। मैंने उसे बड़ी होशियारी से अपने रथ की आड़ में ढकेल दिया और बड़ी शालीनता से कहा, "कभी भी किसीको दंड देने के पहले उसे सुनने की कृपा किया कीजिए।" फिर मैंने बताया—"इसने आपकी आज्ञा का अक्षरश: पालन किया है।"

"फिर यह बच कैसे गया?"

"भगवान् की कृपा से।" मैंने मुसकराकर कहा, "और इस समय भी यह क्या भगवान् की कृपा से नहीं बचा?" मैंने सत्राजित् को चिढ़ाने के लिए बार-बार 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया और ऐसे कहा जैसे कुशाग्र का भगवान् मैं ही हूँ।

वह चिढ़ता रहा। किटकिटाता रहा। इधर कुशाग्र भी भयग्रस्त हो काँपने लगा था। मैंने उसे डाँटते हुए कहा, "तुमने महाराज की आज्ञा का पालन किया था। इसके लिए तुम्हें सजा भी मिली थी। तुम कारागार की सजा भुगतकर आ रहे हो। बोलते क्यों नहीं?"

अब उसनें भयग्रस्त शब्दों में आधा-अधूरा बताने की चेष्टा की।

"तो इसने दंड भी भोगा और मुक्त भी हो गया!" सत्राजित् को आश्चर्य था।

"क्योंकि इसका अपराध सामान्य था।" मैंने कहा।

"तुम्हारे विरुद्ध सूचना यह प्रसारित कर रहा था और तुमने सामान्य अपराध समझा!"

"यह तो आपकी आज्ञा का पालन कर रहा था। राजाज्ञा का पालन करना तो राजकर्मचारी का धर्म है। इसमें इसका क्या अपराध! अपराध यदि है तो···"

मैं अपना वाक्य पूरा कर पाऊँ, इसके पूर्व ही क्रोधित सत्राजित् बोल पड़ा—"तो अपराध मेरा है!"

"इसे तो आप स्वयं समझें।" मैंने कहा।

"उलटे चोर सेंध में गाए!" वह तड़पा—"प्रहरी, इसे बंदी बनाओ!"

अब मैं भी तड़पा—"खबरदार, जो आगे बढ़े!"

मेरी आवाज और मेरी मुद्रा देखकर सभी ठिठक गए।

अब मैंने कहा, "मेरे विरुद्ध लगाया गया आपका अपराध बिलकुल झूठा है।"

"मैं उसे सिद्ध कर सकता हूँ।" सत्राजित् बोला।

"आप कुछ भी सिद्ध कीजिए। मैं सही चोर को जानता हूँ।"

"सही चोर को जानते हो!" उसे आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, "कौन है सही चोर?"

"प्रसेनजित्।"

"यह सरासर झूठ है!" वह फिर तड़पा।

"प्रसेनजित् को बुलाइए। सारी स्थिति साफ हो जाएगी।"

सत्राजित् को ऐसा लगा जैसे मुझे उसके सारे कुचक्र की गंध हो। उसने कहा, ''प्रसेन तो नहीं है।''

''क्यों नहीं है?'' अब मेरे स्वर में रुक्षता आई—''इसलिए कि चोर को छिपाकर चोरी का आरोप आप मुझपर लगा सकें!''

''मैं झूठा आरोप नहीं लगा रहा हूँ। मेरे पास इसका प्रमाण है।'' उसकी आवाज और तेज हुई।

मेरे लिए भी अब दबना ठीक नहीं था; क्योंकि राजभवन के कई कर्मचारी इकट्ठा हो गए थे। मैंने उससे भी ऊँची आवाज में कहा, ''मेरे पास भी प्रसेन के चोरी करने का प्रमाण है।''

''तुम जानते हो कि तुम क्या कह रहे हो?'' सत्राजित् ने और उबाल खाया।

''मैं सबकुछ जानता हूँ।''

''प्रसेन को चोर कहने का तात्पर्य है कि तुम मुझे चोर कह रहे हो।'' वह क्रोध में काँपने लगा। बोला, ''मेरी ही वस्तु और मैं ही चोरी करूँगा!''

''कभी-कभी मनुष्य का अज्ञान ऐसा ही करता है।'' और उसी समय मुझे हँसी आ गई। मैंने जोर का ठहाका लगाया। मेरी मायावी हँसी ने औरों पर तो प्रभाव किया ही, स्वयं सत्राजित् भौंचक्का रह गया।

''तो प्रमाण दो कि प्रसेन चोर है।''

''तो आप प्रसेन को उपस्थित कीजिए।'' मैंने कहा।

अब सत्राजित् बड़े संकट में पड़ा। प्रसेन तो महल में था नहीं, वह कहाँ से उपस्थित करता। वह बोला, ''मैंने कहा न कि प्रसेन आज नहीं है।''

''आज नहीं है तो कल तो आएगा।'' मैं बोला, ''तो कल आप सामान्य जन की सभा बुलाइए। उसीमें दूध-का-दूध और पानी-का-पानी हो जाएगा।''

''और यदि वह कल भी न आ सके तो?''

''परसों तो आ जाएगा!'' मैंने कहा, ''आपको तो मालूम होगा कि वह कहाँ गया है?''

''शायद वह शिकार खेलने गया है।''

''तब तो वह रात के पहले ही आ जाएगा।'' मैंने हँसते हुए कहा।

मैंने देखा कि वह अपनी ही बातों में फँसता जा रहा है। इसीसे उसकी आवाज भी दबने लगी और भीतर-ही-भीतर वह घबराने भी लगा। उसके मुख से अचानक निकला—''हो सकता है, वह उधर से कहीं और चला जाए।''

"तब आप स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि सारा षड्यंत्र आपका है। आपने उसे मणि लेकर और कहीं भेजा है।"

अब वह और आगबबूला हुआ।

मैंने कहा, "इस प्रकार नाटक करने से काम नहीं बनेगा। प्रजा के सामने उसे आना पड़ेगा। प्रजा भी देख ले कि वास्तविकता क्या है!"

निश्चित रूप से सत्राजित् भीतर से घबराया था। पर मुझे फँसाने के लिए उसने जो जाल बुना था, वह उसे अब भी काफी मजबूत दिखाई दे रहा था। उसे यह भान होने लगा था कि मैं उसे समझ गया हूँ; पर वास्तविकता यह थी कि मैंने सारे तीर अभी तक अँधेरे में ही मारे थे। मुझे यह भी नहीं ज्ञात था कि वह तीर कहाँ पर लगा है। केवल मुझे ही नहीं, औरों को भी उसकी तिलमिलाहट का आभास होने लगा था।

अब तो बात कल तक के लिए टल गई थी। मुझे अतिथिगृह में ठहराया गया; पर चोर की तरह नहीं वरन् एक राजा की तरह—और चोर सिद्ध करने के लिए। इसलिए कोई स्वागत-सत्कार नहीं हुआ। न वातापति और न भंगकार ही—राजपुत्रों में से कोई मुझसे मिलने नहीं आया। यहाँ तक कि अमात्य मंडल के किसी सदस्य के भी दर्शन नहीं हुए।

मेरे पार्श्व में ही रक्ताक्ष का कक्ष था और उसकी बगल में दारुक का। अपराह्न होने को आया, पर पानी तक के लिए किसीने नहीं पूछा। पर इसके लिए मैं तैयार था। कई दिनों तक के लिए खाद्य सामग्री और जल घट रथ में लेकर आया था। मैंने रक्ताक्ष एवं दारुक को अपने कक्ष में बुलाया और हम तीनों ने साथ ही मिलकर भोजन किया। फिर पर्यंक पर लेटा। दारुक तो मेरी प्रकृति से परिचित था। वह चला गया। पर रक्ताक्ष खड़ा रहा।

मैंने पूछा, "क्या बात है, रक्ताक्ष? तुम भी जाकर विश्राम करो।"

"मैं आपको अकेले छोड़ना नहीं चाहता।" उसकी दृष्टि में स्थिति अरक्षित थी।

मैं उसके भय को झकझोरते हुए हँसकर बोला, "तुम मुझे अकेले छोड़ना नहीं चाहते या अकेले होना नहीं चाहते!" एक सलज्ज मुसकराहट उसकी आकृति पर आ गई। वह कुछ बोला नहीं। मैंने उसे समझाया—"तुम इतने से ही घबरा गए। हो सकता है, हमें इससे भी गंभीर विपत्तियों का सामना करना पड़े। तुम जाओ, आराम करो और मेरा द्वार बाहर से बंद कर लो। एक बात सदा याद रखना, जब परिस्थितियाँ असामान्य हों, तब द्वार कभी भीतर से बंद नहीं करना चाहिए।" मैं

उसे मुसकराते हुए समझाता रहा—"अपना द्वार स्वयं बंद करने पर व्यक्ति अपने से अपना बंदी हो जाता है। उसे बंदी बनाने की इच्छा रखनेवालों के लिए चुपचाप बाहर से साँकल चढ़ाना भर रहता है। दूसरे, खुला द्वार हमारी निर्भयता का परिचायक है। एक निर्भयता हजार भय से भी अधिक बलवती होती है।"

मैंने उसे यह भी बताया—"इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम चिंतामुक्त हो जाओ। अपनी सतर्कता हर क्षण बनाए रखो। यद्यपि यहाँ प्राणों का भय नहीं। यदि वे हमें मार ही डालेंगे तो चोर किसे सिद्ध करेंगे!" मुझे फिर हँसी आ गई।

चलते-चलते मैंने उससे इतना और कहा, "फिर भी यदि तुम्हें कभी भी किसी प्रकार की आशंका हो, तो तुम शीघ्र ही मेरे यहाँ चले आना।"

इसके बाद वह मेरा द्वार बाहर से बंद करता हुआ चला गया।

खुले वातायन से दूर-दूर तक सन्नाटा बिछा दिखाई दे रहा था। रह-रहकर वायु के झोंके आ रहे थे। मध्याह्न का तीखापन उनमें नहीं था। आँखें झपने लगी थीं।

मेरे अकेलेपन के दो ही साथी हैं—या तो वंशी या करील के कुंजों की यादें। मन धीरे-धीरे करील के कुंजों में जाने लगा। मैं कह नहीं सकता कि मैं सोया था या जाग रहा था, या दोनों के बीच की स्थिति में था। उन्हीं कुंजों से निकलकर राधा मेरे सामने आ गई थी और इठलाती हुई कह रही थी—'कहो, आज कैसे फँसे? लगता है, तुम्हारी चोरी की आदत आज तक छूटी नहीं है।'

'पर मैंने चोरी नहीं की है। तुम विश्वास करो, राधा, मैंने उसकी स्यमंतक मणि नहीं चुराई है।'

'तुम हमेशा झूठ बोलते रहे हो।' राधा फिर इठलाती हुई बोली, 'तुम तब तो यशोदा मैया से कहते थे—माँ, मैंने माखन नहीं खाया है। मेरे मुख पर जबरन ग्वालबालों ने लगा दिया है। सभी लोगों के विरुद्ध तुम तर्क पर तर्क किए जाते थे। मैं मुसकराकर रह जाती थी। पर इसका मतलब यह नहीं था कि यशोदा मैया तुम्हें चोर नहीं समझती थी।' वह हँसती, इठलाती और कहती चली जा रही थी—'तुम चोर थे। पक्के चोर थे। तुम माखन चुराते थे और कदंब के वृक्ष पर जा बैठते थे। कितना परेशान किया था हमें! किसीकी वस्तु चुराने और उसे परेशान करने में बड़ा मजा आता था तुम्हें। आज भी तुम हमारा हृदय चुराकर बड़ा परेशान कर रहे हो। पर आज तुम्हें चोरी करने का आनंद मिलेगा। पर सत्राजित् यों ही माननेवाला नहीं है। वह बड़ा दुष्ट है। तुम्हारी सारी कीर्ति धूल-धूसरित कर देगा। अब तक की कमाई, तुम्हारे यश की सारी पूँजी ऐसे बिखरा देगा जैसे बच्चे रेत से बनाया अपना

घर खेलने के बाद बिखरा देते हैं।'

'तुम विश्वास करो, राधा, मैंने सत्राजित् की मणि नहीं चुराई है।'

'मुझे बिलकुल विश्वास नहीं है। जन्म का चोर कहीं अपनी आदत छोड़ता है!'

'यदि तुम ही विश्वास नहीं करोगी, राधा, तब तो संसार मुझे चोर कहेगा ही।' मैं बड़ा निराश हुआ।

'कहेगा, निश्चित चोर कहेगा—और यही सत्राजित् चाहता है।' वह फिर इठलाई—'हम सबको परेशान करने का बदला वह कल निकाल लेगा और तुम्हें सिद्ध करना पड़ेगा कि तुम चोर नहीं हो। केवल कहने से काम नहीं चलेगा।'

मैं एकदम घबरा गया। मेरी आँखें खुलीं। अँधेरा हो चुका था। इतनी देर तक मैं सोता रह गया। मेरी दृष्टि वातायन की ओर गई। बाहर मशालें जलाई जा रही थीं; पर मेरे कक्ष में अँधेरा ही था। पीछे से मेरा बदन कोई बड़े ममत्व से सहला रहा था। बड़ा मादक स्पर्श था। मुझे लगा, वह राधा ही तो नहीं है। अब भी मैं नींद के झोंके में था, स्वप्न की पकड़ में था।

मेरे मुख से निकला—''राधा!''

''मैं राधा नहीं, सत्यभामा हूँ।'' उसने कहा।

मैंने मुड़कर देखा, वह सत्यभामा थी।

''इतने दिन हो गए, पर आप राधा को भूल नहीं पाए।'' उसने कहा।

''कैसे भूल पाऊँ; जबकि वह मुझे नहीं भूल पाती!'' मैंने कहा, ''जो मुझे नहीं भूलता, मैं उसे कभी नहीं भूलता।''

वह एकदम खिल उठी।

''मैं भी शायद तुम्हें (उसकी प्रेमसिक्त आत्मीयता 'आप' से तुरंत 'तुम' पर उतर आई) कभी न भूल पाऊँगी।'' उसने कहा और निढाल होकर मेरे ऊपर ढुलक गई।

मैंने तुरंत करवट बदली और कहा, ''इस समय तुम्हारे पिता के क्रोध की तलवार मुझपर लटक रही है, जो तुम्हें भी चोट पहुँचा सकती है। यह तो तुम जानती ही हो कि मेरा द्वार खुला है। कभी भी कोई आ सकता है। मैं तो विपत्ति में हूँ ही और तुम भी विपत्ति में पड़ सकती हो।''

''पर सब समझते हैं कि तुम्हारा द्वार भीतर से बंद है। उसीसे सूचना मिली कि संध्या का जलपान ले आनेवाला भी यही सोचकर लौट गया है और शायद दीप प्रज्वलित करनेवालों को भी यही भ्रम हुआ है। मैं तो पिछले द्वार से

आई हूँ। यहाँ से मेरा आवास भी निकट पड़ता है। मार्ग में भी मैंने अपनी परिचारिकाओं को लगा रखा है। इस समय मैं बिलकुल निर्भय हूँ; क्योंकि तुम्हारी छाया में हूँ।'' इतना कहते हुए उसने अपनी दोनों भुजाएँ माला की तरह मेरे गले में डाल दीं। उसने बड़ी विह्वलता से कहा, ''मैं तुम्हारे बिना बिलकुल नहीं रह सकती। मेरा उद्धार करो।''

''एक चोर के प्रति ऐसा समर्पण!'' मैंने कहा, ''सत्यभामा, क्या तुम अपने पिता के साथ धोखा नहीं कर रही हो?''

''नहीं, बिलकुल नहीं; वरन् वह आपके साथ धोखा कर रहे हैं।''

''यह तुम किस आधार पर कहती हो?''

''मैं जानती हूँ कि स्यमंतक मणि आपने नहीं चुराई है।''

''तब किसने चुराई है?''

''यह तो मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकती।'' सत्यभामा बोली, ''पर यह मैं जानती हूँ कि सात-आठ दिन पहले एक रात पिताजी एवं चाचाजी में बड़ी देर तक बंद कक्ष में मंत्रणा होती रही और दूसरे दिन चाचाजी राजभवन में नहीं दिखाई दिए। उस दिन तो कोई बात नहीं थी, पर रात में चाचीजी अत्यधिक व्यग्र दिखाई दीं। रात बीतने पर तो वह और भी व्याकुल हो गईं। चाचाजी के न आने पर वह तरह-तरह की आशंकाओं में डूबने-उतराने लगीं। कल से उनकी दशा और भी बिगड़ गई है। उन्होंने मुझसे यहाँ तक कहा कि उन्हें इस झमेले में नहीं पड़ना चाहिए था।''

सत्यभामा बोलती जा रही थी—''मैंने चाची को बीच में टोका—'किस झमेले में?' तो वह एकदम चुप हो गईं। ऐसा लगा कि उन्होंने अपनी जबान बड़े जोर से बंद कर ली और मेरे पास से तुरंत उठकर चली गईं।''

''और तुम्हारे पिताजी की क्या स्थिति है?'' मैंने पूछा।

''वे भी काफी घबराए हुए हैं।'' सत्यभामा बोली, ''यदि घबराए हुए न होते तो आपको सुरक्षित न छोड़ते। आपके आने के बाद से तो जैसे विक्षिप्त हो गए हैं।''

''वे जब मुझे देखते हैं, तभी विक्षिप्त हो जाते हैं।'' मैंने कहा।

''इस बार तो वे आपके आने से पहले ही विक्षिप्त हो गए हैं।'' सत्यभामा ने यह भी बताया—''वे इसे जानते हैं कि मेरा झुकाव आपकी ओर है। आज प्रात: नंगी तलवार लेकर मेरे कक्ष में चले आए और पूछने लगे—'तुमने किसीको द्वारका तो नहीं भेजा है?'

" 'नहीं।' मैंने कहा। फिर भी उन्होंने मुझे शपथ दिलाई और मेरे 'नहीं' कहने पर वे यह बड़बड़ाते हुए कक्ष से निकल गए कि 'तब तो उसे इस विषय में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होना चाहिए। यदि कन्हैया को मालूम हो गया तो वह प्रसेन की भी हत्या करा सकता है।' "

सत्यभामा से हो रही इस बातचीत में काफी समय निकल गया था। अब उसे लगा कि उसकी खोजाई हो रही होगी; क्योंकि आजकल उसपर सजग दृष्टि रखी जा रही है।

उसने उठते हुए बताया—"अपने देवता के लिए नैवेद्य ले आई थी, जो सामने मंचक पर रखा है।"

वह चली गई, अंधकार में चमकती कुछ रेखाओं को छोड़कर। उन रेखाओं से कोई चित्र नहीं बन रहा था; पर कुछ आभास अवश्य लग रहा था। प्रसेन की आकृति अनेक रेखाओं और मुद्राओं में सामने आ रही थी। इसके पूर्व जब मैं आया था तब की प्रसेन की संदेह भरी सक्रियता को मेरा मन बड़ी सरलता से स्यमंतक मणि से जोड़ रहा था।

मैं पर्यंक से उठा और द्वार खोलकर बाहर आया।

अतिथिगृह के प्रहरी ने देखते ही कहा, "आपका द्वार बंद था, इसीसे दीप प्रज्वलक लौट गया है। मैं अभी बुलाता हूँ।"

शीघ्र ही दीप प्रज्वलक बुलाया गया। कक्ष के दीप जल गए। मैंने मंचक पर देखा, एक पात्र में नवनीत और दूसरे में दुग्ध रखा था। दुग्ध की उष्णता अभी भी बनी थी। भूख तो लगी ही थी। मैंने तुरंत दारुक व रक्ताक्ष को बुलाया और सब मिलकर उसपर टूट पड़े।

रक्ताक्ष बोला, "चलिए, महाराज ने आपका इतना ध्यान तो रखा; पर मेरे यहाँ जो जलपान भेजा गया था, उसे किसी तरह गले के नीचे उतारा गया।"

"पर यह जलपान महाराज ने नहीं भेजा है।" मैंने कहा।

दोनों की दृष्टियों ने पूछना आरंभ किया—'तब किसने भेजा है?'

"यह सब भगवान् की कृपा है।" मैंने कहा।

रक्ताक्ष बड़े ध्यान से मुझे देखने लगा। दारुक को उतना आश्चर्य नहीं था। वह मेरी रहस्यमय जीवन-पद्धति से बहुत कुछ परिचित था।

मैं एक बात से चकित था। जिस पात्र में सत्यभामा मेरे लिए सामग्री लाई थी, मुझे वह अपने ही राजभवन के लगे। द्वारका से यहाँ कैसे चले आए? सोचने की बात थी ही। शायद सत्यभामा ने स्वयं के बचाव के लिए ऐसा किया हो। यदि

इन पात्रों को सत्राजित् या उसके कर्मचारी देख भी लें तो यही समझेंगे कि द्वारका से ही मैं इन्हें अपने साथ लाया हूँ। पर सत्यभामा ने इन्हें पाया कहाँ से?

"क्या सोचने लगे आप?" रक्ताक्ष ने टोका।

"बहुत सी बातें ऐसी होती हैं, जो बताई नहीं जातीं।" मैंने हँसते हुए कहा।

रक्ताक्ष चुप हो गया।

जलपान समाप्त कर मैं भी उन लोगों के साथ बाहर आया। कुछ देर तक उन्हींके साथ टहलता रहा। हवा में लहराती उन मशालों की लपटों के अतिरिक्त किसी और प्रकार का कंपन उस सन्नाटे में नहीं था। दूर पीपल के वृक्ष के नीचे दो-एक व्यक्ति बातें करते अवश्य दिखाई पड़ रहे थे। शायद वे गुप्तचर हों और मुझपर दृष्टि रखने को लगाए गए हों। अन्यथा सारा राजभवन सुनसान और उदासी ओढ़े रहा।

यह असामान्य था। संध्या समय और यह उदासी, कुछ विचित्र-सा लगा। यह तो किसी राजभवन के लिए राग-रंग का समय था। नृत्य-संगीत का समय था। सुनसान और सन्नाटे का समय नहीं।

पर प्रकृति अपने में मस्त थी। आकाश में मेघ घिरे चले आ रहे थे। हवा तेज थी और बादलों की गड़गड़ाहट उस सन्नाटे को चीरती निकल जा रही थी। उन दोनों को छोड़कर मैं अपने कक्ष में आया और संध्या-पूजन में लग गया।

कितना समय पूजन और ध्यान में लगा, कह नहीं सकता; पर अँधेरा अधिक गाढ़ा हो चला था। प्राणायाम के बाद मैं शरीर को शिथिल छोड़कर आराम करता था। इसीसे धरती पर ही मृगचर्म के आस्तरण पर ढुलक गया और शवासन में पड़ा रहा।

अचानक फिर सत्यभामा उपस्थित हुई; पर इस बार पिछले द्वार से नहीं, एकदम मुख्य द्वार से। वह भी सरसराती हुई।

"लगता है, तुझे अपने पिता से भी भय नहीं है, सत्या!"

"इस समय तो नहीं है।" वह मुसकराते हुए बोली, "वरन् इस समय मैं उन्हींके काम से आई हूँ।"

मैं विस्मय से उसे देखता रहा।

उसने बताया—"प्रसेन चाचा की खोज में जितने चर भेजे गए थे, वे वापस लौट आए हैं। कहीं उनका पता नहीं चला। पिताजी चिंतित हैं। सबसे अधिक तो चाची दुःखी हैं। वह रोते-रोते श्लथ हो गई हैं। उन्होंने पिताजी के नाकों दम कर

रखा है। घबराकर पिताजी ने मुझे बुलाया और कहा, 'अतिथिगृह में उस चोर के पास जाओ और पता लगाओ कि उसने प्रसेन को कहाँ छिपा रखा है!' ''

उसने यह भी बताया—''उनका विश्वास है कि तुम मुझे सबकुछ बता दोगे; क्योंकि तुम मुझे बहुत अधिक मानते हो।''

''यह उन्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं तुम्हें बहुत मानता हूँ?''

''यह तो वे ही जानें।'' उसने कहा। फिर खिलखिलाते हुए बोली, ''आप मेरे पिता को अंधा समझते हैं या नासमझ, या फिर दोनों? अरे, पिता अपनी पुत्री की सक्रियता से इतना परिचित तो होता ही है कि वह इस तथ्य का अनुमान लगा सके, जिस तथ्य तक मेरे पिताजी पहुँचे हैं।''

मुझे हँसी आ गई। मैं बोला, ''पर वे मेरे विषय में गलत तथ्य तक पहुँचे हैं। मैं प्रसेनजित् के बारे में कुछ भी नहीं जानता। आखिर उन्हें मेरे बारे में संदेह क्यों हो रहा है कि मैंने ही उसे छिपाया है?''

''इसलिए कि आपने अपने ऊपर लगाया गया चोरी का आरोप उसपर डाल दिया है और कहा है कि प्रसेनजित् के उपस्थित होते ही दूध-का-दूध और पानी-का-पानी हो जाएगा। इसीलिए उनका सोचना है कि आपने उन्हें कहीं-न-कहीं अवश्य छिपा दिया है।''

''उनका कहना एकदम गलत है। वस्तुतः मैं प्रसेनजित् के संबंध में बिलकुल नहीं जानता।'' मैंने कहा, ''पर मेरा सोचना अब अधिक सही लगता है कि इस चोरी का प्रसेन से कोई-न-कोई संबंध अवश्य है।''

अब सत्यभामा भी कुछ सोचने लगी। स्पष्ट लगा कि उसकी भी मानसिकता इस उलझे सूत्र की किसी गुत्थी को बड़ी गंभीरता से देख रही है।

थोड़ी देर बाद वह स्वयं बोली, ''पर मैं अपनी चाची को कैसे समझाऊँ? उनके आँसू तो थमते ही नहीं हैं।''

''मैं क्या कहूँ! मैं तो उनसे मिलना भी उचित नहीं समझता; क्योंकि मैं अभियुक्त हूँ।'' मैंने कहा, ''यदि तुम चाहो तो तुम मेरी ओर से उनसे कह सकती हो, क्योंकि पत्नी पति की अर्द्धांगिनी होती है। पति के पाप और पुण्य में पत्नी का भी आधा भाग होता है। उन्हें तो उसे भोगना ही होगा, चाहे वह हँसकर भोगें या रो कर। मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता ही है।''

☐

यद्यपि प्रातः से ही भाद्रपद का उन्माद आकाश में दिखाई दे रहा था, घने मेघ छाए थे, नभ रात से ही पसीज रहा था; पर सुबह से ही घनघोर वर्षा आरंभ हो

गई थी। मैंने सोचा, आज बुलाई गई प्रजा की सभा संकट में पड़ जाएगी; पर मध्याह्न तक वर्षा थम गई। आकाश भी साफ होने लगा। सूर्य निकल आया। प्रकृति की आकृति भी धुल-पुँछकर आकर्षक हो गई थी।

वस्तुत: प्रकृति ने भी मेरी सहायता की। लोग बड़ी संख्या में राजभवन के प्रांगण में इकट्‌ठा होने लगे और अपराह्न तक इतने लोग आ गए कि जितनों की कल्पना सत्राजित् के लोगों ने भी नहीं की होगी। पर सत्राजित् इस सभा के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। उसने महामात्य से कहा भी कि आज सभा को स्थगित करो और प्रजा में यह प्रसारित करो कि दुर्दिन के कारण आज की सभा स्थगित की जाती है। पर प्रकृति की परिवर्तित मुद्रा के कारण ऐसा नहीं हो सका।

जल्दी-जल्दी में मंच बनाया गया और मुझे एक बड़े मंच के सामने एक छोटे मंचक पर उपस्थित रहने के लिए विवश किया गया। निश्चित ही प्रजा में एक ऐसा भी वर्ग था, जिसे यह अच्छा नहीं लगा। स्वयं सत्यभामा उस सभा में उपस्थित नहीं थी। उसका आसन खाली था। दोनों राजकुमार—वातापति और भंगकार उपस्थित थे।

सबसे पहले महाराज के आदेश पर महामात्य ने दो-चार पंक्तियों का लिखा आरोपपत्र पढ़कर सुनाया—

''सम्मान्य प्रजाजनो! आपको जानकर बड़ी पीड़ा होगी कि आप द्वारा तथाकथित द्वारकाधीश ने महाराज सत्राजित् की अद्‌भुत और विलक्षण स्यमंतक मणि चुरा ली है। यह कार्य उस समय हुआ है, जब ये खांडवप्रस्थ से लौटते समय यहाँ आए थे। आरोप सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण महाराज के पास हैं।''

इतना कहने के बाद महामात्य ने अपना स्थान ग्रहण किया।

मैं तो खड़ा ही था। मैंने उच्च स्वर में कहा, ''अच्छा होता, इस आरोप के संबंध में जो भी प्रमाण महाराज के पास हैं, उन्हें भी वे हम सबके समक्ष रख दें, तब मुझे जो भी निवेदन करना होगा, करूँगा।''

सत्राजित् खड़ा हुआ। उसने बिना किसी भूमिका के कहा, ''बहुत दिनों से कन्हैया की दृष्टि मेरी स्यमंतक मणि पर थी। एक बार इसने अपने नाना के लिए मुझसे उधार माँगने की भी चेष्टा की थी। मेरे साफ इनकार कर देने के बाद इसकी दृष्टि बराबर मेरी मणि पर लगी रही। अंत में इसे अवसर मिल ही गया। खांडवप्रस्थ से लौटने के बाद यह सशस्त्र सैनिकों के साथ मेरे यहाँ ठहरा और उसी समय रात को छिपकर इसने मेरी अमूल्य मणि चुरा ली।''

''यह सरासर झूठ है!'' मैं जोर से चिल्लाया।

"यदि झूठ है तो अपनी चोरी का प्रमाण देखो।" इतना कहते हुए सत्राजित् ने एक मणि अपने पास से निकाली और लोगों को दिखाते हुए बोला, "इसे ध्यान से देखिए।" इसके बाद उसने वह मणि मेरे पास भिजवाई—"इसे अच्छी तरह देख लो, यह तुम्हारी ही है न?"

मैं उसे देखते ही समझ गया कि यह योजना कितने पहले से बनाई गई थी। भीतर से उलझते हुए भी बाहर से एक सुलझती हँसी के बीच बड़े सहजभाव से मैं बोला, "हाँ, यह मणि मेरी है और इसका संबंध प्रसेनजित् से है। उन्हें उपस्थित किया जाए, इसका रहस्य स्वयं खुल जाएगा।"

"यह एकदम झूठ है! इसका संबंध तुम्हारी चोरी से है।" सत्राजित् भरी सभा में दहाड़ने लगा—"यह सर्वविदित है कि स्यमंतक मणि सदा मेरे पूजास्थल पर भगवान् सूर्य की प्रतिमा के पास रहती थी। चोरी की रात अभियुक्त चुपचाप उस मंदिर में गया। उसने मणि चुराई और निकलते समय मेरे भाई ने इसे देख भी लिया। उसने इसे पकड़ने की चेष्टा की। छीना-झपटी हुई और इसी छीना-झपटी में इसके मुकुट की यह मणि वहीं गिर भी गई। यदि यह मणि न होती तो शायद मैं कोई प्रमाण दिखा नहीं पाता इस चोर के विरुद्ध।"

मैंने बड़े सहजभाव से प्रतिवाद किया—"जो आपने कथा सुनाई है, वह एकदम मनगढ़ंत है।" मैं अपनी मुद्रा से कभी सिद्ध नहीं करना चाहता था कि यह गंभीर आरोप है। मैं जोर से हँसा और बोला, "शायद आपने ऐसे चोर के बारे में न सुना हो, जो मुकुट लगाकर चोरी करने गया हो। फिर मेरे मुकुट के जिस स्थान से यह मणि निकाली गई है, मैंने वहाँ दूसरी मणि नहीं लगाई है। मैं लगा सकता था; पर आपको दिखाने के लिए वह स्थान खाली छोड़ दिया है, जिसे देखकर आप भी वास्तविकता का अनुमान लगा लें।" इसके बाद चारों ओर घूमकर मैंने मणि का वह रिक्त स्थान दिखाया और कहा, "आपने देखा, यह मणि कितने मोटे स्वर्ण तार से बँधी थी! जो मणि युद्धों में भी न गिर सकी, वह मामूली छीना-झपटी में गिर गई। यदि आप सोचते हों कि मणि का तार ढीला था, तो क्या उस ढीलेपन से यही मणि निकलकर गिर सकती थी? और मणियाँ भी तो गिर सकती थीं।"

मैं मुसकराते हुए कहता गया—"मेरे मित्रो, इस मणि के पीछे एक गंभीर रहस्य है, जिसका उद्घाटन प्रसेनजित् के उपस्थित रहने पर ही हो सकता है।"

अब सत्राजित् घबराया। वह बोला, "पर वह तो इस समय नहीं है।"

"और शायद इसीलिए नहीं है कि उसकी चोरी का अपराध आप मेरे सिर पर मढ़ सकें।"

"क्या यह नहीं हो सकता कि उसके न रहने का तुम लाभ उठा रहे हो?" सत्राजित् बोला, "मुझे तो आशंका हो चली है कि हो न हो, उसके गायब करने में भी तुम्हारा ही हाथ है!"

"आशंकाओं के बल पर आरोप नहीं लगाया जा सकता।" मेरी आवाज और तेज हुई।

"पर तुम इस मणि के बारे में क्या कहते हो?" उसने फिर मेरे मुकुट की मणि के बारे में लोगों का ध्यान खींचा।

"यदि आप इस मणि के बारे में सुनिएगा तो उबल पड़िएगा।" अब मैंने पूरी कथा संक्षेप में सुनानी आरंभ की—"खांडवप्रस्थ से लौटते समय जब मैं यहाँ अतिथिकक्ष में ठहरा था, उस समय मैं सोया नहीं था वरन् सोने का अभिनय कर रहा था। पूरी तरह सजग था। उस दिन महाराज से मेरी भी झड़प हो गई थी। इसलिए हर प्रकार की गतिविधि पर मेरा ध्यान था। लगभग अर्द्धरात्रि के समय प्रसेनजित् मेरे कक्ष में आए। मैं यह भी सोच रहा था कि इस तरह चुपचाप और आधी रात को मेरे कक्ष में आने के पीछे इनकी मंशा क्या है। वे मेरी हर वस्तु टटोलते रहे और अंत में मेरे मुकुट की यह मणि निकालकर ले गए। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि यह मणि इतनी मजबूती से जड़ी थी कि निकल नहीं रही थी। उन्होंने अपनी कमर से कटार निकाली। उससे तार काटकर इसे बाहर निकाला। तब मुझे क्या मालूम था कि यह सब मेरे विरुद्ध रचे जा रहे षड्यंत्र का ही एक भाग है।"

जनता चुपचाप मुझे सुनती रही। मेरे कहने का उसपर प्रभाव भी पड़ा; पर सत्राजित् टस से मस न हुआ। वह इतना बड़ा षड्यंत्र रच चुका था कि अब वह उससे पीछे हट नहीं सकता था। उसने मेरी बातों का उत्तर न देकर अपने आरोप को ही दुहराया और मेरी अस्मिता को ललकारते हुए बोला, "तुम चोर हो। तुम्हारी मंशा बहुत दिनों से उस मणि को ले लेने की थी। अंत में तुमने उसकी चोरी की और अपनी चोरी छिपाने के लिए तुमने प्रसेन का भी अपहरण किया। अब तुमपर दो गहरे आरोप हैं—एक चोरी का और दूसरा अपहरण का।" उसने मेरी प्रतिष्ठा को एकदम धूल में मिलाते हुए कहा, "तुम तो भगवान् हो न! भगवान् सबकुछ जानता है। अंतर्यामी होता है। यदि तुमने मणि नहीं चुराई है तो तुम्हें जानना चाहिए कि वह कहाँ है?"

"हाँ-हाँ, प्रभु, आपको जानना चाहिए।" भीड़ के एक वर्ग से आवाज आई—"आप बताइए और इस आरोप से मुक्त हो जाइए।"

इन लोगों की आवाज से सत्राजित् को बड़ा बल मिला। वह और जोर से गरज उठा—"अब तुम्हारा भगवानत्व बहुत दिनों तक लोगों को धोखे में नहीं रख सकता। तुम्हारे दिन पूरे हो गए हैं। तुम्हारी नैतिकता नंगी हो गई है। वह दिन दूर नहीं है, जब तुम मथुरा की तरह द्वारका भी छोड़कर भाग जाओगे।"

मुझे क्रोध आ गया। मैं कभी सार्वजनिक रूप से इतना अपमानित नहीं हुआ था। मेरी अँगुली चक्र पर गई भी। जी में आया कि भरी सभा में सत्राजित् की गरदन उतार दूँ; पर मेरे विवेक ने क्रोध को दबाया। सत्राजित् को इस समय मारने से क्या लाभ! उसका आरोप तो जीवित ही रहेगा। फिर तो वह हजारों मुखों से गरजने लगेगा।

मैंने तुरंत अँगुली उठाई और उसी क्रोध में तड़पा—"सत्राजित्, मैं तेरे आरोप को झूठा सिद्ध करके ही रहूँगा। मैं ही पता लगाऊँगा कि तूने प्रसेन को कहाँ छिपाया है और तेरी मणि कहाँ है!"

"तू क्या झूठा सिद्ध करेगा!" सत्राजित् बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से हँसा—"मेरा आरोप सत्य है, तथाकथित भगवान्! यह जान लो कि प्रकाश कभी अँधेरा नहीं होता और सत्य कभी झूठा नहीं होता।"

मेरे रक्त में और उबाल आया। शायद मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं रही। मैंने एक कठोर संकल्प किया—"जब तक मैं स्यमंतक मणि का पता नहीं लगा लेता तब तक द्वारका नहीं जाऊँगा; और यदि पता न लगा सका तो यहीं आकर आप सबके सामने आत्मदाह करूँगा।"

मेरे इतना कहते ही सभा एकदम सकते में आ गई। पर सत्राजित् अब भी अट्टहास कर रहा था।

मैंने तुरंत वहाँ से रथ मुड़वाया और राजभवन से बाहर आया। जिसने भी मुझे देखा, उसे मैं तप्त लौह-सा धधकता दिखाई दिया। वह चुपचाप आँखें नीची करके रह गया।

मैं बिना कुछ सोचे-समझे नगर के पश्चिम की ओर बढ़ता चला गया। मैं यह भी नहीं देख रहा था कि मेरे साथ कोई है या नहीं। आकाश के मेघ घने होते जा रहे थे। बरसने भी लगे थे। अचानक जोर की बिजली चमकी और मुझे कुछ सोचने के लिए विवश किया।

तब तक पीछे से किसी अश्वारोही की आवाज सुनाई दी—"आगे का रास्ता रथ के लिए उपयुक्त नहीं है।"

मुझे लगा, यह तो जानी-बूझी आवाज है। मैंने पीछे मुड़कर देखा, कुशाग्र

अपने अश्व पर चला आ रहा था।

आते ही उसने बड़ी आत्मीयता से मेरे चरण छुए और बोला, ''महाराज, चौमासे में यह यात्रा आपके अनुकूल नहीं पड़ेगी।''

''अनुकूल रास्ते पर तो सब चलते हैं।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''पर संकल्प लिये व्यक्ति का रास्ता उसकी संकल्प शक्ति स्वयं बताती है।''

वह चुप हो गया। फिर धीरे से बोला, ''पर रथ लेकर अब आगे बढ़ना संभव नहीं है।''

''हाँ, यही तो मैं सोच रहा था।''

मेरे मुख से इतना निकला था कि उसने अपना अश्व देने का विनम्र प्रस्ताव किया और बोला, ''आपने मुझे जीवनदान देकर जो उपकार किया है, उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता।''

''न कोई किसीको जीवनदान दे सकता है और न कोई किसीका जीवन ले सकता है। यह सब तो नियति के हाथ में है। फिर भी तुम ऐसा समझते हो, यह तुम्हारी महानता है।'' मैंने उसकी कृतज्ञता को और द्रवित किया; क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से इसकी बड़ी आवश्यकता थी।

जब मैंने देखा कि वह मेरे प्रभाव में पूरी तरह आ गया है, तब मैंने उसका अश्व स्वीकारते हुए पूछा, ''अच्छा, यह बताओ कि मुझपर लगाए गए आरोपों के प्रति तुम्हारी प्रजा की क्या धारणा है?''

''प्रजा तो स्पष्ट मानती है कि आप पर यह आरोप झूठा है; पर यह भी सही है कि राजभवन में स्यमंतक मणि नहीं है; क्योंकि उसकी जो नित्य पूजा होती थी, अब नहीं होती। अवश्य ही वह चोरी चली गई है। भले ही वह चोर घर का ही हो।''

''घर का कौन हो सकता है?''

उसने भी प्रसेन का नाम लिया।

मैंने उससे पूछा, ''यह तुम किस आधार पर कह सकते हो?''

उसने सोचते हुए कुछ विस्तार से बताया—''जिस दिन मैं मुनादी करता आपके यहाँ गया था, मुझे लगता है, उसी दिन उष:काल के पूर्व यह कांड हुआ होगा; क्योंकि इधर मुझे द्वारका जाकर सूचना प्रसारित करने के लिए बुलाया गया और उधर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक प्रसेन अपने अश्व पर निकला। यह भी कहा जाता है कि महाराज स्वयं उसे छोड़ने बाहर तक आए थे और दोनों बड़ी प्रसन्न मुद्रा में थे।''

''तो क्या उस दिन के पूर्व मणि राजप्रासाद में थी?'' मैंने शंका की।

''बिलकुल थी।'' उसने विश्वासपूर्वक कहा, ''उसके एक दिन पूर्व उसका पूजन हुआ था।''

''तो इसका मतलब है कि प्रसेन उसे लेकर दस या ग्यारह दिनों पूर्व गया होगा।'' मैंने गणना करते हुए कहा, ''अभी सात दिनों तक तो तुमने हमारे यहाँ कारावास का दंड भोगा है।'' मैं फिर सोचने लगा—''इसका तात्पर्य है कि प्रसेन लंबी यात्रा पर गया है।''

''पर लगता ऐसा नहीं है।'' कुशाग्र बोला, ''वह सदा की भाँति आखेट की मुद्रा में ही निकला था; किंतु अभी तक नहीं आया। इसीसे तो महाराज और उनका परिवार चिंतित है।''

''अब तुम्हें क्या लगता है?''

वह मौन हो गया। फिर बोला, ''वह गया आखेट के लिए ही था। कहीं स्वयं आखेट न हो गया हो। और यह भी हो सकता है कि वह कहीं जाकर छिप गया हो।''

''कहाँ छिप सकता है?'' मैंने कुशाग्र को और कुरेदने की चेष्टा की।

''कहाँ बताया जाए! जिधर दृष्टि जाती है, वहीं सत्राजित् महाराज का विरोध दिखाई देता है।'' उसने कुछ सोचते हुए पूछा, ''आपका मन किधर जाने को कह रहा है?''

''अभी तक तो मेरे पास आखेट ही एक सूत्र है, अतएव शक्तिमान् पर्वत से होता हुआ पूर्व की ओर जाने की सोच रहा हूँ।''

''तब आप माहिष्मती अवश्य जाइए। वह नर्मदा के तट पर बसी कृतवर्मन की राजधानी है। कृतवर्मन सत्राजित् का साढ़ू है। यों संभावना तो कम ही है कि प्रसेन वहाँ गया होगा; क्योंकि वह भी आजकल सत्राजित् से नाराज ही है। हो सकता है, वह आपकी कोई सहायता करे।''

मुझे तो अंधकार में टटोलना था। कुशाग्र की सलाह मानने के अतिरिक्त मेरे पास और कोई मार्ग नहीं था। मैं रथ से उतरकर अश्व पर आया। दारुक बड़ी कारुणिक दृष्टि से मुझे देखता रहा। उसकी आँखें भर आई थीं। वह मेरे चरणों पर गिरा और किसी तरह बोला, ''द्वारका जाकर क्या करूँगा, महाराज?'' इतना कहते-कहते उसके धीरज का बाँध एकदम टूट गया और वह फफककर रोने लगा।

मैंने सुना तो बहुत था, पर अब समझ में आया कि राम को वनवास के लिए छोड़ते समय उनके सारथि सुमंत्र की क्या दशा हुई होगी।

"तू घबराना मत। मैं यथाशीघ्र आऊँगा।"

"तो मैं द्वारका जाकर क्या कहूँगा कि मैंने आपको कहाँ और किस स्थिति में छोड़ दिया?"

"तेरे मन में जो आए, वह द्वारकावासियों से कह देना। अब मेरा मन तेरे मन के माध्यम से ही बोलेगा।" मैंने उसे यह भी निर्देश दिया कि कुशाग्र जहाँ तक जाना चाहे वहाँ तक अपने रथ पर लेते जाओ। फिर मैंने रक्ताक्ष से कहा, "जितना आवश्यक सामान हो, अपने और मेरे अश्व पर लाद लो।" और फिर हम दोनों चल पड़े।

जब तक हम दिखाई पड़ते रहे, दारुक हमें देखता रहा और तब तक दृष्टि-पथ में घूम-घूमकर हम उसे देखते रहे। रथ के घोड़ों की हिनहिनाहट बहुत दूर तक हमारा पीछा करती रही।

□

तीन
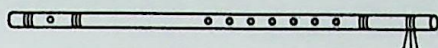
लोगों की कल्पना से दूर होना भी अपनी पहचान खोना है। सचमुच मैं अपनी पहचान खोकर माहिष्मती में प्रवेश कर रहा था। कभी मैं विरथ भी हो सकता हूँ, यह किसीके सोच में शायद ही आया हो। इसीलिए अश्व पर चढ़ा जा रहा था; पर माहिष्मती के लोगों ने मुझे पहचाना नहीं। आश्चर्य था कि अब भी मेरे सिर पर मोर मुकुट था; पर परिस्थितियों के गाढ़े आँचल ने जैसे उसे ढक लिया हो। जिन्होंने पहचाना भी, वे भी इस शंका में खो गए कि इस तरह और चातुर्मास में कृष्ण यहाँ कैसे? इसीलिए नगर में मेरा स्वागत एकदम ठंडा था।

यहाँ तक कि राजभवन के द्वार पर ही मुझे रोक लिया गया। जब मैंने अपना परिचय देकर महाराज के यहाँ सूचना भेजने का आग्रह किया, तब मैं पहचाना गया।

कृतवर्मन दौड़ा आया और मुझे गले लगाते हुए विस्मय से बोला, ''इस समय और इस स्थिति में कैसे आगमन हुआ?''

वह मुझे और रक्ताक्ष को सीधे राजभवन में ले गया। मार्ग में ही मैंने उसे सारी कथा सुना दी और अपने संकल्प की भी चर्चा की। वह बड़ा दुःखी हुआ।

उसका भी कहना था—''तुम्हें ऐसी प्रतिज्ञा उस समय नहीं करनी चाहिए। जानते हो कि वर्षा ऋतु चल रही है। प्रकृति की मुद्रा किसी भी समय भयंकर हो सकती है।''

मैंने हँसते हुए कहा, ''प्रकृति की प्रतिकूल मुद्रा में मेरा जन्म हुआ। यही मुद्रा मेरे भाग्य में पड़ी है और इसीको झेलने में मुझे आनंद आता है।''

''यह भी तुम्हारा अहं है।'' वह छूटते ही बोला और मैं चुप हो गया।

एक बात और। कृतवर्मन का और मेरा वय लगभग बराबर है। भीतर-ही-भीतर वह भले ही मुझसे जलता रहा हो, पर ऊपर से मेरी-उसकी पटती बहुत थी। शायद आपको याद हो कि पांडवों को दिए जानेवाले यादवों के अंशदान का पहले

इसने विरोध किया था; पर जब सत्राजित् ने विरोध की उद्घोषणा की तब इसने अपना भाग चुपचाप दे दिया था; क्योंकि सत्राजित् से इसकी पटती नहीं थी—और अब तो दोनों में छत्तीस का संबंध हो गया था।

इन सबके मूल में सत्यभामा थी। उसकी ओर वह बेतरह आकृष्ट था। वह सत्यभामा से विवाह करना चाहता था। उसने स्वयं प्रस्ताव भी भेजा था; पर सत्राजित् का कहना था कि बेटी और मौसे का विवाह कैसा? सत्राजित् के इस सोच में प्रसेन की प्रमुख भूमिका थी।

इस बात का पता चलते ही वह प्रसेन का शत्रु हो गया। शायद इसीलिए जब मैंने उससे प्रसेन के संबंध में पूछा तो वह एकदम भड़क गया। बोला, "वह नीच मेरे यहाँ क्यों आएगा?"

"आपका पुराना मित्र है। आप दोनों बहुधा शिकार खेलने साथ ही जाते थे।" मैं मुसकराते हुए कहता गया। वह भीतर-ही-भीतर चिढ़ता गया। "कहते हैं, इस समय भी वह शिकार के लिए ही निकला है। बहुधा आखेटक अपने जाने-बूझे मार्ग पर ही जाते हैं। इसीलिए आप उसके मार्ग के संबंध में मुझसे सही अनुमान लगा सकते हैं।"

"इसके विषय में तुमने सत्यभामा से क्यों नहीं पूछा?" मेरे प्रति उसके आंतरिक जलन की यह पहली अभिव्यक्ति थी; क्योंकि कहा जाता था कि सत्यभामा का आकर्षण मेरी ओर है। केवल मेरी ओर।

"उस बेचारी का आखेट से क्या लेना-देना!" मैंने कहा, "वह कोई आखेटक तो है नहीं।"

"अरे, उसके जैसा आखेटक तो मिलना कठिन है।" यह बात उसने व्यंग्य में नहीं वरन् बड़ी गंभीरता से कही थी। मुझे लगा कि सत्यभामा के नयन बाण से यह बड़ी गहराई तक बिंधा है।

मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर बड़ी आत्मीयता से कहा, "मित्र, इस समय तुम इन सारी बातों को छोड़ो और मेरी सहायता करो। मैं बड़ी आशा से यहाँ आया हूँ।"

"तुम परिहास मत समझो। बड़ी गंभीरता से मैं कह सकता हूँ कि इस विषय में वह बहुत कुछ बता सकती है। आखेट की दिशा के बारे में भी। क्योंकि मैंने सुना है कि दो-एक बार वह आखेट में अपने साथ उसे भी ले गया है।" कृतवर्मन बोलता गया—"आप सत्यभामा को क्या समझते हैं? वह अपनी सारी गोटी उसीके माध्यम से चलाती है। लगता है, सत्राजित् के यहाँ से चलते समय

सत्यभामा की आपसे बातें नहीं हुईं। भेंट तो जरूर हुई होगी?''

''चलते समय तो भेंट भी नहीं हुई। मैं इतने आवेश में था कि एकदम चल पड़ा।'' मैंने कहा।

''इसके पहले तो भेंट हुई होगी?'' उसने पूछा।

मैंने उसकी आँखों में झाँककर देखा, अब भी सत्यभामा के प्रति उसका प्रेम धूमिल नहीं हुआ था। मैंने कहा, ''हाँ, सत्यभामा से भेंट तो हुई थी; क्योंकि अपनी चाची (प्रसेन की पत्नी) की व्यग्रता से वह भी घबराई हुई थी। फिर दूसरे दिन सभा में एकदम दूसरी ही स्थिति उत्पन्न हो गई। मुझे उसी समय चल पड़ना था।''

इसके बाद कृतवर्मन मौन होकर बहुत देर तक मेरे पास ही बैठा रहा। फिर बोला, ''मेरे विचार में तो प्रसेन यदि स्यमंतक मणि लेकर भागा होगा तो वह जांब वन में ही गया होगा; क्योंकि वही उसकी कमजोरी है।'' फिर वह बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया।

मुझे लगा, ऐसा कुछ अवश्य है, जो मैं अब तक नहीं जानता और जो कृतवर्मन से छलककर निकलना चाहता है।

''आप तो ऐसे बता रहे हैं जैसे यह बहुत बड़े रहस्य की बात है!''

''हाँ, तो यह रहस्य की ही बात है।'' वह फिर मुसकराया—''प्रसेन के अतिरिक्त इसे शायद कोई और न जानता हो। यदि थोड़ा-बहुत जानती होगी तो सत्यभामा जानती होगी।''

मेरी जिज्ञासा दृष्टि बराबर उसे देखती रही। वह स्वयं खुलता गया—''शक्तिमान् पर्वत के उत्तर की ओर ऊँचाई बढ़ती जाएगी और पूरी ऊँचाई पर एक बड़ी प्रशस्त अधित्यका है। उसी पर एक बहुत बड़ा और सघन वन है, जिसे जांब वन कहते हैं।''

''उस वन में मार्ग किधर से जाएगा?''

''इधर से तो कोई मार्ग नहीं जाता। तुम जिधर से आए हो, उधर ही लौटना पड़ेगा। पश्चिम की ओर लगभग दो योजन जाने पर एक पादप ग्राम मिलेगा। उस ग्राम से उत्तर की ओर मार्ग जाता है। उसी पर सीधे चले जाना। अंत में यह मार्ग एक उपत्यका में बदल जाएगा। वह उपत्यका साँप की तरह शक्तिमान् पर्वत पर सीधी चढ़ती चली जाएगी; पर वह है बड़ी घनी और हिंस्र जीवों से भरी हुई। यदि प्रसेन गया होगा तो उसी मार्ग से गया होगा।''

''क्यों? वह किसी और मार्ग से नहीं जा सकता है?'' मैंने कहा।

"मेरे अनुमान से तो नहीं।" कृतवर्मन कुछ सोचते हुए बोला, "यदि उसका दुर्भाग्य होगा तो उसने दूसरा मार्ग चुना होगा। यह मार्ग उसके लिए थोड़ा सीधा अवश्य पड़ेगा, पर है इससे अधिक खतरनाक। यद्यपि यह मार्ग उसके राज्य से सीधे उत्तर की ओर जाता है। यह तो तुम्हें ज्ञात होगा ही कि शक्तिमान् पर्वत के पूर्व का भाग ही रैवतक पर्वत है। इसपर गिरनारी सिंहों का एकच्छत्र राज है। जल्दी में आखेट के लिए प्रसेन उसपर जा सकता है; पर उतनी ही शीघ्रता से वह आखेट भी बन सकता है।" इतना कहने के बाद वह फिर मुसकराया—और मुसकराहट भी वैसी ही रहस्य भरी।

"आपकी मुद्रा से तो ऐसा लगता है कि आप प्रसेन को बड़ी गहराई से पहचानते हैं।"

"इसमें क्या संदेह है!" कृतवर्मन बोला, "एक लंबा समय हम लोगों का साथ ही बीता है और हम एक ही मार्ग के पथिक हैं।" इतना कहने के बाद वह खुलकर हँसा।

"आप तो रहस्य को और रहस्यमय बनाते चले जा रहे हैं।" मैंने कहा।

"यह रहस्य ही तो हम दोनों के बीच का सेतु है।" वह फिर जैसे सजग हुआ—"है नहीं, कभी था।" और फिर चालू हो गया—"हम लोग साथ-साथ जाते थे और उसी उपत्यका में वह मिलती थी। चिड़ियों की तरह फुदकती हुई, झरनों की तरह खिलखिलाती हुई, कलियों की तरह मुसकराती हुई।"

मेरी समझ में बात आने लगी। चित्र कुछ साफ होने लगा कि यह विषय बुद्धि का नहीं, हृदय का है। अब तार भी झनझनाने लगा है। रागिनी स्वयं मुखरित हो जाएगी। और हुआ भी यही।

वह स्वयं बताने लगा—"जांब वन का सर्वेसर्वा है जांबवान्। बड़ा ज्वलंत इतिहास है उस जांबवान् परिवार का। कहते हैं कि उसके पूर्वजों ने कभी वनवास के समय श्रीराम की बड़ी सहायता की थी। उसकी एक पोषित कन्या है जांबवती।"

"जांबवान् तो रीछ था।" मैंने कहा, "और जांबवान् उस वन का अधिपति है।"

इस प्रसंग में उसने एक ऐतिहासिक बात बताई—"पूरे जंबूद्वीप का वह संक्षिप्त अवशेष है; क्योंकि उस तरह का वन, उस तरह के रीछों का समाज और उस तरह की उनकी सामाजिक व्यवस्था अब कहीं दिखाई नहीं देती।"

"यह आप कैसे कह सकते हैं?"

"क्योंकि पशुओं का ऐसा व्यवस्थित समाज न मैंने कहीं देखा है और न

कहीं सुना है।'' उसने कहा, ''अब तो तुम जा ही रहे हो, स्वयं ही देख लेना। प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्!''

फिर कृतवर्मन कुछ सोचने लगा और बोला, ''जांबवती उसके परिवार की नहीं मालूम होती। वह रीछ भी नहीं है, पूर्ण मानव है। किसी आदिवासी परिवार की है। उसकी सुदृढ़ शरीरयष्टि से तो ऐसा ही लगता है। अवश्य ही शैशवावस्था में उसे जांबवान् किसी आदिवासी परिवार से उठा लाया है। उसे पाला-पोसा है। इतने दिनों बाद भी वह रीछों की बोली ठीक से बोल नहीं पाती; पर उनकी भाषा खूब समझती है।''

इसी प्रसंग में उसने बताया—''प्रसेन उसपर मुग्ध था।''

मैंने बीच में ही टोका—''और आप?''

''मुझे भी समझ सकते हो।'' इतना कहते ही उसकी आकृति पर एक सलज्ज मुसकराहट दौड़ गई।

''तो क्या यही समझ लिया जाए कि एक शिकार के दो शिकारी साथ-साथ जाते थे?''

''इसके अतिरिक्त और कुछ समझा भी तो नहीं जा सकता।'' उसने कहा और ठहाका लगाया।

''आप दोनों के रहते अभी तक वह जांब वन में ही है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।''

''इसमें आश्चर्य की बात क्या है! अरे, सही बात तो यह है कि वह कभी हम लोगों के हाथ नहीं चढ़ी। हम लोगों ने बड़ा जाल फेंका; पर वह एक बार भी नहीं फँसी। एक हाथ से ही ताली बजती रही। तब हम दोनों ने योजना बनाई कि जांबवान् से विवाह का प्रस्ताव किया जाए।''

मुद्रा से लग रहा था कि कृतवर्मन किसी सपने में डूबकर बोलता जा रहा है—''पहले तो उस जंगल में जांबवान् के पास जाना कठिन; दूसरे, सुव्यवस्थित रीछ सैनिकों के घेरे में रहता है जांबवान्। फिर जांबवती के लिए प्रस्ताव करना इंद्र से उसका सिंहासन माँगना था। फिर भी हम लोगों ने साहस किया; पर हमारा साहस ही एक संकट बन गया। उसने हमें बंदी बना लिया।''

''यह संकट आपके साहस के कारण नहीं आया वरन् जांबवती के प्रति आप लोगों के आकर्षण के कारण आया।'' मैंने कहा।

''चाहे जैसे भीं आया, पर संकट आया।'' कृतवर्मन बोला, ''दूसरे दिन हम महाराज जांबवान् के सामने उपस्थित किए गए। उसने हमसे हँसते हुए कहा,

'नादानो, हमारे यहाँ की व्यवस्था तुम्हारे यहाँ जैसी नहीं है। यहाँ माँगने से कुछ नहीं मिलता। हमारे रीछों के समाज में कोई भी भिखमंगा नहीं होता।'

"पहले तो हम उसकी बात समझ नहीं पाए; क्योंकि हम उसकी माया नहीं जानते थे। हमने इशारे से अपनी असमर्थता बताई। वह और जोर से हँसा। फिर जांबवती से बुलाकर कहा कि इनको मेरी बात समझाओ। अब जांबवती हम दोनों की दुभाषिया बनी।

"उसने जब हँसते हुए कहा कि हमारे समाज में कोई भिखमंगा नहीं होता, तब हम लोगों को बड़ी लज्जा लगी; पर हम उसका अभिप्राय नहीं समझ पाए। मैं तो चुप ही था। प्रसेन ने बड़ी आतुरता दिखाई। कामातुराणां न भयं न लज्जा। उसने पूछा, 'तो हमें क्या करना चाहिए?'

" 'हमसे युद्ध करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो हमसे छीनकर ले जाओ।' "

कृतवर्मन हँसा। पर बोलता रहा—"मैंने तो कुछ कहा नहीं था। केवल प्रसेन के साथ मौन खड़ा रहा। जांबवान् ने भी मेरे बारे में यही सोचा कि यह तो यों ही इसके साथ चला आया है। सारी खुराफात तो उसी (प्रसेन) की ही है। उसने प्रसेन से बड़े जोर से कहा, 'मुझसे युद्ध करना पड़ेगा।' अब प्रसेन मेरी ओर देखने लगा। मैं एक चुप, हजार चुप। प्रसेन युद्ध के नाम से ही काँपता था। उसका सारा शौर्य तो आखेट तक ही सीमित था। निरपराध जानवरों को छिपकर मारने में ही वह अपनी वीरता समझता था। प्रसेन भी चुप ही रह गया।"

अब मुझे भी हँसी आ गई। सारी घटना सुनने में मुझे बड़ा मजा आ रहा था। मैंने पूछा, "फिर क्या हुआ?"

"फिर जांबवान् की आवाज भयानक हो गई—'बोलते क्यों नहीं? चुप क्यों हो गए?'…उस समय जांबवती बुरी तरह हँस रही थी; मानो वह हमारी कायरता पर परिहास कर रही हो।

" 'मैं आपसे युद्ध तो नहीं कर सकता। आप हमारे पूज्य हैं।' प्रसेन के इतना कहते ही जांबवान् ने ठहाका लगाया—'अच्छा, तो तू मेरी पूजा करने आया है। तो ले जाओ, डाल दो इसे बंदीगृह में। यह प्रतिदिन प्रातः उठकर मेरी पूजा करेगा।' "

कृतवर्मन के कथनानुसार, प्रसेन को बंदीगृह में डाल दिया गया और उसे भगा दिया गया।

अब मुझे मौका मिला। मैंने कृतवर्मन को आड़े हाथों लिया—"अच्छी मित्रता निभाई आपने!"

''अरे भाई, मित्रता निभाने का कोई अवसर नहीं था। मैंने जांबवती से कहा कि किसी प्रकार अपने पिता से इसे क्षमा दिलाओ। तब उसने संकेत से कहा कि आप चुपचाप चले जाइए। इस समय कुछ भी कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं है। आप मेरे पिता के स्वभाव से परिचित नहीं हैं। तब मैं वहाँ से चल पड़ा।''

कृतवर्मन ने आगे बताया—''दो दिनों बाद वह भी वहाँ से चला आया। अवश्य ही उसको छुड़ाने में जांबवती की भूमिका रही होगी; क्योंकि दोनों का संबंध बना रहा। प्रसेन बराबर उससे मिलता रहा।

''इसी घटना के बाद मुझसे प्रसेन के संबंध बिगड़ गए। लगभग आना-जाना और बोल-चाल भी बंद हो गई। कभी आया भी तो बस काम से काम।''

''इसके बाद क्या उसने जांबवती को प्राप्त करने की इच्छा भी छोड़ दी?'' मैंने जिज्ञासा की।

''नहीं, ऐसा तो नहीं हुआ।'' उसने कहा, ''सूचनानुसार तब से वह तरह-तरह के प्रलोभन देने और उसे चुपचाप सीता की तरह हर ले आने के प्रयत्न में है।''

''सीता हरण तो रावण को महँगा पड़ा था।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''तो आप क्या समझते हैं, प्रसेन को भी यह महँगा ही पड़ेगा; पर इस समय तो वह प्रेम में अंधा है। वह कुछ भी कर सकता है।'' कृतवर्मन बोलता गया—''तुम कहते हो कि वह स्यमंतक मणि लेकर गया है, तो मेरे विचार से या तो वह जांबवान् के बंदीगृह में होगा या किसी अनहोनी का शिकार हो गया होगा।''

अब मैं काफी हलका अनुभव कर रहा था। उलझन की सारी गुत्थियाँ सुलझी दिखाई देने लगीं। मैंने मन-ही-मन कुशाग्र को धन्यवाद दिया। सचमुच उसका नाम ही कुशाग्र नहीं था वरन् उसकी बुद्धि भी कुशाग्र थी।

□

इतनी जानकारी केवल एक बैठक में नहीं प्राप्त हुई थी। कृतवर्मन सहज में खुलनेवाला नहीं था। इतना जानने के लिए लगातार तीन दिनों तक मुझे उसके पीछे लगना पड़ा। चौथे दिन जब मैंने चलने के लिए मन बनाया तो घनघोर वर्षा आरंभ हुई। रात-दिन पानी बरसता रहा। ऐसा लगा जैसे आकाश ही फट पड़ेगा।

दो दिनों तक तो हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। इसके बाद जब मैं चलने को तैयार हुआ तो कृतवर्मन ने कहा, ''मेघ फट तो अवश्य गए हैं, पर अभी चारों ओर पानी लगा होगा। यह तो कहिए कि मैदानी रास्ता केवल एक दिन का है। इसके बाद तो पहाड़ी शुरू हो जाएगी। वहाँ जल-जमाव की समस्या नहीं

होगी; पर पर्वत की अपनी समस्या भी कम नहीं होती—और वर्षा में तो और भी विकराल हो जाती है।''

एक दिन मुझे और रुक जाना पड़ा। जब मैं माहिष्मती नगरी से चला तब भी बादलों के चीथड़े आकाश में तैर रहे थे; पर धूप खुलकर खिली थी। आकाश में निर्द्वंद्व सूर्य चमक रहा था। मैं रक्ताक्ष के साथ कृतवर्मन के बताए रास्ते पर आगे बढ़ता चला जा रहा था।

मध्याह्न तक हम पादप ग्राम पहुँच गए थे। नाम के अनुसार यह पर्वत के चरण में बसा हुआ छोटा सा गाँव है। झोंपड़ियों में ही आवश्यक सामान की दुकानें हैं। पर्वतांचल के लोग यहाँ से प्रतिदिन की आवश्यक चीजें खरीदकर ले जाते थे। उनमें से कुछ से मेरी बातें हुईं। जांबवान् को सभी जानते थे।

एक ने तो यहाँ तक पूछा, ''आप प्रसेनजित् महाराज के मित्र तो नहीं?''

''तुम प्रसेनजित् को जानते हो?''

''मैं ही क्या, यहाँ के बहुत से लोग उन्हें पहचानते हैं। बहुधा इधर से ही उनका आना-जाना होता है।''

वह व्यक्ति मुझे नहीं जानता था। यहाँ न तो मेरा मोर मुकुट ही काम आया और न मुरली ही मेरी पहचान बनी। यह एक तरह से अच्छा ही हुआ। पहचान के बाद जो दूरी बन जाती है, उसे पाट पाना कठिन होता है। यहाँ कोई दूरी बनी ही नहीं, तो मैंने उनसे और निकटता बढ़ा ली।

मैं उसीकी झोंपड़ी में बैठते हुए बोला, ''मैं प्रसेनजित् की खोज में ही निकला हूँ। वे लगभग एक पक्ष पूर्व ही अपने राजभवन से निकले हैं और आज तक नहीं लौटे।''

''आज तक नहीं लौटे!'' वह चकित हुआ—''तब तो अवश्य कोई बात हो गई होगी; क्योंकि प्रातः जाते और सायं तक लौटते वे बहुधा दिखाई पड़ जाते थे।'' उसकी मुद्रा आशंकाओं से भर गई—''इधर तो मैंने भी उन्हें जाते नहीं देखा।''

''आपने उन्हें अंतिम बार कब देखा था?''

''यही एक पखवाड़ा पूर्व।'' वह सोचते हुए बोला।

अब तो यह लगभग निश्चित हो गया कि स्यमंतक मणि लेकर वह निश्चित ही इधर आया है। हमें भी अब यथाशीघ्र चल देना चाहिए; क्योंकि निशि के पूर्व किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचना अनिवार्य था। पर उसका अतिथि सत्कार मुझे इतना शीघ्र छोड़ना नहीं चाहता था।

उसने बड़ी विनम्रता से कहा, ''आप हमारे अतिथि हैं। आप हमारे भगवान्

हैं। हम बिना कुछ भोग लगाए आपको जाने नहीं देंगे।'' सकुचाते हुए भी उसने वही अर्पित किया, जो मुझे अभीष्ट था।

''हम तो अकिंचन हैं। हमारे पास छाछ और रोटी के अतिरिक्त और क्या है!'' उसने बड़े विनीतभाव से कहा और आगे बढ़कर मिट्टी के एक पात्र में छाछ तथा पत्ते में दो रोटियाँ ले आया। फिर बोला, ''हम लोग दधि से नवनीत निकालकर उसे बेच देते हैं; पर आज आपके भाग्य से थोड़ा सा बच गया है।''

''नवनीत के संदर्भ में हमारा भाग्य बड़ा प्रबल है।'' मैंने हँसते हुए कहा।

रक्ताक्ष भी हँस पड़ा। पर वह व्यक्ति कुछ समझ नहीं पाया। मेरा मुख देखता रहा।

हमारे भोजन का समय भी था और परमात्मा ने उपलब्ध भी करा दिया। हमने बिना किसी हिचक के भोजन ग्रहण करना आरंभ किया।

वह चकित हो देखता रह गया। अंत में उससे नहीं रहा गया। उसने कहा, ''बातों से देखने से और प्रसेनजित् महाराज के मित्र होने के नाते भी आप राजपरिवार के ही ज्ञात होते हैं; पर हम चरवाहों का भोजन आप बड़े सहजभाव से ग्रहण कर रहे हैं।''

''राजा होने के पूर्व मैं भी चरवाहा ही था।'' मैंने हँसते हुए कहा।

अब वह और भी चकित हुआ। उसे लगा जैसे मैं उसीके स्तर से उठा हूँ और मेरी भी जड़ें वहीं हैं, जहाँ उसकी हैं। अब वह मेरे अत्यधिक निकट था।

''यदि आप अन्यथा न समझें तो सदाशिव पहाड़ी तक मैं आपको पहुँचा दूँ। यदि हम तेज चलें तो संध्या होते-होते वहाँ पहुँच जाएँगे।'' उसने कहा।

उसीने बताया—''उसी पहाड़ी पर एक बड़ा पुराना सदाशिव का मंदिर है। है तो एकदम उजाड़, पर आप रात्रि का विश्राम वहाँ कर सकते हैं। उसीके नीचे एक निर्झर है। आजकल तो वह खूब चल रहा होगा। मनोरम छटा होगी। कभी-कभी जंगली जीव जल पीने आ जाते हैं; पर गरमियों में ऐसा होता है, वर्षा में तो उनके आने की संभावना कम होती है। उन्हें जल के अनेक स्रोत मिल जाते हैं। फिर उन पशुओं से आपका क्या लेना-देना!'' उसने कहा, ''जब तक उन्हें छेड़िए नहीं, वे जंगली जीव कोई हानि नहीं पहुँचाते।

''पर गिरनार के सिंह अब ऐसे नहीं हैं।'' उसने बताया—''आखेटकों की कृपा से उनमें से कुछ मानव रक्त के लोभी हो गए हैं।''

''आखेटकों की कृपा से!'' मेरी जिज्ञासा जागी—''बात कुछ समझ में नहीं आई।''

"वस्तुत: पशुओं में संवेदना तो होती ही है। जब आप आखेट करेंगे तब उनका भी आक्रामक हो जाना स्वाभाविक है—और यही हुआ भी। कुछ आखेटकों को देखते ही उन सिंहों ने उनपर आक्रमण कर दिया और उन्हें अपना ग्रास बना लिया।"

"वे अपने आखेटकों को पहचान लेते हैं!" मुझे अचरज था।

"क्यों नहीं!" उसने बताया—"वे अपना मित्र और शत्रु बड़े सहजभाव से देखकर ही पहचान लेते हैं; बल्कि हम लोग उनकी बगल से चले जाते हैं, वे कुछ नहीं बोलते।"

अब विलंब करने क़ा तात्पर्य था, सदाशिव पहुँचते-पहुँचते रात हो जाना। मैंने कहा, "हमें चलना चाहिए। बातें तो मार्ग में भी होती रहेंगी।" मैं उसे लेकर उसकी झोंपड़ी से बाहर आया और उससे अपने ही घोड़े पर बैठने का आग्रह किया। पहले तो उसने पैदल ही चलने की बात कही।

"यह कैसे होगा कि हम लोग घोड़े पर चलें और आप पैदल!" बहुत कहने-सुनने पर भी वह मेरे घोड़े पर नहीं बैठा; पर रक्ताक्ष के घोड़े पर सवार हो गया।

मैंने एक बार फिर अपने प्रति नियति की सदाशयता का हार्दिक आभार माना कि मुझे एक मार्गदर्शक मिल गया। हम आगे बढ़े और हमारी बातें भी आगे बढ़ीं।

"ऐसा तो नहीं कि प्रसेन किसी सिंह का शिकार हो गया हो?" मैंने कहा।

"ऐसा होना तो नहीं चाहिए।" उसने कहा, "वे बहुत दिनों से इधर से आते-जाते हैं और गिरनारी सिंह की प्रकृति से भी परिचित हैं।"

"क्या गिरनारी सिंह की कोई विशेष प्रकृति होती है, जो उन्हें और सिंहों से अलग करती है?" मैंने पूछा।

अब उसने विस्तार से बताया—"गिरनारी सिंहों की विशेषता होती है कि वे झाड़ियों में छिपकर आक्रमण नहीं करते। किसी भी व्यक्ति को देखकर पहले दहाड़ते हैं। उसके पौरुष की प्रतीक्षा करते हैं। यदि दहाड़ सुनकर व्यक्ति खड़ा हो जाता है, उनसे आँखें मिलाता है तो तब तक वे पहले आक्रमण नहीं करते जब तक कि उनपर आक्रमण न हो।"

"और यदि आप उनकी दहाड़ सुनी-अनसुनी करके भाग चलें तो?"

"तब तो वे आपको जीवित नहीं छोड़ेंगे। चिथड़े-चिथड़े करके फेंक देंगे।" उसने कहा।

मैं समझ गया कि ऐसा ही हुआ होगा; क्योंकि उसके पास रही होगी स्यमंतक मणि और मन में रही होगी जांबवती। शायद यह उसके जीवन का पहला अवसर था, जब मणि को लेकर जांबवती को फुसलाने या लुभाने जा रहा होगा। कामाक्रांत मन की आतुरता संसार को देख नहीं पाती। यदि संसार में उसे कुछ दिखाई देता है तो अपनी प्रेयसी ही दिखाई देती है, जो उसके मन का प्रतिबिंब ही होता है। प्रसेन के सामने भी न सिंह रहा होगा और न उसकी दहाड़ ही; यदि कुछ कहीं रही होगी तो अनेक भंगिमाओं में जांबवती का मांसल आकर्षण।

मन इन्हीं चिंतनों में उलझा हुआ संभावित स्थिति का रेखांकन करता रहा। मार्ग के दोनों ओर हरियाली का सागर लहराता रहा और उसी हरियाली में हमारे दोनों अश्व उड़ते रहे। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गए, मार्ग सँकरा होता गया। पर्वत पाद में आकर तो मार्ग एकदम पगडंडी में परिवर्तित हो गया। अब अश्व साथ-साथ नहीं वरन् आगे-पीछे हो लिये। मुझे विश्वास नहीं था कि कुशाग्र का यह अश्व इतना प्रशिक्षित और मेरे प्रति इतना संवेदनशील होगा। वह मेरे जानु और पद के दबाव को अच्छी तरह समझता था।

संध्या होते-होते हम सदाशिव पहाड़ी पर आ गए थे। सचमुच यह बड़ा मनोरम स्थान था। यहाँ के झरते झरने के लगातार हर-हर से चमत्कृत होकर ही किसी अनजान शिवभक्त ने इस सुनसान पहाड़ी पर हर को स्थापित करने का संकल्प लिया होगा। परिणामत: यह आकर्षक शिव मंदिर अस्तित्व में आया। काल की निरंतर मार खाते हुए, इस मंदिर की जीर्ण प्राचीरों में भी उसी शांति का आभास मिला, जिसे उद्वेलित करने के अपराध में समाधिस्थ शिव ने कभी काम को भस्म कर दिया था।

निर्झर के स्वर के साथ उसकी फुहार भी यहाँ तक आ रही थी। उसी झरने की एक धारा इस भग्न मंदिर का पाद प्रक्षालित कर रही थी। मंदिर की जगत एकदम साफ-सुथरी। मेघों और सनसनाती आरण्यक वायु से एकदम धुली-पुँछी। आसपास के सन्नाटे और यहाँ की स्वच्छता से स्पष्ट लगा कि मनुष्य क्या, यहाँ पर जानवर भी नहीं आते—और यदि आते भी होंगे तो बड़े श्रद्धाभाव से।

जब हम लोग नीचे अपने घोड़े बाँधकर मंदिर की जगत पर पहुँचे, तब सूरज डूबा नहीं था। बादलों के नादान टुकड़े उसे ढकने की असफल चेष्टा कर रहे थे। मंदिर के शिखर पर खंडों में बँटी धूप की बनती-बिगड़ती छाया आगत अंधकार के समक्ष लगभग पराजित-सी लग रही थी।

हमें वहाँ छोड़कर वह अपरिचित ग्रामीण जाने को हुआ। यद्यपि उसकी

जाने की इच्छा नहीं थी। इतने कम समय की हमारी आत्मीयता ने उसे बेतरह घेर लिया था। मैंने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा, "आपने हमें केवल मार्ग ही नहीं दिखाया है वरन् अंधकार में भटकते व्यक्ति को ज्योति की एक छड़ी थमाई है। अब आगे का रास्ता इसीके सहारे तय करूँगा।"

वह मेरी भाषा का पूरा आशय तो समझ नहीं पाया, पर बड़े सहजभाव से मुसकराते हुए उसने आभार स्वीकार किया। विचित्र बात यह है कि हमारी कोई भी पहचान उसके पल्ले नहीं पड़ी।

चलते-चलते उसने निर्देश दिया—"झरने की ओर मत जाइएगा, वरन् इसी धारा के साथ-साथ पश्चिम की ओर चलिएगा तो दूर पर वहाँ उस प्लक्ष (पाकड़) के वृक्ष के निकट यह धारा बहुत पतली हो गई है। वहाँ आपके अश्व आसानी से पार हो जाएँगे और पार होते ही एक पगडंडी मिलेगी, जो सीधे जांब वन की ओर जाती है।"

देवदूत की तरह ही वह अनजान व्यक्ति मिला था और देवदूत की तरह ही वह चला भी गया। यह पहला अवसर था, जब हर जगह आगे बढ़कर मेरी महत्ता का बखान करनेवाली मेरी पहचान यहाँ बिलकुल असमर्थ रही। मेरा ईश्वरत्व एकदम मेरे काम नहीं आया।

□

रात में दो घड़ी तक घनघोर वर्षा हुई। एक ओर निर्झर का संगीतमय निनाद और दूसरी ओर पेड़ों-पत्तों से टूटती वर्षा की बूँदों की रिमझिम ने मन के तार छेड़ दिए। पता नहीं क्या-क्या सोचता रहा; पर रक्ताक्ष पेड़ के नीचे बँधे अश्वों की चिंता करते-करते सो गया था। भावुकता मेरे मन की विवशता थी। कल्पना के क्षणों में उसके पैरों में घुँघरू लग जाते थे और यमुना किनारे वह नाचने लगती थी। वर्षा ने मंदिर की बगल से बहनेवाले स्रोतों को जगा दिया था और उसका विस्तार एक छोटी यमुना जैसा हो गया था। मेरा तन मंदिर में और मन उसी यमुना के किनारे था। मेरी प्रकृति ही कुछ विचित्र है। मेरा मन कभी रागमुक्त नहीं होता। मैं राग में विराग और विराग में राग ही जीता हूँ।

कब सोया, पता नहीं। उठा तो धूप तल शिखरों पर आ गई थी। मंदिर के कलश पर एक और सूर्य अटका दिखाई दिया। मैंने उसे श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। जब मैं 'सोता' में स्नान के लिए उतरा तब उसकी धारा लगभग सामान्य हो चुकी थी। पहाड़ी सोता और भावुक व्यक्ति के क्रोध का उफान बहुत देर तक नहीं रहता।

संध्या-पूजन के बाद मंदिर के देवता को भोग लगाकर मैंने कुछ फल ग्रहण किए और रक्ताक्ष के साथ इस विश्वास से चल पड़ा कि इतना हरा-भरा जंगल है, प्रकृति कुछ-न-कुछ भोजन के लिए तो देती ही रहेगी।

उस ग्रामीण के बताए हुए मार्ग पर आगे बढ़ता रहा। सचमुच जब प्लक्ष वृक्ष के निकट पहुँचा तो देखा कि सोता की धारा अप्रत्याशित रूप से सँकरी हो गई है और वहीं दोनों ओर से चट्टानें भी कुछ आगे निकलकर धारा पर एक प्राकृतिक सेतु बना रही हैं। उसीके पास एक पगडंडी अगले शिखर की ओर साँप की तरह रेंगती निकल गई है।

हम लोग भी उसी पर चल पड़े। पगडंडी यद्यपि सँकरी थी, फिर भी जीवंत थी। उसके देखने से स्पष्ट लग रहा था कि इसपर लोग आते-जाते हैं। हम भी उसीसे आगे बढ़ते रहे। हमारे दोनों ओर अरण्य के यौवन का उन्माद हिलोरें लेता रहा। पेड़ों पर पक्षी चहचहा रहे थे। जंगलों में मृगों के झुंड-के-झुंड हमारी आहट से भागते रहे। वृंदावन तो बचपन से ही मुझमें रमा था; पर ऐसे प्रकृत वन में मैं यौवन में पहली बार आया था, जहाँ संकट भी मुसकराते हुए आत्मीय हो जाता था, जहाँ अल्हड़ हवाओं को झेलती हरीतिमा अरण्य आतंक को सहजभाव से हरकर जीवन को निर्भय कर देती थी। हम बड़ी मस्ती से बढ़ते चले गए; पर हमारी गति पहले जैसी नहीं थी। एक तो चढ़ाई, दूसरे वृक्षों से टूटे पत्तों से ढका रास्ता। हमें समझ-समझकर पैर रखना पड़ता था।

चलते-चलते अचानक रक्ताक्ष ने पूछा, ''अब और कितना चलना पड़ेगा, स्वामी?''

मुझे लगा कि रक्ताक्ष का धैर्य डगमगाने लगा है। ऐसे अवसरों पर मेरी मायावी हँसी बड़ा काम करती थी। मैं हँसा और मैंने उससे कहा, ''तुमने कभी ऐसी यात्रा की है, जिसमें गंतव्य अनजाना हो और पथ अनचीन्हा?''

उसने कहा, ''नहीं।''

''तब यह प्रश्न क्या कि हमें कितना चलना है!'' मैं फिर हँसा और बोला, ''केवल गति तुम्हारे हाथ में है। यद्यपि नियति उसे भी दुर्गति और सुगति में बदल सकती है, फिर भी गति पर तुम्हारा अधिकार है। तुम उसी पर ध्यान रखो। गंतव्य को मुझपर छोड़ दो।''

आज सोचता हूँ तो लगता है, यही बात तो मैंने 'गीता' में भी कही थी।

मैंने रक्ताक्ष को पुनः समझाया—''अरे मित्र, अभी तो वह तिराहा भी नहीं आया है, जहाँ से गिरनार के सिंह वन में मार्ग जाता है।''

वह चुप हो गया और चलता रहा। थोड़ी देर बाद वह फिर बोला, "एक बात पूछूँ?"

मैंने मुसकराकर उसे अनुमति दी।

पहले तो वह सकुचाया, फिर बड़ी दृढ़ता से बोला, "आप स्वयं को हमेशा संकट में डालते रहे हैं। संकट से दूर रहकर भी जीवन जीया जा सकता है।"

"आखिर सर-सरोवर भी तो जीते हैं।" मैंने उसीके स्वर में स्वर मिलाया और हँसते हुए बोलता रहा—"पर समुद्र बनने के लिए तो ज्वार-भाटा झेलना ही पड़ेगा।...और मैं समुद्र स्वयं बनना नहीं चाहता। मुझे बनने के लिए नियति ने विवश किया।"

वह चुप हो गया।

मध्याह्न होते-होते हम उस त्रिमार्ग पर आ गए, जिधर से एक रास्ता गिरनार के सिंह वन में जाता था और दूसरा सीधे शिखर की ओर चढ़ता हुआ उस अधित्यका की ओर चला जाता था, जहाँ जांब वन था।

हम लोग वहीं एक स्फटिक शिला पर बैठकर दोपहर का भोजन करने लगे। बगल में ही एक गढ़े-सा बन गया था, जिसमें सोता का गिरता जल एकत्र होता था और अधिक होने पर नीचे की ओर बह जाता था।

मार्ग में तोड़े हुए फल और उस ग्रामीण द्वारा बाँध दी गई रोटी व नवनीत संप्रति हमारे पाथेय बने। घोड़ों को चरने के लिए छोड़कर हम लोग बड़े आनंद से भोजन कर रहे थे। तब तक आदिवासियों का एक झुंड उधर से निकला। उनके साथ महिलाएँ भी थीं, बच्चे भी और बूढ़े भी। वे मुझे देखकर चकित थे और मैं उन्हें।

दूर से वे बड़े गौर से मुझे देखते और मुसकराते रहे। सिर पर घड़े रखे उन महिलाओं की चकित दृष्टि एकटक हमपर लगी थी। तब तक उनमें से एक व्यक्ति एक लंबी तलवार लेकर आगे बढ़ा। रत्नजटित मूठ की यह असि निश्चित रूप से बहुमूल्य और किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की ज्ञात हो रही थी। तलवार पर लगा सूखकर काला पड़ा रक्त इस बात का आभास दे रहा था कि यह बहुत दिनों पुराना है। वह व्यक्ति किसी जलकुंड में उस तलवार को धोने के लिए आ रहा था।

मैं चकित था कि किसी संभ्रांत व्यक्ति की तलवार इन लोगों के हाथ कैसे लगी? मैंने उसे संकेत से बुलाया। वह मुसकराता हुआ चुपचाप आकर खड़ा हो गया। वह निश्चित रूप से हमारी भाषा नहीं जानता था। ग्रामवासियों के संपर्क से वह कुछ शब्द और संकेत अवश्य समझ लेता था।

मैंने पूछा, "यह तलवार कहाँ से पाई?"

उसने हँसते हुए कहा, "बेचूँगा नहीं।"

मैंने फिर संकेतों से अपना अभिप्राय व्यक्त किया। तब उसने कुछ शब्दों और संकेतों के सहारे, जो कुछ उसका तात्पर्य था कि आज से बहुत पहले यह मेरे भाई को यहाँ से थोड़ी दूर पर पड़ी मिली थी।

"कुछ और मिला था?" मैंने पूछा।

"यह तो मैं नहीं कह सकता।" आदिवासियों की सहज मुसकराहट उसके चेहरे पर बनी रही।

"तुम्हारा भाई कहाँ है?" मैंने पूछा।

"वह पीछे आता होगा।" उसने कहा।

तब तक उसके साथ आए लोग भी पास आ गए। उन्होंने आपस में कुछ मंत्रणा की। फिर उनमें से सबसे वृद्ध, जो उनका नेता या अगुआ मालूम होता था, उसने बड़े विनीतभाव से पूछा, "क्या यह आपकी है? यदि यह आपकी हो तो आप इसे ले सकते हैं।"

मैंने सिर हिलाकर 'नहीं' का संकेत किया और सबको प्रेम से उसी विशाल स्फटिक शिला पर बिठाया, जिसपर मैं बैठा था। फिर तलवारवाले व्यक्ति से मैंने कहा, "अपने भाई को आ जाने दो। मुझे उनसे मिलकर प्रसन्नता होगी।"

फिर इधर-उधर की बातें चलती रहीं। कहाँ के हो? तुम्हारे समूह में कितने लोग हैं? क्या करते हैं? यहाँ से जांब वन कितनी दूर है आदि-आदि।

पता चला कि उनका कोई स्थायी निवास नहीं है। अपने गिरोह में जानवरों के साथ घूमते रहते हैं। ये जानवरों के दूध, दही, मक्खन और जंगलों का मुख्य उत्पाद मधु, फल एवं ओषधि नीचे के गाँवों में बेचते हैं। यही इनकी जीविका है। कभी-कभी महीनों एक जगह पड़े रह जाते हैं। इस समय भी इस समूह के बहुत से लोग इस पहाड़ी पर ऊपर की ओर हैं। इनके जानवर भी वहीं हैं। कुछ लोग सामान बेचने नीचे गाँवों की ओर जा रहे हैं।

मैंने रक्ताक्ष से संकेत किया कि जो वस्तु खाने-पीने की उनके पास हो, उसे ले लिया जाए। भगवान् जाने आगे कुछ मिलेगा या नहीं।

अब रक्ताक्ष ने हमारी इच्छा व्यक्त की। वे परम प्रसन्न हो गए। जैसे भगवान् ने अपने भोग की स्वयं याचना की हो। अब बूढ़े ने अपने युवकों से अपनी भाषा में कुछ कहा। वे दधि से भरी मटकी वहीं भूमि पर रखकर एकदम निकट के जलकुंड में कूद गए और ऐसे फुदकते हुए पहाड़ी पर चढ़े जैसे ये सामान्य मनुष्य

नहीं, जंगल के ही जीव हों।

थोड़ी देर में वे किसी पेड़ की बहुत सारी पत्तियाँ तोड़कर ले आए। वे पत्तियाँ काफी चौड़ी-चौड़ी थीं। उनसे दोने बनाए गए। उसमें दधि और मधु उन्होंने बड़े प्रेम से हमें खिलाया। ऐसा सुस्वादु और स्नेहमय (मलाई से युक्त) दधि हमने बहुत कम खाया था। वह मधु ताजा, पुष्पों के गंध से वासित। फिर बहुत से फल भी उन्होंने अर्पित किए।

अंत में पुरस्कार के रूप में मैंने एक स्वर्ण निष्क उन्हें देना चाहा; पर उन्होंने नहीं लिया। अपनी असमर्थ भाषा को संकेतों से समर्थ करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि यह तो जंगल की वस्तु है और हम जंगल को ही इसे अर्पित कर रहे हैं। हमें इन्हें बेचना भी है तो जंगल से बाहर जाकर।

''पर हम लोग तो जंगल के बाहर के हैं।'' मैंने कहा।

''हमें तो आप बाहर नहीं मिले हैं। आप जंगल के ही देवता लगते हैं।'' उनकी मुसकराहट में समर्पण की असीम विनम्रता थी।

तब तक उसका भाई भी आ गया। पूछने पर उसने बताया कि उसे यह तलवार यहाँ से बहुत ऊपर, जांब वन के क्षेत्र से कुछ पहले ही मिली थी। वह उसे ले जाकर ऐसे ही रखे रहा। सोचता रहा कि इसका कोई पूछनेवाला मिलेगा तो उसे लौटा दूँगा; पर खोजने पर भी कल तक इसका कोई उत्तराधिकारी नहीं मिला। इसलिए उसने अपने बड़े भाई को इसे अर्पित कर दिया।

''अब भाई को अर्पित की गई वस्तु के लिए मैं क्या अधिकार जताऊँ!'' मैंने कहा।

''यदि यह आपकी है तो आप इसे अवश्य ग्रहण कीजिए।'' बूढ़ा बोला।

मैंने इसपर अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, वरन् मेरी जिज्ञासा आगे बढ़ी—''जहाँ यह तलवार पड़ी थी वहाँ तुमने कुछ और देखा?''

''हाँ, उसके पास कुछ टूटे-फूटे आभूषण भी बिखरे थे और रक्त से सने राजसी वस्त्र भी।'' उसने सोचते हुए कहा, ''अवश्य ही वह कोई राजा रहा होगा।''

''कौन?''

''वही, जो मारा गया है।'' उसने कहा, ''मुझे तो लगता है, उसे कोई खूँखार सिंह खा गया।''

अब चित्र बहुत स्पष्ट हो चला था। यह बात लगभग निश्चित हो चली थी कि वह कोई और नहीं, प्रसेनजित् ही रहा होगा।

मैंने कहा, ''हाँ, तो तुम उसके आभूषण और वस्त्र की बात कर रहे थे।''

उसने बताया—"हाँ, आसपास उसके वस्त्र, आभूषण और बेतरह उसका भग्न शरीर पड़ा था। शरीर का मांस तो बिलकुल नोच लिया गया था। जो कुछ ठठरियों में लगा था, वह बिलकुल सड और गल गया था। केवल अस्थिपंजर शेष था।"

इसी सिलसिले में उसने यह भी बताया—"मैंने पहले तलवार उठाई, फिर आभूषण उठाने के लिए ज्यों ही झुका था कि दूर से उसकी आवाज सुनाई पड़ी कि 'अब किसी वस्तु पर हाथ मत लगाना।' मैं एकदम पीछे हट गया।"

"वह किसकी आवाज थी?" मैंने पूछा। मुझे लगा कि मैं अँधेरी गुफा के अंतिम द्वार पर हूँ।

"वह आवाज थी जांब वन के स्वामी की पोषिता कन्या जांबवती की।" इसी संदर्भ में उसने बताया—"वह कन्या हमीं लोगों के बीच की है। उसे जांबवान् ने पाला है। वह हमारी भाषा और हमारी जीवन-पद्धति को अच्छी तरह जानती है। हमारे सामाजिक नियम और प्रथा को भी समझती है। तभी उसने कहा कि अब किसी वस्तु पर हाथ मत लगाना।"

मैं उसका तात्पर्य समझ नहीं पाया।

उसने ही समझाया—"हम लोगों के बीच यह सामान्य प्रथा है कि जंगल में पड़ी या जंगल की जो भी स्वामित्वविहीन वस्तु यदि कोई उठा लेता है तो वह उसकी हो जाती है। फिर उसके लिए हम लोगों में कोई छीना-झपटी नहीं होती।"

मैंने सोचा कि कहने के लिए तो यह जंगल का नियम है, पर है कितना अच्छा। इसीलिए इनका जीवन इतना सहज और सुखी है। प्रकृति ही इनका नियमन करती है। न चोरी और न छीना-झपटी। इसीलिए इनके समाज में न प्रहरी हैं और न सैनिक। इनके यहाँ न प्रसेन पैदा होते हैं और न कन्हैया। कितना अच्छा होता कि हमारा समाज भी ऐसा ही हो जाता। मैं सोचता रहा।

वह बोलता गया—"मैं वहाँ की और वस्तु उठा न सका; पर यह तलवार मेरी हो गई।"

"यह कब तक तुम्हारी रहेगी?" मैंने पूछा।

"जब तक मैं इसे किसीको दे न दूँ, या इसके उत्तराधिकारी का पता न चले।"

अब मैंने मुसकराते हुए कहा, "यदि मैं कहूँ कि मैं इसके उत्तराधिकारी को जानता हूँ तो?"

"तो मैं इसे आपको इसके वास्तविक उत्तराधिकारी को देने के लिए दे

दूँगा।'' उसने कहा।

मैंने सोचा कि वस्तुतः यह तलवार मेरे बड़े काम की सिद्ध होगी। मैं इसे दिखाकर लोगों को बता सकूँगा कि प्रसेन को सिंह खा गया और स्यमंतक मणि भी सिंह के पेट में है। इस दृष्टि से वह तलवार मुझे चाहिए ही थी।

मैंने उसे प्राप्त करने की नीयत से ही उन्हें विस्तार से कहानी सुनाई और बताया—''यह तलवार यादवश्रेष्ठ महाराज सत्राजित् के भाई प्रसेनजित् की है। यदि आप आदेश करेंगे तो मैं इसे ले जाकर आपकी ओर से उन्हें समर्पित कर सकता हूँ।''

वे बड़े सहजभाव से मान गए और उस तलवार को कुंड के जल में साफ कर उनके समूह के नेता ने ऐसे लोभरहित भाव से अपने दोनों हाथों से सादर समर्पित किया जैसे यह तलवार न उसकी है और न कभी उसकी थी।

□

अगली रात बड़ी कष्टप्रद और भयग्रस्त थी; क्योंकि हमें रात बिताने के लिए कहीं छाया न मिली। हम लोगों ने एक घने वट के नीचे अपने अश्व बाँधे और मैं अपने अस्त्र-शस्त्र एवं आवश्यक सामान लेकर ऊपर चढ़ गया; पर रक्ताक्ष को ऐसा करने में बड़ी कठिनाई हुई। उसे वृक्ष पर चढ़ने का अभ्यास नहीं था; पर मैं तो बचपन से यही सब करता रहा। आपको याद होगा कि एक बार मैं गोपियों के वस्त्र लेकर कदंब के पेड़ पर चढ़ गया। नीचे वे नग्नस्नान और किल्लोल में ही व्यस्त रहीं। मैंने उन वस्त्रों को कदंब की डालों पर टाँग दिया और स्वयं पत्तों में छिप गया। यह सब कैसे हो गया, यह उन्हें पता नहीं। पहले तो उनकी दृष्टि भी मुझे न खोज पाई; पर मैं उनमें प्रत्येक को देखता और रस लेता रहा। आखिर मानवी दुर्बलता मुझमें भी तो है। इसका एक अच्छा परिणाम तो यह निकला कि उस दिन के बाद एकांत में सरोवर में भी गोपियों ने नग्नस्नान करना छोड़ दिया।

इस समय भी जब रात घिर आई, अरण्य साँय-साँय करने लगा। आकाश ने भी साथ नहीं दिया। बादल पसीजने लगे और बूँदाबाँदी होने लगी, तब भला नींद आना तो दूर, एक झपकी के लिए भी हम तरस गए। तब ऐसी ही परिस्थितियों से संबंधित मैंने दो घटनाएँ रक्ताक्ष को सुनाईं।

एक तो गोपियों के वस्त्र-हरण की। बड़े विस्तार के साथ। पूरा रस लेते हुए। यह तो आप जानते ही हैं कि कल्पना में यथार्थ से अधिक रस होता है; पर उसका साथ अधिक लंबा नहीं होता, इसीलिए कल्पनाप्रवण होने के बाद भी कोई कल्पनाजीवी नहीं होता।

उसने भी मेरी इस कथा में बड़ा आनंद लिया और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए बोला, ''आप भी अद्‌भुत हैं। जीवन में कुछ छोड़ा नहीं।''

फिर मैंने वह घटना सुनाई, जब गुरुपत्नी के आदेश से मैं अपने साथी सुदामा के साथ जलाने के लिए लकड़ी की खोज में निकला था। अंत में रात हो गई थी। वह रात भी ऐसी ही भयावह और बरसाती थी। समय भी जाड़ों का था। हम थर-थर काँप रहे थे। सुदामा तो सर्दी से किटकिटाते दाँतों का बहाना लेकर चने भी खा रहा था; पर मैं भूखा-का-भूखा रह गया।

इस समय उन घटनाओं की स्मृति भी कितनी मधुर थी। इसी सबमें आधी रात निकल गई। अब बूँदें भी थम चुकी थीं। हम मोटे तने के सहारे शरीर ढीला कर हलकी झपकी भी ले सकते थे। एक-दो झपकी ली भी कि अचानक नीचे बँधे घोड़ों की हिनहिनाहट सुनाई पड़ी।

रक्ताक्ष ने कहा, ''कोई जानवर आया लगता है।''

''एकदम शांत और अस्थिर रहो।'' मैंने कहा।

मुझे भी उस जानवर की वृक्ष के पास ही आहट लगी। मैंने शब्दवेधी लक्ष्य साधकर चक्र चलाया। एक चीख के साथ वह शांत हो गया। यह चीख किसी रीछ की थी।

मैंने रक्ताक्ष से कहा, ''यह तो रीछ था। रीछ वृक्ष पर भी चढ़ सकता था।''

''ऐसा!'' रक्ताक्ष की आवाज से उसके भय का आभास लगा और मुझे हँसी आ गई।

मैंने उसे बताया कि लगता है, जांब वन निकट ही है।

सवेरा होते-होते बादल छँट गए थे। दहकता हुआ सूर्य आकाश पर चढ़ने लगा। सुनहली किरणों की पताकाएँ तरु शिखरों पर फहराने लगीं। जब हम नित्य-कर्म से निवृत्त होकर अपने-अपने अश्वों पर आगे बढ़ने के लिए चढ़े, घड़ी भर दिन चढ़ आया था।

थोड़ी देर में ही हम उस स्थल पर पहुँच गए, जहाँ प्रसेन की दुर्गंधयुक्त अस्थियों के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए थे। उन्हें देखते ही मैं भावुक हो उठा।

मैंने रक्ताक्ष से कहा, ''देखो, इस देह की अंतिम परिणति यही होती है; पर यही देह सबकुछ भोगता है—दुःख-सुख, हास-विलास, रुदन-परिहास—सबकुछ और अंत में इसी स्थिति को प्राप्त होता है। फिर भी हम उसके लिए दुःखी होते हैं, उसकी चिंता करते हैं। उसीके सँवारने में जीवन लगा देते हैं; जबकि हम देह नहीं, देही हैं। देह तो हमारा वस्त्र है। वह कब व्यर्थ हो जाएगा, किस अरण्य में फँसकर

फट जाएगा, काल कब उसे अपना ग्रास बना लेगा—कुछ पता नहीं।''

इसी बीच मेरे मन में एक बात और आई कि सिंह ने जब प्रसेन को आखेट बना लिया, तब तो उसकी मणि भी उसीके पेट में चली गई होगी। अब उसे ढूँढ़ पाना मुश्किल है।

मैंने रक्ताक्ष से कहा, ''लगता है, अब मैं अपने ऊपर लगे लांछन से मुक्त नहीं हो पाऊँगा।''

उसने मेरी हताशा का अनुमान लगाया और बोला, ''ऐसा क्यों कहते हैं, स्वामी?''

''अब मैं मणि कहाँ से लाऊँगा?''

''मणि भले ही न मिले, यह तलवार तो आपको मिल ही गई है। इसे दिखाकर यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि प्रसेन मारा गया।''

''इस असि से केवल उसके मारे जाने का विश्वास दिलाया जा सकता है।'' मैंने सोचते हुए कहा, ''जानते हो, ऐसी स्थिति में सत्राजित् क्या कहेगा? वह कहेगा कि तुम्हींने उसे मारा या मारकर मणि हड़प ली है।''

रक्ताक्ष को भी लगा कि मेरी चिंता निराधार नहीं है।

मेरी व रक्ताक्ष की बातें चल ही रही थीं कि उत्तर की ओर से एक रुक्ष नारी स्वर सुनाई दिया—''आप कौन हैं?''

मैंने मुड़कर देखा। मेरी प्रथम दृष्टि ही जैसे उसपर चिपक-सी गई। मुझे समझते देर नहीं लगी कि यह जांबवती ही है। जैसा मैंने सुना था वैसी ही अनिंद्य सुंदरी। कोमल पत्रों से बँधे वक्षों का उभार ऐसा जैसे वे फाड़कर बाहर निकल जाना चाहते हों और कटि की क्षीणता के कारण उसपर बँधा बाघंबर किसी भी समय फिसल जाने की संभावना से युक्त। ऐसा लगा जैसे वनश्री स्वयं रूपायित हो सामने खड़ी हो। मेरे मन ने कहा, 'प्रसेन, यदि तुमने इसके पीछे प्राण दे दिया तो इसमें तुम्हारी कोई भूल नहीं। इसे देखकर तो काम भी विचलित हो जाता।'

मुझे अपनी ओर एकटक टकटकी लगाए देखकर उसकी आवाज और टेढ़ी हुई और लगभग क्रुद्ध होते हुए वह बोली, ''आप बोलते क्यों नहीं? मैं पूछ रही हूँ कि आप कौन हैं?''

मैंने नितांत विनम्रता से कहा, ''मुझसे यह पूछने के पहले कि आप कौन हैं, बड़ी कृपा होती कि आप यह बताने की चेष्टा करतीं कि यह कौन था?'' मैंने बिखरी हुई हड्डियों की ओर इशारा करते हुए पूछा।

उत्तर न देकर, अपने कंधे से धनुष उतारकर उसकी प्रत्यंचा ठीक करती हुई

वह मेरी ओर निर्भीक भाव से बढ़ती चली आई और मेरे हाथ की नंगी तलवार की ओर इंगित करते हुए उसने पूछा, ''यह तलवार आपकी है?''

''जी नहीं, यह मेरी नहीं है। यह जिसकी थी, उसके उत्तराधिकारी को सौंपने के लिए मुझे मिली है।''

''इसका तात्पर्य है कि किसी व्यक्ति ने आपको दी है!'' उसकी मुद्रा एकदम बदली—''मैं तो समझती थी कि आपने उसकी हत्या कर इसे प्राप्त किया है।''

''हम लोग लुटेरे या दस्यु नहीं हैं, जो किसीकी वस्तु हड़पने के लिए उसकी हत्या करें।'' मैंने कहा और अपना प्रश्न पुनः दुहराया—''क्या आप बताने की कृपा करेंगी कि यह अस्थि-शेष किसके हैं?''

''यह अस्थि-शेष उसीके हैं, जिसकी यह तलवार थी।'' इतना कहते-कहते उसका गला रुँध गया। आँखें डबडबा आईं। फिर तो वह भावुकता में ऐसी बही कि अपने-उसके संबंध और इस दुनिया की पूरी पुस्तक ही खोलकर रख दी।

उसने बताया—''वह मुझे बहुत मानता था। हम दोनों बहुधा यहीं मिलते थे। वह मुझसे विवाह करना चाहता था।''

''और आप नहीं चाहती थीं?'' मैं बीच में ही बोला।

''मेरे चाहने से भी क्या होता!'' उसने बड़ी पीड़ा से कहा, ''हमारे राज्य का नियम बड़ा विचित्र है। वह उसका पालन न कर सका। तब वह बराबर छिपकर मिलता रहा। वह कहता रहा कि 'चुपचाप मेरे साथ चली चलो। मैं एक प्रभावशाली राजा सत्राजित् का छोटा भाई हूँ। हमारे पास एक सूर्यमणि है—स्यमंतक। वह शक्ति और संपत्ति दोनों प्रदान करती है। एक दिन हम उसके बल पर इतने शक्तिशाली हो जाएँगे कि पूरी द्वारका हमारे चरणों में आ जाएगी। तब हम द्वारकाधीश होंगे और तुम हमारी पट्टमहिषी।' '' एक जलती हुई आह उसके मुख से निकली—''फिर भी मैं उसके साथ न जा सकी। यदि चली गई होती तो उस बेचारे की यह स्थिति तो न होती।''

उसने आगे बताया—''उस दिन वह उसी मणि को मुझे दिखाने ले आया था कि अचानक यह पहाड़ टूटा और गिरनारी सिंह उसपर झपट पड़ा।''

''इसका तात्पर्य है कि गिरनारी सिंह बड़े भयानक हैं। उन्हें मनुष्य का रक्त मुँह लग गया है।'' मैंने कहा।

''भयानक तो अवश्य हैं, पर मानवभक्षी नहीं हैं। वे जब तक किसीको आक्रामक नहीं समझते, उसकी ओर देखते तक नहीं। बगल से चुपचाप बिल्ली

की तरह गुजर जाते हैं। पर उस दिन संयोग कुछ ऐसा था या 'होनी' होने वाली थी कि प्रसेनजित् के हाथ में यही नंगी तलवार थी। वह मणि लेकर आया था तो उसकी रक्षा में वह आवश्यकता से अधिक सजग था। बस यही सजगता उसके प्राणों का ग्राहक बनी। उस सिंह के बगल से गुजरते ही उसने इसी तलवार से वार कर दिया। फिर क्या था! सिंह बड़ी निर्ममता से उसे चबा गया। मैं देखती रह गई। कुछ न कर पाई।'' इसके बाद वह सिसकने लगी।

जब वह कुछ सामान्य हुई तब मैंने फिर पूछा, ''फिर उस मणि का क्या हुआ?''

''वह सिंह के पेट में चली गई।'' वह बड़े सहजभाव से बोली।

मैं तो पहले से ही आशंकित था। मैंने रक्ताक्ष की ओर देखा। मेरी दृष्टि ने उससे कहा, 'देखा, मैंने जो सोचा था वही हुआ।'

'अब क्या किया जाए?' मैं बड़ी गंभीरता से सोचने लगा। मैंने उससे पूछा, ''आप बता सकती हैं कि वह सिंह किस जंगल में गया?''

''वह बचा कहाँ, जो कहीं जाता!'' इसी क्रम में उसने कथा आगे बढ़ाई। उसने बताया—''मैंने सारी बात अपने पिताजी से बताई। तब उन्होंने आश्वासन दिया कि तुम घबराओ मत। तुम्हारे लिए वह मणि मैं प्राप्त करूँगा। उसी दिन से वे उस सिंह की खोज में लग गए और शीघ्र ही उसे खोज भी निकाला।''

''यह कार्य तो बड़ा कठिन था।'' मैंने कहा।

''जितना सोचा जा रहा था उतना कठिन तो वह नहीं निकला।'' उसने बताया—''वह मणि सिंह के पेट में अपनी उपस्थिति का आभास बड़ी सरलता से करा रही थी। उसकी प्रकाशित किरणों से सिंह के पेट का उतना भाग ज्योतित हो गया था। मेरे पिताजी का तो कहना था कि दूर से ही देखकर उन्हें पता चल गया था कि स्यमंतक मणि निगलनेवाला सिंह यही है।''

''फिर अब वह मणि कहाँ है?''

''मेरे पिताजी के पास।''

अब मैंने उसे अपना परिचय दिया और सारी कहानी कह सुनाई। यह भी बताया—''उस मणि की चोरी का लांछन मुझपर लगा है। मैंने प्रजा के सामने प्रतिज्ञा की है कि इस लांछन को या तो झूठा सिद्ध करके दिखाऊँगा या आप सबके सामने सार्वजनिक रूप से आत्मदाह कर लूँगा।''

वह चुपचाप सुनती रही और मौन खड़ी रही।

''आप मेरी सहायता कीजिए।'' मैंने बड़े विनीतभाव से कहा।

“मैं क्या कर सकती हूँ?”

“आप अपने पिताजी से कुछ दिनों के लिए वह मणि उधार दिला दीजिए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। उसे लोगों को दिखाकर वास्तविक बात बताऊँगा और लांछन दूर होते ही मैं उसे वापस कर दूँगा।”

“उधार!” वह पहली बार हँसी। बोली, “हमारे समाज में कोई वस्तु किसीको उधार नहीं दी जाती।”

“तब आप मेरी सहायता कैसे कर सकती हैं?”

“कैसे बताऊँ!” उसने कहा और बड़े गौर से मुझे एकटक देखती रही। ऐसा लगा जैसे उसकी आँखें बड़ी तन्मयता से मेरे अंग-प्रत्यंग का स्पर्श कर रही हों।

मैं भी कुछ नहीं बोला। केवल उसकी आँखों में झाँकता रहा। धीरे-धीरे मुझे यह आभास होने लगा जैसे उसकी आँखों में मेरे प्रति आत्मीयता जागने लगी है। अब मैंने विनीत आग्रह किया—“आप मुझे अपने पिताजी के पास ले चल सकती हैं?”

“क्यों नहीं ले चल सकती!” उसने कहा, “पर एक खतरनाक स्थिति होगी। मेरे पिताजी से तुम्हारा मिलना साक्षात् मृत्यु से मिलना होगा।”

“आत्मदाह करके भी मृत्यु से ही मिलना होगा, तो क्यों नहीं उसके पहले ही मृत्यु से मिल लूँ!” मैंने कहा।

मेरी यह बात उसे लग गई। मृत्यु के निकट लोगों की सहानुभूति बड़ी सहज हो जाती है। इसी सहज सहानुभूति ने उसे और भी मेरे निकट ला दिया और वह मुझे अपने पिताजी से मिलाने के लिए तैयार हो गई।

अब प्रश्न था, कैसे चला जाए? हम दोनों तो घोड़े पर थे, पर वह तो पैदल थी। क्या उससे अपने घोड़े पर बैठने को कहूँ। क्या एक अपरिचित और अनजान सुंदरी से अपने घोड़े पर बैठने के लिए आग्रह करना उचित होगा? तब क्यों नहीं उसीसे पूछूँ।

“हम लोग तो घोड़े से चल रहे हैं। आप कैसे चलेंगी?”

वह हँसते हुए बोली, “आप उत्तर की ओर जानेवाली पगडंडी से बढ़िए। मैं आपसे पहले पहुँच जाऊँगी।”

हम उसका अनुग्रह स्वीकार करते हुए आगे बढ़े। मैंने देखा, वह पर्वत की खड़ी चढ़ाई पर फुदकती चली जा रही थी। फिर एक वृक्ष पर ऐसे चढ़ी जैसे उलटे होकर रीछ चढ़ा करते हैं। फिर उस वृक्ष की डाली से उसने बंदरों की तरह दूसरे

वृक्ष की डाली पर छलाँग लगाई। इस बीच उसके वक्ष पर बँधे पत्र कसमसाए। उसमें से कुछ फट भी गए। उसने झट से उनपर अपनी भुजाएँ बाँध लीं। उतनी दूरी से भी उसने मेरी ओर देखा और अनुभव किया कि मैं घोड़े पर चलते हुए भी उसपर निगाह रखे हुए हूँ। वह बड़े सलज्जभाव से मुसकराई और एक विशाल शिलाखंड के पीछे छलाँग लगाकर ओझल हो गई।

हम काफी देर तक उसके बताए मार्ग पर चलते रहे। जहाँ से जांब वन शुरू हो गया था, उसी मोड़ पर वह खड़ी मिली। मैंने देखा, उसके वक्ष पर बँधे हुए पत्रों पर एक नई ताजगी और कसावट थी। उसने भी अनुभव किया कि मैं उसकी शरीर यष्टि की ओर आकृष्ट हो रहा हूँ। वह मुसकराई। उसकी इस मुसकराहट में एक सौंदर्यगर्बिता का अहं था।

''आप थोड़ी दूरी तक ही अब घोड़े पर चल सकते हैं।''

''क्यों?''

''हमारे राज्य में अश्वारोहियों को आक्रामक माना जाता है। आप लोगों के अश्व देखते ही पिताजी की भृकुटी चढ़ जाएगी।'' उसने कहा।

''फिर दोनों अश्वों को रखने की व्यवस्था होनी चाहिए।'' मैंने कहा और उसने वहीं निकट ही वृक्ष लताओं से बने गुफा जैसे सुरक्षित स्थान पर दोनों अश्वों को रखवा दिया और उनकी देखरेख के लिए दो रीछों को भी लगवाया।

अब हम उसके साथ पैदल चले और चलते गए। रीछों से भरा यह जंगल बड़ा मनोरम था। मार्ग में जो रीछ मिलते थे, जांबवती को जितनी श्रद्धा से प्रणाम करते थे उतने ही आश्चर्य से हमें देखते थे। कुछ और चलने पर उसने एक विशाल रीछ की ओर संकेत किया। हमने तो सोचा कि यही जांबवान् है; पर उसने परिचय देते हुए बताया कि यह हमारे राज्य के प्रधान सेनापति हैं।

मैंने भी उसका अभिवादन किया। वह प्रसन्न हो गया। हम और आगे बढ़े। पर्णकुटियों का तो हमें अनुभव था; पर हमने कुछ दूरी पर एक विशाल पर्णभवन देखा और समझते देर न लगी कि यह जांबवान् का महल है। उसीमें मुझे एक कक्ष में बैठाकर वह भीतर चली गई। मध्याह्न हो चुका था।

रक्ताक्ष ने कहा, ''जानवरों के शासन में बड़ी व्यवस्था है।''

''शासन के लिए अनुशासन की आवश्यकता है।'' मैंने कहा, ''इस अनुशासन को शासन का अनुगामी भी होना चाहिए। उसे आत्मनियंत्रित होना चाहिए। स्वत: स्फूर्त अनुशासन का ही परिणाम है कि शासन के नाम पर दो-एक सिपाही के अतिरिक्त यहाँ और कुछ दिखाई नहीं पड़ा।''

हम लोग बातें कर ही रहे थे कि जांबवती ने लौटकर बताया—''आप जलपान करें और यहीं विश्राम करें।''

उसके साथ कुछ रीछनियाँ भी थीं, जो मृण्पात्रों में अरण्य उत्पाद लाई थीं—दुग्ध, दधि, नवनीत और तरह-तरह के कंद-मूल-फल आदि।

''फिर तो आपको ज्ञात ही होगा कि हम रीछ लोग निरामिष होते हैं। मनुष्यों से हमारी घृणा का मुख्य कारण यह भी है कि मनुष्य मांसाहारी हैं।''

रक्ताक्ष को शायद यह बात मालूम नहीं थी। उसने चकित हो मेरी ओर देखा।

इसके बाद जांबवती ने बताया—''पिताजी संध्या को आप लोगों से मिलेंगे। उसी समय वे अपने समाज के लोगों से भी मिलते हैं। उनका दरबार होता है। उसी दरबार में उन्होंने आप लोगों से भी मिलने को कहा है। तब तक आपको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।''

इतना कहकर वह चली गई; पर काफी देर तक उसकी उपस्थिति का अनुभव होता रहा।

ज्यों-ज्यों संध्या होती गई, बाहर लोगों की उपस्थिति बढ़ने लगी। हमने देखा, बाहर खुले प्रांगण में काष्ठ का एक बड़ा सिंहासन लगाया गया। उसके साथ ही कुछ छोटे-छोटे सिंहासन और लगाए गए।

बाहर निकलकर रक्ताक्ष ने एक रीछ से पूछा, ''आप लोग खुले स्थान पर दरबार लगा रहे हैं, यदि वर्षा होने लगी तो?''

पहले तो रीछ उसकी बात समझ नहीं पाया। फिर रक्ताक्ष खुले आकाश को दिखाकर वर्षा का संकेत करने लगा। रीछगण 'हो-हो' कर विचित्र रूप से उसके अज्ञान पर हँसने लगे। फिर उनमें से एक ने बड़ी गंभीरता के साथ अपने शरीर के घने बालों को दिखाकर समझाया कि हम लोगों पर वर्षा या ऋतु परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं होता। हम मनुष्यों की तरह सुकुमार नहीं हैं।

सूर्यास्त के पूर्व ही दरबार लग गया। हमें भी बुलाया गया और विशिष्ट अतिथियों की जगह बैठाया गया। फिर मेरी ही बगल में जांबवती को बैठने का संकेत महाराज ने किया। वह बड़े संकोच के साथ मुसकराते हुए बैठी।

अब महाराज ने मेरा परिचय अपने रीछ समुदाय को दिया। लगता है, वे अपनी पुत्री से मेरे बारे में सबकुछ जान चुके थे। लोगों ने खड़े होकर एक स्वर से 'हो-हो' की ध्वनि की। जांबवती ने बताया कि लोग आपका स्वागत कर रहे हैं। हम लोगों ने भी खड़े होकर आभार व्यक्त किया और बैठ गए। फिर महाराज ने

मुसकराते हुए कुछ कहा। सबने प्रसन्नता से स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

मेरी जिज्ञासा जागी। मैंने जांबवती से पूछा।

उसने लजाते हुए कहा, "आपके समझने योग्य बात नहीं है।" फिर उसकी दृष्टि धरती में धँस गई।

बाद में पता चला कि महाराज ने मुझे और जांबवती को दिखाकर पूछा था कि जोड़ी कैसी बनेगी?

खड़े होकर महाराज ने मुझसे कुछ पूछा। जांबवती ने बताया—"महाराज आपसे पधारने का कारण पूछ रहे हैं।"

मैंने पूरी कथा कुछ सीमित शब्दों में बताई और कहा, "कुछ दिनों के लिए आपसे स्यमंतक मणि मैं उधार चाहता हूँ, जिससे मैं अपने ऊपर लगा लांछन मिटा सकूँ।"

मेरी बात महाराज ने समझी नहीं। उन्होंने अपनी बेटी से समझाने के लिए कहा। अब जांबवती ने मेरे और रीछ समाज के बीच दुभाषिए का काम आरंभ किया। उसने मेरी सारी बातें ठीक उसी तरह और उसी मुद्रा में कहीं।

'उधार' शब्द सुनते ही महाराज हँस पड़े और बोले, "हमारे यहाँ कोई भी वस्तु माँगने से नहीं मिलती। इसीलिए रीछ समाज में कोई भिखमंगा नहीं मिलेगा। हम हर वस्तु को पराक्रम से प्राप्त करने में विश्वास करते हैं। तुम्हें भी यदि उस मणि को प्राप्त करना है तो पराक्रम करना पड़ेगा।"

"क्या करना होगा?"

"मुझसे युद्ध।" उनकी ध्वनि अचानक रौद्र घोष में बदल गई—"मुझे पराजित करने के बाद वह मणि तुम प्राप्त कर सकते हो।"

मैंने फिर निवेदन किया—"मैं वह मणि प्राप्त करना नहीं चाहता। केवल कुछ दिनों के लिए उधार चाहता हूँ।"

"उधार लेने-देने की कोई प्रथा हमारे यहाँ है ही नहीं। इसीलिए हमारे समाज में न चोरी है और न धोखा। सीधे-सीधे युद्ध करो, हमें पराजित करो और मणि ले जाओ।"

मैंने इस विषय में जांबवती से भी कहा कि वह मेरी ओर से अपने पिताजी से कुछ आग्रह करे। उसने भी असमर्थता व्यक्त की और कहा कि पिताजी का निश्चय अडिग होता है।

तब मैंने महाराज से कहा, "युद्ध का नियम क्या होगा? आप लोग तो इतने हैं, पर हम तो केवल दो हैं।"

“पर आपके साथी को तो मणि नहीं चाहिए, उस बेचारे को युद्ध में क्यों झोंकते हो? अकेले मुझसे युद्ध करो। मैं भी अकेले युद्ध करूँगा। शेष लोग हमारे युद्ध के निर्णायक होंगे।”

यह भी निश्चित हुआ कि या तो हम मल्लयुद्ध करेंगे या धनुष-बाण से लड़ेंगे। मैंने मन में सोचा कि मल्लयुद्ध की स्थिति कदाचित् मेरे अनुकूल न पड़े। इसके बड़े-बड़े नाखून स्वयं अस्त्र का काम करने लगेंगे। इसलिए इससे दूर से युद्ध करना हितकर होगा। युद्ध के लिए मेरे धनुष-बाण के चुनाव को जांबवान् ने स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन से हमारा युद्ध होना था। पूरे जांब वन में जैसे हलचल-सी हो गई। प्रात:काल से ही वह प्रशस्त प्रांगण रीछ समाज से भरने लगा। सबसे पहले महाराज ने अपने ग्राम देवता की पूजा की। एक घड़ी तक यह पूजा चलती रही। महाराज ने स्वयं अपने बाण से अपनी भुजा को भेदकर देवता को रक्तदान किया। फिर शुरू हुआ हमारे बीच धनुष-बाण का युद्ध।

मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसा भयानक युद्ध हो सकता है। हम मनुष्यों को अपने पर ही गर्व था। हमारा सोच था कि युद्धास्त्रों के निर्माण में हमने जो विकास किया है, वहाँ तक कोई अन्य जीव या उसकी प्रजाति सोच भी नहीं सकती; पर मैंने इस युद्ध में अनुभव किया कि हम मनुष्यों का यह झूठा अहंकार है। इस युद्ध में रीछ राजा ने ऐसे बाण चलाए, जो हमारी कल्पना से भी परे थे।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि यह भीषण युद्ध लगातार कई दिनों तक चला। यह युद्ध सूर्योदय के एक घड़ी बाद से आरंभ हो जाता था और सूर्यास्त तक चलता था। रात में हमारे घावों की चिकित्सा होती थी। रीछ चिकित्सक के साथ जांबवती भी भेजी जाती थी। वही जड़ी-बूटी से मेरी चिकित्सा करती थी। मैं नहीं जानता, महाराज ऐसा क्यों करते थे; पर मुझे बहुत अच्छा लगता था।

एक दिन तो सहज परिहास में मैंने जांबवती से कहा भी—“मेरी इच्छा होती है कि मैं घायल होता रहूँ और तुम इसी तरह मेरी चिकित्सा करती रहो।”

“और युद्ध ऐसे ही चलता रहे!” उसने बीच में ही हँसते हुए कहा, “वाह रे वाह! इससे अच्छा हो कि तुम युद्ध जीत लेते।”

मैंने मन-ही-मन कहा, ‘चेष्टा तो कर रहा हूँ।’ फिर सोचा, अब कुछ कूटनीति से भी काम लेना चाहिए। फिर मस्तिष्क में आया कि जांबवान् के पूर्वजों ने त्रेता में श्रीराम की बड़ी सहायता की थी। मैंने यही बात जांबवती से चलाई।

उसने भी इसकी सत्यता स्वीकार की।

जांबवान् के पूरे परिवार में यह बात नए सिरे से फैली। मैंने भी थोड़ा युक्ति से काम लिया। आज मैंने अपना मोर मुकुट नहीं पहना। कटि में पीतांबर तो पहने ही था। पूरे वक्ष पर मृगचर्म मूँज तथा डोर से बाँध लिया और ठीक समय से युद्ध के लिए प्रांगण में गया।

युद्ध के सारे दर्शक आज मुझे विशेष दृष्टि से देख रहे थे।

मैंने अपनी प्रत्यंचा चढ़ाते हुए कहा, ''आज मैं उन बाणों का प्रयोग करूँगा, जो त्रेता में किए गए थे।''

इतना सुनते ही जांबवान् चक्कर में पड़ा। उसने अपनी पुत्री को बुलाकर युद्धस्थल में ही पूछा कि वह क्या कह रहा है। उसने मेरी बात समझाई। जांबवान् के नेत्र एकदम विस्फारित हो गए।

मैंने जांबवान् को केवल श्रीराम की याद दिलाने के लिए त्रेता का नाम लिया था; क्योंकि किसीकी दृष्टि बदलने के लिए उसकी मानसिकता बदलना अनिवार्य है। और सचमुच मेरी यह युक्ति कारगर हुई। आज युद्ध के आरंभ से ही मैं जांबवान् को द्वारकाधीश कृष्ण नहीं, अयोध्या का वनवासी राम दिखाई देने लगा था। मेरी हर चेष्टा अब उसे राम की चेष्टा लगी। हर मुद्रा में रामत्व टपकता दिखाई दिया।

मध्याह्न होते-होते वह एकदम श्लथ हो गया। पसीने-पसीने। ऐसा लगा कि वह गिर पड़ेगा। उसने अचानक युद्ध रोक दिया और 'त्राहि माम्' करता हुआ मेरे चरणों में गिर गया।

''आप तो मेरे परिवार के आराध्य हैं। मुझे तो आप भगवान् राम ही दिखाई दे रहे हैं।'' वह बोला।

मैं बड़ी गंभीरता से मुसकराया।

मेरी मुसकराहट का बाहरी पक्ष उसकी आशंका पर विश्वास का पानी चढ़ाने के लिए था। उसका आंतरिक पक्ष मुझसे भीतर-ही-भीतर कह रहा था कि जहाँ तुम्हारा ईश्वरत्व काम नहीं आया वहाँ तुमने राम का ईश्वरत्व ओढ़ लिया।

जांबवान् और मेरे बीच चल रहे युद्ध का आज अट्ठाईसवाँ दिन था। आज तो देखते-देखते ही युद्ध का परिदृश्य बदल गया। जहाँ मुझपर बाण मारे जा रहे थे वहाँ मेरी आराधना होने लगी। आरती उतारी जाने लगी। सामूहिक स्तुतिगान आरंभ हुआ। मेरे साथ ही रक्ताक्ष भी अब उनके लिए अभिनंदित था।

अपराह्न हमारे अभिनंदन में एक विशेष उत्सव हुआ। इसी समय मुझे

स्यमंतक मणि भी अर्पित की गई। इस उत्सव में भी जांबवती ही दुभाषिया थी। आज उसके लिए यह कर्म बड़ा संकट और संकोच भरा था। वह रह-रहकर बीच-बीच में चुप हो जाया करती थी। कहे भी तो क्या कहे और कैसे कहे? ऐसे में उसका मौन ही अनकहा कह देता था।

बात यह हुई कि मणि देने के साथ-साथ महाराज ने एक निवेदन मुझसे और किया। यह निवेदन उनकी ओर से भी बड़ा संकोच भरा था।

उन्होंने कहा, ''मेरी बेटी बड़ी हो गई है। विवाह योग्य है। हम लोग उसके वर की खोज में थे। जैसा आप जानते हैं, वह मानव वर्ग की है। उसके लिए हमें मनुष्य ही चाहिए था। एक श्रेष्ठ पुरुष। मुझे लगता है, मेरी बेटी के लिए इस संसार में आपसे बढ़कर कोई दूसरा हो नहीं सकता।''

मन बहुत कुछ सोच रहा था, पर जबान बंद थी।

वह कहता गया—''पहली दृष्टि में ही मैंने उसके लिए आपका चयन कर लिया था। पहले दिन मैंने उसे जानबूझकर आपकी बगल में बैठाया था। लोगों से इस विषय में राय माँगी थी। मेरे पूरे समाज ने सहर्ष मेरा समर्थन किया था; पर मेरे समाज की प्रथा आड़े आ रही थी। मेरे यहाँ न कोई चीज माँगी जाती है और न दी जाती है। केवल पराजित कर हर ली जा सकती है। आज तो मैं स्वयं पराजित हूँ। आपके हरने का प्रश्न भी नहीं है। मैं सहर्ष अपनी बेटी को आपको प्रदान कर रहा हूँ।''

मैं अब भी गंभीर था। मैंने देखा, जांबवती बड़ी गंभीरता से मुझे देख रही थी। उसकी सारी उत्सुकता मेरे निर्णय पर लगी थी।

मैंने कहा, ''पर मेरे सामने एक संकट है, मेरा विवाह हो चुका है। एक नहीं, कई-कई।''

''तो एक और सही।'' जांबवान् का आग्रह और विनीत हुआ।

मैंने एक बात कहकर अपनी स्थिति और स्पष्ट की—''आपकी पुत्री के साथ विवाह करने के बाद मैं उसे अपनी पट्टमहिषी नहीं बना पाऊँगा; क्योंकि हमारे समाज के नियम के अनुसार पट्टमहिषी की घोषणा उसी दिन होती है, जिस दिन पुरुष सिंहासनारूढ़ होता है।''

जांबवान् हँसा—''मेरा आग्रह तो महिषी बनाने का था, पट्टमहिषी की तो मैं कल्पना भी नहीं करता।''

फिर मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। जांबवती मेरे निर्णय से कितनी प्रसन्न हुई, सो कैसे बताऊँ। आपने कभी ऐसी कली देखी है, जो भीतर-ही-भीतर फूल

बनकर बिखर गई हो।

उसी क्षण से मेरे विवाह की तैयारी होने लगी। जांबवान् ने अपनी पुत्री के लिए तुरंत मानवीय वस्त्र और आभूषण मँगाने के लिए दूत दौड़ाए। उन्हें पहनाने के लिए आदिवासियों के समूह से महिलाएँ बुलाई गईं। जब उसे सजा-सँवारकर लोगों ने मेरी बगल में विवाह के लिए उसे बैठाया, तब वह मुझे बड़ी विचित्र-सी लगी; जैसे जंगल के फुदकते किसी पक्षी को मणिजटित किसी पिंजड़े में बंद कर दिया गया हो, जहाँ न उसका आकाश हो और न उसकी धरती।

युद्ध की समाप्ति के दूसरे दिन यह सबकुछ हुआ और तीसरे दिन हुई हमारी बिदाई। हम चल पड़े। एक पार्वती पर्वत से बिदा हो रही थी। सारे पर्वतीय लोग पर्वत पाद तक उसे छोड़ने आए।

जांबवान् ने अपनी पुत्री के लिए एक श्वेत अश्व की भी व्यवस्था की थी। उसे उसी अश्व पर बैठाकर बिदा किया गया।

अब आगे-आगे मैं, मेरे पीछे जांबवती और उसके पीछे रक्ताक्ष। जांबवान् का गला भरा था। आँखों से आँसू टपक रहे थे। फिर भी उसके रुँधे गले से उसका अंतिम वाक्य मुझे सुनाई दिया।

वह अपने मंत्री को हमें दिखाकर कह रहा था—"देखो, मेरी पुत्री ब्रह्म और जीव के बीच माया की तरह चली जा रही है।"

□

जीवन की महान् उपलब्धि के साथ मैं लौट रहा था। स्यमंतक मणि भी मेरे पास थी और जांबवती भी मेरे साथ। हमारे उत्साह का ठिकाना भी नहीं था। लांछन का चंद्रमा डूबता दिखाई दे रहा था। पर हमारी गति में तेजी नहीं थी; क्योंकि जांबवती को अश्वारोहण का अनुभव तो दूर, वह घोड़े पर चढ़ना भी नहीं जानती थी। बार-बार मुझे उसे सहारा देना होता था।

एक बार तो मुझे उससे कहना पड़ा—"वृक्षों पर चढ़ने और छलाँग मारनेवाला जीव घोड़े पर चढ़ना क्या जाने!"

वह कटकर रह गई।

पर जांब वन समाप्त होने के बाद जब उसे पहुँचाने आए लोग लौट गए, तब मैंने उसे अपने ही घोड़े पर अपने पीछे बैठा लिया और उसके खाली घोड़े का अभीषु (लगाम) रक्ताक्ष को थमा दिया। अब ढलान की उतराई थी। हमारी गति काफी तेज हो गई। मैंने जानबूझकर और गति तेज की; क्योंकि ज्यों-ज्यों गति तेज होती जाती थी, वह मुझे कसकर पकड़ती और चिपकती जाती थी। मैं उसके प्रगाढ़

आलिंगन में था और मेरा अश्व मेरे नियंत्रण में।

पर्वतीय क्षेत्र में तो कोई बात नहीं थी। समतल पर जहाँ हम गाँवों के बीच से गुजरते थे तो यह स्थिति हास्यास्पद हो जा रही थी। लोग सोचते, अजीब हैं ये लोग भी। दो व्यक्ति एक घोड़े पर और एक घोड़ा खाली चल रहा था। फिर भी हम लोग मुसकराते हुए आगे बढ़ते रहे। इस बार हम माहिष्मती की ओर नहीं गए; क्योंकि हमें सीधे सत्राजित् के यहाँ पहुँचना था।

□

सत्राजित् के नगर में प्रवेश के पहले ही मैंने जांबवती को उसके घोड़े पर बैठा दिया और फिर सामान्य गति से आगे बढ़ा। नगर द्वार के प्रहरी सैनिकों में हमें देखते ही हलचल मच गई। किसीको कल्पना तक नहीं थी कि अब मैं लौटकर आऊँगा भी—और फिर इतने शान से। एक नवविवाहिता के साथ। हमारे अश्वों पर कीचक (बाँस) से बने और तिंदुक (तेंदू) के पत्तों से ढके दो-दो झापे भी बँधे थे।

नगर में आँधी की तरह मेरे आने का समाचार फैल गया। जो व्यक्ति सबसे पहले मुझसे मिला, वह कुशाग्र था। बड़ा प्रसन्न था। उसे ऐसा लग रहा था जैसे किसी बाढ़ में डूबा कोई व्यक्ति सजीव किसी किनारे लग जाए।

उसने कहा भी—"मुझे कल्पना तक नहीं थी कि अब आपके दर्शन होंगे।"

"क्यों? मैं इतनी जल्दी मरनेवाला नहीं हूँ, कुशाग्र!" इतना कहते हुए मैं घोड़े से उतर गया। साथ ही रक्ताक्ष और जांबवती भी।

मैं कुशाग्र को एक पेड़ के नीचे ले गया और यहाँ की गतिविधि के प्रति जिज्ञासा की।

पहली बात तो उसने यह बताई—"अब मैं यहाँ की चाकरी में नहीं हूँ।"

"क्यों?"

"क्योंकि मैंने आपको अपना अश्व दिया था, यह बात गुप्तचरों द्वारा महाराज को मालूम हो गई। उन्होंने दूसरे दिन ही मुझे राजभवन में बुलाया। पूछा और मैंने सबकुछ सच-सच बता दिया।" कुशाग्र ने यह भी कहा, "मैंने आपकी वास्तविक स्थिति बताई कि उन्होंने अपना रथ भी छोड़ दिया था। ऐसी स्थिति में बिना अश्व के उनका जाना निरापद नहीं था।"

उसने बताया—"तब महाराज एकदम भड़क उठे। बोले, 'चोर की तुम्हें चिंता थी! इस घटना को देखते हुए और पुरानी घटनाओं को याद कर अब तुम्हें शासन की चाकरी में रखना विषधर को पालना है। विषधर को तुरंत मार देना

चाहिए; पर मैं तुमपर कृपा कर मात्र चाकरी से ही हटा रहा हूँ।' "

"और कोई विशेष बात?"

"विशेष बात दो हैं।" उसने बताया—"एक तो यह है कि जब से आप यहाँ से गए हैं तब से वर्षा बिलकुल नहीं हुई है। पूरा भाद्रपद सूखा गया है।"

"पर चारों ओर तो बड़ी वर्षा हुई है।" मैंने कहा।

"इसीसे लोगों में यह विश्वास हो चला है कि महाराज ने द्वारकाधीश पर झूठा लांछन लगाया है। उसीका फल हम लोग भोग रहे हैं।" इसी संदर्भ में कुशाग्र ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही—"शास्त्रों के अनुसार, राजा के पाप से न कभी प्रजा मुक्त होती है और न प्रजा के पाप से राजा मुक्त होता है।"

फिर मैंने कुशाग्र को समझाया—"कोई बात नहीं, जो तुम सत्राजित् की चाकरी से मुक्त हो गए। अब तुम हमारी चाकरी में हो। इसी क्षण से हो।" फिर मैंने उसे एक अत्यंत जरूरी कार्य सौंपा—"तुम अपना अश्व लो और पहले पूरे नगर में मुनादी कर दो कि सत्राजित् ने स्यमंतक मणि की चोरी का द्वारकाधीश श्रीकृष्ण पर झूठा लांछन लगाया था। वह मणि कल अपराह्न प्रजा के बीच उपस्थित की जाएगी।"

कुशाग्र ने तुरंत मुनादी करा दी। इसका परिणाम यह था कि प्रजा को पहले ज्ञात हुआ कि मैं मणि लेकर आ गया और सत्राजित् को बाद में।

मुनादी के लिए चलने से पहले मैंने कुशाग्र से पूछा, "तुम दो बातों की चर्चा कर रहे थे। एक तो तुमने बता दी, पर दूसरी क्या है?"

"दूसरी बड़ी कष्टप्रद है।" उसने बताया—"आप तो भरी सभा में संकल्प कर तुरंत चले गए; पर सत्यभामा उसी क्षण से उदास हो गई। उसका सोचना था कि आपने बड़ी कठिन प्रतिज्ञा की है। यदि पूरी नहीं हुई तो क्या होगा?"

उसीका कहना था—"कुछ दिनों तक तो उसने मंदिर में बैठकर आराधना की और एक दिन वह अचानक अदृश्य हो गई।"

"फिर वह कहाँ गई?" मैं सोचने लगा।

"महाराज ने भी चारों ओर चर दौड़ाए; पर कहीं उसका पता नहीं चला।" उसके अनुसार, "अब एक ही आशा बची है कि हो न हो, वह द्वारका में हो।"

"क्यों, द्वारका में पता नहीं लगाया गया था?" मैंने पूछा।

"आपकी प्रतिज्ञा का समाचार पाकर द्वारका की सीमा इस राज्य के निवासियों के लिए बंद कर दी गई थी। अब द्वारका के पत्तन से यहाँ का व्यापार भी नहीं होता।" कुशाग्र का कहना था—"यहाँ का कोई व्यक्ति भी वहाँ जा नहीं सकता

और जाकर सुरक्षित लौट भी नहीं सकता। राजनयिक संबंध भी विच्छिन्न हो गए हैं। बड़ी आवश्यकता पर इक्के-दुक्के को द्वारका में प्रवेश की अनुमति मिलती है; पर वह भी सीमा पर बड़ी गहरी जाँच के बाद।''

''तब सत्यभामा कैसे गई होगी?'' मैंने कहा।

पर वह मौन ही रह गया।

''भगवान् उसका कल्याण करें।'' मेरे मुख से निकला। मैंने फिर कुशाग्र से कहा, ''मुनादी तो आरंभ ही करा दी है, जरा उसमें और त्वरा ले आओ।''

अब मैं पैदल ही चल पड़ा। नगरवासी बधाई देने मुझपर टूट पड़े। मैं लोगों से घिरता गया। कोई कहता, महाराज ने आप जैसे व्यक्ति पर झूठा लांछन लगाकर अच्छा नहीं किया। कोई कहता, उसीका पाप तो हम लोग भोग रहे हैं। कोई कहता, अभी क्या भोग रहे हैं! आगे देखना, कैसी विपत्ति पड़ती है!

मेरे भीड़ में घिरने से रक्ताक्ष और जांबवती पीछे ही छूट गए थे। मैं जब राजभवन में पहुँचा, मैंने देखा कि सत्राजित् अपने अमात्य मंडल के साथ मेरी अगवानी में खड़ा है। मुद्रा एकदम पराजितों जैसी लजाई हुई। कैसे इस भीड़ के सामने आए, मुझे यही आश्चर्य था।

''तुम्हें बधाई है।'' सत्राजित् की एक दबी आवाज ने मेरा स्वागत किया।

इस बदली हुई स्थिति पर मैं चकित था। फिर भी कुछ बोला नहीं। केवल हाथ उठाकर लोगों के अभिवादन का उत्तर देता रहा।

अपने से कुछ न बोलते हुए देखकर सत्राजित् ने मेरी बाँह पकड़कर मुझे रोक लिया और बोला, ''तुम मुझे क्षमा नहीं करोगे? लगता है, तुम बहुत अप्रसन्न हो।''

''आप मुझसे प्रसन्न ही कब थे, जो मैं आपसे अप्रसन्न होऊँगा!'' मैंने कहा।

इसके बाद सत्राजित् कुछ नहीं बोला और मेरे सामने से हट गया। मैं आगे बढ़ा। वह भी जांबवती को देखकर चकित था, वरन् सारी भीड़ की दृष्टि मुझसे अधिक जांबवती पर ही थी। जो भी देखता, उसकी आँखें कुछ समय के लिए उससे चिपक जातीं। लोग सोचने लगते, गया तो स्यमंतक मणि की खोज में, ले आया ऐसी अनिंद्य सुंदरी को। यह भी अद्‌भुत है।

अब भीड़ छँट चुकी थी। प्रतिहारी अतिथिगृह की ओर हमें लेकर आगे बढ़े। जांबवती अब भी अश्व पर ही थी। मैंने उसपर व्यंग्य किया—''तुम कब तक अश्व पर सवार रहोगी?''

वह तुरंत अश्व से उतर पड़ी और लज्जा से उसकी आँखें भूमि में गड़ गईं। बात यह थी कि मानव समुदाय के बीच यह उसका पहला अनुभव था। वह ठीक से अभिवादन का उत्तर देना भी नहीं जानती थी।

हम लोग आगे बढ़ रहे थे कि पागलों जैसी एक औरत राजभवन से निकली। बाल खुले हुए और वस्त्र अस्त-व्यस्त। मैं उसे पहचानता नहीं था और न पहले उसे कहीं देखा था।

"अरे, सुनो-सुनो!" वह चिल्लाती हुई मेरी ओर दौड़ी।

मैं रुक गया।

"तुम स्यमंतक मणि तो ले आए, पर मेरे पति को कहाँ छोड़ दिया?"

अब मुझे लगा कि यह प्रसेनजित् की पत्नी है। उसके पीछे सत्राजित् अब भी खड़ा था। मैं उसे क्या उत्तर देता। मैंने धीरे से उसके चरण छुए।

"तुम बोलते क्यों नहीं? चुप क्यों हो?" उसने फिर जोर दिया।

"मेरे पास बोलने के लिए कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे आप सुन सकें।" मैंने कहा।

पर वह मुझे समझ न सकी। उसने कहा, "तुम बोलो, मैं सब सुन सकती हूँ।" वह मेरे दोनों हाथ पकड़कर हिलाती रही।

पर मैं अब भी चुप था। सोचता रहा, इस समय कुछ कहना वातावरण को एकदम बदल देगा। मैंने उससे करबद्ध प्रार्थना की—"आप मुझे इस समय छोड़ दीजिए। कल प्रजा की सभा बुलाए जाने का महाराज से आग्रह करूँगा।"

किसी तरह उसने मुझे छोड़ा। हम अतिथिभवन में लाए गए। हम तीन लोगों के तीन अलग-अलग कक्ष निश्चित किए गए थे। मैंने अतिथिभवन के पालक से कहा, "मेरे साथ आई महिला मेरे ही कक्ष में रहेगी।"

उसने भी सोचा होगा कि मैं कितना निर्लज्ज हूँ। पर बात यह थी कि जांबवती मानवी शिष्टाचार से एकदम अनभिज्ञ थी। मानव समाज के नियम-विधानों से दूर। वह यह भी नहीं जानती थी कि मानव समाज में कैसे रहना चाहिए।

तुरंत हम लोगों के लिए जलपान लेकर भंगकार आया। उसके साथ उसका भाई वातापति भी था। आज का जलपान भी पहले के जलपान से काफी उच्च कोटि का और आत्मीयता से भरा हुआ था। उन दोनों ने आवभगत के बीच अनेक बार स्यमंतक मणि के विषय में जिज्ञासा की।

मैंने उनसे यही कहा, "मैंने उस मणि को लाने के लिए आपकी प्रजा के बीच संकल्प लिया था और कहा था कि यदि मैं खोजने में असफल हो जाऊँगा तो

आपके बीच ही आकर आत्मदाह करूँगा। इसलिए मेरा कर्तव्य है कि मैं सबसे पहले प्रजा को ही अपनी यात्रा का विवरण सुनाऊँगा और उसीके सामने वह मणि भी तुम्हारे पिता को समर्पित करूँगा।"

"तो आप वह मणि पिताजी को दे देंगे?" उसे जैसे मेरी बात का विश्वास ही न हो।

"क्यों नहीं दूँगा?" मैंने कहा, "मैं कोई भी वस्तु बिना उसके स्वामी की इच्छा के लेता नहीं। मैं कोई चोर या दस्यु तो हूँ नहीं, जैसा आपके पिताजी समझते हैं।"

सत्राजित् के स्वभाव से मेरा मन अब भी बड़ा आतंकित था। मैंने वह मणि अपनी कटि में बाँधकर रखी थी। मैं उसकी नीयत पर इस समय भी संदेह कर रहा था। वह किसी प्रकार मुझसे मणि प्राप्त कर मुझपर लगाए गए लांछन को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने के लिए कुछ भी कर सकता था। मेरा पराभव ही उसका मुख्य लक्ष्य था; जबकि इस समय मेरा लांछन आत्मदाह से जुड़ गया था।

अपनी कल्पना में कई बार सत्राजित् ने मुझे आत्मदाह करते हुए भी देखा होगा; पर इस समय तो वह एकदम बुझ चुका था। भभककर जलने का अंतिम परिणाम भी राख ही होता है। इस समय भी वह ही राख था—जली हुई रज्जु की तरह, जो अब भी मेरी आशंका में साँप ही दिखाई दे रहा था।

आज मेरी सबसे अधिक चिंता सत्यभामा को लेकर थी। मैंने भंगकार और उसके भाई से भी उसके बारे में पूछा। पर वे इतना भी न बता सके, जितना कुशाग्र ने बताया था।

पर मुझे अधिक आश्चर्य इस बात पर था कि आज हमें सत्राजित् ने अपने साथ भोजन पर बुलाया। यह एक तरीके से मेरे सम्मान में ही भोज था। जो सीधे मुँह बात भी न करता हो, उसकी ओर से यह सम्मान प्रदर्शन अचरज की बात थी ही। फिर मैंने उसे सहजभाव से स्वीकार किया। जांबवती और कुशाग्र को लेकर मैं भोज में उपस्थित हुआ। लोग जांबवती के प्रति अपनी जिज्ञासा व्यक्त करें, इसके पहले ही मैंने उसका परिचय दे दिया; पर विस्तार में नहीं गया। विस्तार में जाने का तात्पर्य था, वह सब बता देना, जो प्रकारांतर से स्यमंतक मणि के विषय में बताना होता।

अतएव मैंने उसका संक्षिप्त परिचय ही दिया—"यह मेरी नवविवाहिता पत्नी है।"

"क्या तुमने मणि की खोज में विवाह भी कर लिया?" सत्राजित् ने पूछा

और गंभीर भी हो गया।

ऐसा लगा, मेरी यह सूचना उसके मन की नहीं लगी।

"तो तुम्हारी पूर्व पत्नियों का क्या होगा?"

"वे मेरी पत्नी हैं और रहेंगी।"

"और फिर भावी पत्नी का क्या होगा?"

सत्राजित् का यह नितांत असंगत और ऊटपटाँग प्रश्न था, जिसे मैं समझ नहीं पाया। पर वह बड़ी गंभीरता से मेरा मुख देखता रह गया।

इसी बीच भोज पर ही बैठी प्रसेन की पत्नी को अचानक दौरा पड़ा। वह पागलों-सी चिल्लाती हुई एकदम खड़ी हो गई।

"तुम स्यमंतक मणि लाए हो न?"

"हाँ-हाँ, लाया हूँ।" मैंने उसे बैठाते हुए सांत्वना दी। फिर सत्राजित् की ओर संकेत कर बोला, "वह मणि तो इनके लिए है।"

उसने सत्राजित् की ओर देखते हुए कहा, "ये ही मणि के लिए पागल हो रहे थे; पर मेरे लिए क्या लाए हो?"

"आपके लिए भी लाया हूँ।" मैंने कहा, "और कल की सार्वजनिक सभा में जब इन्हें मणि दी जाएगी, तब आपको भी आपकी वस्तु समर्पित की जाएगी।"

मेरे इतना कहते ही वह पुनः खड़ी हो गई और करतलध्वनि करती हुई जैसे नाच उठी—"मुझे भी कल मेरी वस्तु मिलेगी!"

मेरा मन भर आया—'काश! मैं किसी विधवा को उसका पति दे पाता।'

□

मैं अपने कक्ष में पड़ा-पड़ा जांबवती को मानव जीवन-पद्धति से परिचित कराता रहा और राजपरिवार की जीवन शैली बता रहा था। संध्या होने को आई। विचार आया कि जरा बाहर निकलकर उद्यान की ओर चलूँ। मैंने जांबवती को वहीं छोड़ दिया; क्योंकि उसे अभी ठीक से कपड़े पहनना भी नहीं आता था। उसने जिद भी नहीं की। मैंने बगल के कक्ष से रक्ताक्ष को लिया और चल पड़ा।

आज जो भी मुझे देखता, बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करता। राजपरिवार और हर कर्मचारी की दृष्टि आज मेरे प्रति बदली थी। मुझे देखते ही जो जहाँ बैठे रहते, खड़े हो जाते थे और सम्मान में ऐसा सिर झुकाते थे जैसे मैं कोई विजयी योद्धा होऊँ।

रक्ताक्ष ने टिप्पणी की—"हर व्यक्ति कुछ ही दिनों में बदल गया है।"

"व्यक्ति नहीं बदला है, परिस्थितियाँ बदली हैं। व्यक्ति तो वही है।" मैंने

कहा, "इसीलिए मैं व्यक्ति को कभी कर्ता नहीं मानता। वह भोक्ता मात्र है। कर्ता तो काल या नियति है। हम तो 'करण' की भूमिका निभाते हैं। कल तक तो मैं लांछित था। आज वही लांछित है, जिसने मुझपर लांछन लगाया था। देखा नहीं, उसकी दृष्टि चोरों जैसी हो गई है।"

रक्ताक्ष मेरी बातें सुनता और शंकाएँ करता रहा। हम बातों में लिप्त टहलते रहे। अँधेरा होने को आया। मैं लौटने ही वाला था कि उद्यान के पश्चिम की ओर से सत्राजित् अपने दोनों पुत्रों के साथ आता दिखाई दिया।

बड़े संकोच से उसने पूछा, "कल प्रजा की सभा बुलानी आवश्यक है क्या?"

"क्यों? अभी तक बुलाई नहीं गई क्या?" मैंने प्रश्न का उत्तर प्रश्न से ही दिया और कहा, "मेरे लिए तो यह अनिवार्य है। मैंने प्रजा के बीच ही संकल्प लिया था। उसीके सामने आपने लांछन भी लगाया था, इसीलिए उसीके सामने मुझे अपना स्पष्टीकरण भी देना चाहिए। इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं होनी चाहिए।"

"आपत्ति तो नहीं है; पर मैं सोचता हूँ कि ऐसे तो आपने मुनादी करा ही दी है। लोग वास्तविकता से परिचित हो गए हैं। अब सभा की कोई आवश्यकता नहीं रही।"

"बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें आपके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। वे सत्य भी उसी सभा में उद्‌घाटित होंगे।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

मेरी मुसकराहट उसे विष व्यंग्य में डूबी दिखाई पड़ी। उसका दबा अहं एक बार फिर उभरा—"मैं सत्य से डरता नहीं हूँ। मैं तो केवल सभा के औचित्य पर सोच रहा था।"

"हाँ, आपको सत्य से डरना भी नहीं चाहिए।" मैंने कहा, "क्योंकि जब व्यक्ति सत्य से डरता है, तब सत्य आक्रामक होकर उसके पीछे लग जाता है।"

वह कुछ नहीं बोला। चुपचाप, दृष्टि नीची किए मेरी बगल से निकल गया। पर उसका महामात्य मेरे पास रह गया। मेरी सफलता की सराहना करता और मुझे बधाई देता रहा। बीच-बीच में उसने मेरे साहसी अभियान के विषय में भी कुछ जिज्ञासाएँ कीं।

मेरा बस एक ही कहना था कि आपकी सारी जिज्ञासाएँ कल प्रजा की सभा में शांत हो जाएँगी। फिर भी उसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। इधर-उधर की बातों के बीच-बीच में मेरी प्रशंसा भी करता रहा।

इसी क्रम में उसने अपना अभिप्रेत भी बताया—''महाराज चाहते हैं कि पुराना सबकुछ भुलाकर हम लोग नए सिरे से मित्र हो जाएँ।''

इस तरह की बातें यहाँ आने के बाद मुझसे कई लोगों ने की थीं। कुछ ने संकेत से और कुछ ने स्पष्ट कहा था। कुछ का कहना था कि महाराज आपकी सफलता से अत्यधिक भयभीत हैं। उनका कहना है कि कृष्ण इस अपमान का प्रतिशोध अवश्य लेगा। प्रजा भी उसीका साथ देगी; क्योंकि वह हर कार्य में प्रजा को ही आगे करता है।

मैंने हँसते हुए महामात्य से कहा, ''भुला देने और भूल जाने में एक मौलिक अंतर है। भुला देना चेतन मन की जानबूझकर की जानेवाली क्रिया है। इसीलिए जो चीज भुलाई जाती है, वह और याद आती है। इसलिए किसी वस्तु या घटना को जानबूझकर भूलने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।...और फिर आपके महाराज कोई मेरे शत्रु तो हैं नहीं। मैं तो उन्हें 'चाचा' कहता रहा हूँ और आज भी 'चाचा' ही कहूँगा। भविष्य में भी वे मेरे 'चाचा' ही रहेंगे, भले ही वे मुझे कुछ भी समझते रहें।''

मेरे उत्तर के बाद महामात्य ने मेरा पिंड छोड़ दिया।

अब रक्ताक्ष ने एक नई शंका रखी—''आखिर सत्राजित् इतना भयभीत क्यों है?''

''क्योंकि वह बड़ा भारी अहंकारी है।'' मैंने कहा, ''अहंकार महत्त्वाकांक्षा की दुर्बलता से जनमे क्रोध का ही स्थायी रूप है। दुर्बलता से ही वह पैदा होता है, दुर्बलता में ही रहता है और अंत में जब जाता भी है तो दुर्बलता का आभास कराकर। इस समय सत्राजित् का अहंकार भी उसकी दुर्बलता का आभास कराकर चला गया है।''

''इसलिए इस समय यदि हम और कड़े हों तो उसे और झुकाया जा सकता है।'' रक्ताक्ष बोला।

''जो स्वयं झुक रहा हो, उसे झुकाने के लिए कड़े होने की आवश्यकता क्या है!'' मैंने हँसते हुए कहा।

□

जब मैं अतिथिकक्ष में लौटा तो सत्यभामा की व्यक्तिगत परिचारिका जांबवती से बातें कर रही थी। मुझे प्रवेश करते देखकर वह पीछे के द्वार से धीरे से चली गई।

मेरे पर्यंक पर बैठते ही जांबवती ने पूछा, ''यह सत्यभामा कौन है?''

"महाराज सत्राजित् की एकमात्र कन्या।" मैंने चढ़ा-बढ़ाकर नाटकीय ढंग से उसे चिढ़ाने की नीयत से कहा, "प्रख्यात राजकुमारी है। बड़ी विदुषी है।"

"वह आपको बहुत चाहती है?"

"तुमने क्या इतनी देर में यही खोज की है?"

"खोज नहीं की है वरन् उसकी परिचारिका कह गई है कि वह द्वारकाधीश के प्रति तन-मन से समर्पित है।"

"समर्पित वस्तु तो दिखाई पड़ती है। उसका मन भले ही न दिखाई देता, पर तन को तो दिखाई पड़ना चाहिए था।" मैंने कहा, "उसके समर्पण को अब तक उसे यहाँ खींच लाना चाहिए था।"

अब उसने उस परिचारिका से मिली प्रत्येक सूचना को अपने शब्दों में दुहराया। उसके कथनानुसार—"जब आप आत्मदाह की प्रतिज्ञा कर चले गए तो वह मानसिक रूप से असंतुलित हो गई। कुछ समय तक तो मूर्च्छित रही। राजवैद्य बुलाए गए, तब उसकी मूर्च्छा टूटी। उसके पिता ने उसे बहुत डाँटा कि एक चोर के प्रति ऐसी आस्था! तब उसने बड़ी दृढ़ता से कहा था—'मेरा कन्हैया चोर नहीं हो सकता। आपका लांछन झूठा है।' इसपर उसके पिताजी एकदम उबल पड़े। उन्होंने कहा, 'तू मुझे झूठा समझती है, तो आज से मेरा-तेरा कोई संबंध नहीं। न मैं तेरा पिता और न तू मेरी कन्या!' "

जांबवती ने बताया—"तब से दोनों का संबंध एकदम टूट गया। सत्यभामा अपने कक्ष में ही रहने लगी। पागलों-सी आपके चित्र से बातें करती, लड़ती-झगड़ती और फिर थककर आपके चित्र को लिये-लिये ही सो जाती। फिर तो खाना-पीना, सोना-जागना उसका सब अव्यवस्थित हो गया। जो भी उसे खाना मिलता, वह आपके चित्र के आगे लाकर रख देती और बड़ी व्यथा से कहती—'पता नहीं किस जंगल में होंगे! कहीं कुछ खाने को मिला होगा या नहीं मिला होगा। भगवान् जाने किस स्थिति में होंगे!' और फिर बिलख-बिलखकर वह रोने लगती।

"परिचारिका का कहना था कि बहुत कहने-सुनने पर वह आपका प्रसाद समझकर थोड़ा-बहुत ग्रहण करती। इतने दिनों तक उसने आपकी प्रतीक्षा की। फिर तीन दिन पहले, एक रात को पता नहीं कहाँ गायब हो गई।"

मैं बड़े ध्यान से जांबवती को सुनता रहा। फिर सोचने लगा कि वह कहाँ चली गई।

जांबवती ने मेरी मुद्रा को देखकर पूछा, "किस चिंता में पड़ गए?"

अपने पति को अन्य स्त्री की चिंता में देखकर किसी भी नवविवाहिता स्त्री का ईर्ष्यालु होना स्वाभाविक है।

मैंने कहा, ''किसी चिंता में नहीं हूँ। पर मुझे आश्चर्य है कि उसने मेरा चित्र कहाँ से पाया। न तो मैंने उसे दिया, न वह स्वयं चित्र बना सकती है और न इस राजभवन में मेरे चित्र का प्रवेश ही संभव है। फिर उसने मेरा चित्र पाया कहाँ से?''

''यह तो वही बता सकती है।'' जांबवती बोली और फिर बहुत देर तक चुप रही। फिर उसने संदर्भ से हटकर पूछा, ''वह बहुत सुंदर है क्या?''

''हाँ, सुंदर तो है।'' झट मेरे मन ने कहा, 'यह क्या कह रहे हो?' मैंने तुरंत अपने को सुधारा—''पर तुमसे अधिक सुंदर तो नहीं है।''

पूर्व उत्तर से उसकी मुद्रा गंभीर हो गई थी और अब भी गंभीर थी। पर्यंक पर लेटा-लेटा मैं किसी ऐसी बात की खोज में था, जिसे शुरू कर संदर्भ बदला जा सके। जांबवती का मन कुछ हलका हो सके।

पर इसके पहले ही वह बोल पड़ी—''एक बात आप जानते हैं या नहीं?''

''क्या?''

''कोई स्त्री सबकुछ सह सकती है, पर अपने प्रेम का विभाजन नहीं सह सकती।'' उसके कथन में बड़ी तेजस्विता थी।

मैंने उसका तात्पर्य समझ लिया। हँसते हुए बोला, ''प्रेम कभी विभाजित नहीं होता, या विभाजित होने पर भी पूर्ण ही रहता है।''

''आपका दर्शन मेरी समझ में नहीं आता।'' काफी रुक्षता थी उसकी आवाज में।

''इसलिए कि तुम्हारा प्रेम अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है।'' मैंने कहा।

बात कड़वी थी। उसे लग गई। आरण्यक सभ्यता में पली एक स्त्री मेरे इस कथन पर अवश्य चीख पड़ती; पर वातावरण एवं परिस्थिति के दबाव में चुप रह गई और मेरे ही कक्ष के दूसरे पर्यंक पर मुझसे विमुख होकर लेट गई।

मैं भी चुपचाप पड़ा रहा। कल की सभा की स्थिति के बारे में सोचता रहा। कक्ष में जलनेवाली मशाल कुछ धुँधली हो गई थी। लगता है, आज उसमें तेल डाला नहीं गया था। इसीलिए कम हो गया था। मैंने प्रतिहारी से कहा। उसने बाहर जल रही मशाल से उसे बदल दिया।

आँखें बंद कर मैं ध्यानावस्थित था कि अचानक मुझे लगा कि कोई मेरे

कक्ष की ओर देख रहा है। निकट आने के साथ-साथ उसकी गति के प्रकंपन के बीच एक बोझिल सिसकन भी मुझे उभरती सुनाई पड़ी और फिर क्षण भर में वह कमरे के भीतर आकर मुझपर एकदम गिर पड़ी।

यह सत्यभामा थी। मुझसे चिपटकर बहुत देर तक रोती रही। मैंने भी उसे एकदम वक्ष से लगाए रखा। उसके पीछे वही परिचारिका थी, जो इसी कक्ष से उसके पूर्व गई थी।

हम दोनों चुप थे—वह सिसकती हुई और मैं उसकी पीठ सहलाता हुआ। मैंने अनुभव किया कि वह इतने दिनों में कितनी कृशकाय हो गई है।

धीरे-धीरे जब उसकी सिसकन कम हुई तो मैंने उसके आँसू पोंछे और बोला, ''इतने ही दिनों में तुम इतनी दुबली हो गईं, सत्या!''

''जीवित हूँ, यही क्या कम है!''

''क्यों, तुमने जीवन की आशा भी छोड़ दी थी?''

''जब आपने आत्मदाह का संकल्प ले लिया था, तो मैं क्या करती!''

''तो तुम्हें विश्वास था कि मैं अपने अभियान में असफल ही होऊँगा।'' मैंने मुसकराते हुए उसके कपोल पर चपत लगाकर कहा।

''मुझे विश्वास नहीं था कि स्यमंतक मणि आप खोज निकालेंगे।'' उसने कहा, ''आपके यहाँ से जाने के बाद मुझे जो भी ज्ञात हुआ, उससे मैं और भी घबरा गई।''

''क्या आभास लगा?'' मैंने पूछा।

उसने कहा, ''फिर बताऊँगी।'' क्योंकि सामने पर्यंक पर लेटी जांबवती से उसकी निगाहें उलझ चुकी थीं।

मैंने उसका ध्यान दूसरी ओर बँटाने के लिए पुनः पूछा, ''अच्छा, यह बताओ कि तुम गई कहाँ थीं?''

''आपकी चिंता में भटक रही थी।'' उसने बताया—''आपके यहाँ से जाने के बाद एक-एक दिन भारी पड़ रहा था। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कुछ समझ नहीं पा रही थी। फिर भी छटपटाते हुए पंद्रह दिन बीत गए। एक दिन रात को मैंने एक दुःस्वप्न देखा कि आप किसी विपत्ति में फँस गए हैं। घबरा उठी और बिना कुछ समझे राजभवन से निकल पड़ी।''

''सुना है, इसके पहले भी चाचाजी से तुम्हारी कुछ अनबन हो गई थी?'' मैंने कहा।

''यह कोई बड़ी बात नहीं थी। आपके जाने के बाद तो यह प्रतिदिन की

सामान्य घटना हो गई थी।'' वह बोली।

''हाँ, तो यों ही निकल पड़ी तो गई कहाँ?''

''जाती कहाँ! कहीं जाना तो था नहीं। केवल भटकना था। रात को चली। जिस वस्त्र में चली, बस वही मेरे पास था। इस विपत्ति में बस एक ही सखि मुझे याद आई—सुभद्रा और मैंने द्वारका का मार्ग पकड़ा।''

''यहाँ से सीधे द्वारका!'' मुझे आश्चर्य हुआ—''और वह भी पैदल!''

''अब यह सब मत पूछिए। मुझे भूल जाने दीजिए।'' फिर वह चुप हो गई। थोड़ी देर बाद बोली, ''जब सुभद्रा के पास पहुँची तो उसने चुपचाप मुझे अपने यहाँ रख लिया। अपने आवास से निकलने तक नहीं दिया। बोली, 'यहाँ से निकलोगी तो भैया मुझसे तरह-तरह की बातें पूछेंगे। अभी वे जो कुछ जानते हैं, वह आधा-अधूरा है। उसीसे वे इतने दु:खी हैं जैसे पहाड़ टूट पड़ा है। यदि कुछ और जान जाएँगे तो पता नहीं उनकी क्या दशा होगी!'

''सुभद्रा का कहना यह भी था और उचित भी था कि अब तुम्हारा अपने पिता के यहाँ भी लौटना ठीक नहीं। पिता के घर से आधी रात को निकले हुए पैर फिर पिता के घर की ओर नहीं लौटते।''

''सुभद्रा इतनी समझदार हो गई है!'' मैंने आश्चर्य के साथ मुसकराते हुए कहा।

''आप उसे क्या समझते हैं! यदि वह न होती तो आज मैं न होती।'' उसके कथन में सुभद्रा के प्रति आत्मीयता और विश्वास दोनों था। उसने बताया—''सुभद्रा ने कहा, 'तुम्हें जीना पड़ेगा और वह भी संघर्ष करते हुए। जीवन से भागकर तुम संघर्ष नहीं कर सकतीं। यदि संघर्ष नहीं कर सकतीं तब तुम्हें ऐसे व्यक्ति की प्रेमिका होना व्यर्थ है, जो दूसरों का संघर्ष अपने सिर मोल ले लेता हो।' ''

फिर मेरी एक जिज्ञासा और थी। मैंने बातों का क्रम एकदम दूसरी ओर मोड़ते हुए पूछा, ''आखिर तुम्हें पता कैसे चला कि मैं आ गया? और संकल्प में सफल होकर आ गया?''

''मैं क्या, पूरी द्वारका जान गई कुशाग्र की मुनादी से।'' वह हँसते हुए बोली, ''आकाश में घनश्याम छाए और मोर को पता न चले! सारी द्वारका का मन मयूर नाच उठा है। सूखते वृक्ष हरे हो गए हैं। आज तो देखते ही बनता है। कल की उदास, खिन्न और मन मारे बैठी द्वारका आज खिलखिलाती हुई झूम रही है।''

''फिर तू इतनी जल्दी कैसे चली आई?''

''आपके आगमन का समाचार सुनते ही द्वारकावासियों ने आपके सारथि को बुलाया और कहा कि जैसे तुम कन्हैया को छोड़कर आए थे वैसे ही उन्हें जाकर ले आओ। तब वह इतना प्रसन्न हुआ कि मैं क्या बताऊँ! तुरंत आपका रथ लेकर चल पड़ा। उसी पर मैं चली आई।'' सत्यभामा ने कहा।

''कहाँ है दारुक?'' मैंने पूछा ही था कि दारुक ने कक्ष में प्रवेश किया। ऐसा लगा जैसे नेपथ्य में खड़ा-खड़ा मंच में प्रवेश करने का अवसर ढूँढ़ रहा था।

प्रविष्ट होते ही वह बोला, ''सेवक उपस्थित है, महाराज।''

उसके प्रवेश करते ही सत्यभामा मेरे पर्यंक से उठकर खड़ी हो गई और मुझसे विमुख होकर लेटी हुई जांबवती उठकर बैठ गई।

''हम लोगों को प्रसन्नता है कि आप स्यमंतक मणि प्राप्त कर लौट आए।'' दारुक मेरे चरण स्पर्श कर बोला।

मुझे मौका मिला। अब मैंने कहा, ''केवल स्यमंतक मणि ही नहीं, इसे भी लेकर आया हूँ।'' इतना कहते हुए मैं जांबवती की ओर बढ़ा और उसे हाथ पकड़कर उठाया। उसका परिचय कराया।

दारुक चकितभाव से देखता रहा; पर सत्यभामा तो करतलध्वनि करती हुई एकदम उछल पड़ी। उसकी प्रसन्नता का आर-पार नहीं।

''तब तो आपको दोहरी बधाई है।'' इतना कहकर उसने जांबवती के चरण छुए।

मैंने मुसकराते हुए पूछा, ''सत्यभामा, क्या तुम सचमुच प्रसन्न हो?''

''इसमें कोई संदेह है?''

''क्या तुम्हें नहीं लगता कि तुम्हारा प्रेम विभाजित हो गया है?''

''मेरा प्रेम कभी भी विभाजित नहीं हो सकता। वह तो मेरे समर्पण का पर्याय है। कोई मेरे समर्पण को बाँट नहीं सकता। उसकी तो मात्र इतनी ही अभिलाषा है कि तुम प्रसन्न रहो, किसीके रहो, कहीं रहो।''

मैंने मुसकराते हुए जांबवती की ओर देखा, वह संकोच से गड़ी जा रही थी।

□

आज प्रजा की सभा बुलाई गई थी। अभी तक किसीको मैंने स्यमंतक मणि दिखाई नहीं थी और न उसके प्राप्त करने की कथा ही बताई थी। इसीलिए सबकी जिज्ञासा प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। लोग तरह-तरह का अनुमान लगा रहे थे। सत्राजित् स्वयं बड़े असमंजस में था। सारा षड्यंत्र तो उसीका था। पहले तो उसने

सोचा कि 'प्रसेन की हत्या कर कृष्ण ने मणि पा ली है। यदि सचमुच उसके पास है तो उसे दिखाना चाहिए। भले ही सभा में वह और लोगों को भी दिखाता। छिपाता क्यों? फिर आदिवासी लड़की के साथ आना और उसे अपनी नवविवाहिता बताना। यह सब क्या है? किसी नए नाटक की अवतारणा का उपक्रम तो नहीं है। तब तो यह प्रसेन की हत्या नहीं भी कर सकता। उसे कहीं छिपा रखा हो?' उसका चिंतन आशंकाओं की अँधेरी कोठरी में भटकता रहा।

इसी सिलसिले में कल रात वह अपनी पुत्री सत्यभामा के कक्ष में स्वयं गया था। जिसकी प्रताड़ना करता था, आज उसीसे लिपटकर वह रोने लगा। गरजनेवाले मेघ जब बरसते हैं तो खूब बरसते हैं। आज वह द्रवित होकर बरस रहा था।

पहले तो उसने सत्यभामा से पूछा, "हम लोगों को छोड़कर क्यों चली गई थी?"

"क्योंकि मेरा विश्वास डिग गया था। मैं सोचने लगी थी कि कन्हैया शायद ही स्यमंतक मणि खोज पाएँ। उनका आत्मदाह निश्चित है। ऐसी स्थिति में जीकर क्या करूँगी? पर यहाँ रहकर तो मैं मर भी न पाती। आपकी कठोर छाया में तो मृत्यु भी न आती। इसलिए मैं वहाँ चली गई थी जहाँ मैं सरलता से मर सकूँ।" सत्यभामा आज पिता के सामने इतना खुली जितना इसके पहले कभी नहीं खुली थी।

सत्राजित् भी आज बदला हुआ था। उसने पूछा, "तुमने कृष्ण से ऐसी आत्मीयता बना ली है! तुमने यह जानने की चेष्टा नहीं की कि तुम्हारे प्रति उसकी आत्मीयता है या नहीं। यों भी वह पहले से ही विवाहित है और अब फिर एक आदिवासी सुंदरी को विवाह कर लाया है। कहता है कि जांब वन के राजा जांबवान् की पुत्री है।"

"तो हुआ करे।" सत्यभामा ने बड़े सहजभाव से कहा, "मैं यह नहीं जानती कि उन्होंने क्या किया है और क्या कर सकते हैं! मैं तो बस इतना ही जानती हूँ कि मैं उनके प्रति समर्पित हूँ। वह एक नहीं, दस विवाह करें, मुझे क्या लेना-देना है!"

"तुम्हें कुछ लेना-देना नहीं है!" सत्राजित् चकित था—"और तुम उसके प्रति समर्पित हो! वह समर्पण क्या, जिसमें तुम उसे पा ही न सको?"

"किस चकोर ने कब चंद्रमा को पाया है!" वह प्रेम के अंतिम सोपान पर बैठी बड़े सहजभाव से बोलती चली जा रही थी—"उसका समर्पण ही उसका

पाना था। चकोर के लिए तो एक ही चंद्रमा होता है। मेरे लिए तो वे एक ही हैं। पर चंद्रमा के लिए चकोर की कमी नहीं होती और न इस स्थिति पर चकोर कभी विचार करता है।''

यह सारी घटना भंगकार ने सुनाई थी। वह आज प्रातः से ही मेरे कक्ष में आ गया था। वह सत्यभामा का बड़ा भाई था। उसका कहना था—''संवाद के समय मैं भी उपस्थित था। पिताजी ने फिर सत्यभामा को नहीं छेड़ा। पिताजी को कुछ ऐसा भान हुआ कि सत्यभामा यहाँ आते ही आपसे मिली थी और आपने उसे स्यमंतक मणि दिखा दी है।''

मैं केवल मुसकराकर रह गया। यद्यपि ऐसा हुआ नहीं था। मैंने उसके रहस्य को रहस्य ही बने रहने दिया।

अब भंगकार ने अपने चाचा प्रसेनजित् के संबंध में बात चलाई। उसका सीधा प्रश्न था—''चाचाजी जीवित हैं न?''

मैं चुपचाप रह गया। मेरा मौन उसे काफी गंभीर कर गया। फिर उसने कहा, ''जब चाचीजी ने आपसे पूछा था कि तुम मेरे लिए क्या लाए हो, तब आपने कहा था कि जो भी लाया हूँ, उसे भी मैं उसी सभा में अर्पित करूँगा।''

''हाँ, कहा तो था।'' मैंने कहा।

''क्या मैं जान सकता हूँ कि आप उनके लिए क्या लाए हैं?''

''जान क्यों नहीं सकते! पर मेरा तो कहना है कि आप भी आज की सभा की प्रतीक्षा कीजिए।'' मैंने कहा, ''जब मैंने तुम्हारी चाची को नहीं बताया तब तुम्हें बताने का मतलब है, उनके प्रति अवमानना करना।''

अब सबकी दृष्टि उसी सभा पर थी। हर व्यक्ति की जिज्ञासा शिखर पर थी। जो सभा अपराह्न में होनी थी, उसकी सारी व्यवस्था मध्याह्न तक पूरी हो चुकी थी। दूर-दराज से आनेवाले लोग प्रातः से ही आने आरंभ हो गए थे। मध्याह्न तक तो पूरे नगर में मेले जैसा दृश्य हो गया था।

इस ऋतु का आज सबसे गरम दिन था। आज दिन भर सूर्य खूब तपा था; पर अपराह्न होते-होते बादल छा गए थे। ठंडी हवा बहने लगी थी। दिन की मुद्रा अचानक शीतल हो गई थी।

महामात्य द्वारा सभा आरंभ की घोषणा से एक अपूर्व शांति छा गई। सबसे पहले सत्राजित् स्वयं खड़ा हुआ। आज उसकी मुद्रा नितांत दबी थी। स्वर संकोच से भरा था। सबको सम्मानजनक शब्दों से संबोधित करते हुए उसने कहा, ''आप सब लोग जानते हैं कि यह सभा क्यों बुलाई गई है। सबसे पहले तो मैं आप सबसे

अपने किए और कहे के प्रति क्षमा माँगता हूँ। एक निष्कलुष को मैंने कलंकित किया था। आज मुझे अपने कर्मों पर पछतावा है। यदि प्रजा द्वारा राजा को दंड देने का कोई विधान हो तो आप सभी मुझे दंडित करें।''

इसी समय पत्थर की तरह कई आवाजें कई ओर से एक साथ फेंकी गईं—''आप स्वयं अपने को दंडित करें।''

''यही तो मैं भी सोच रहा हूँ; क्योंकि मेरी अदूरदर्शिता, अज्ञान और अहंकार से आज इसी सभा में अनर्थ हो जाता। यदि कन्हैया स्यमंतक मणि खोजकर लाने में समर्थ न होते तो उन्हें इसी सभा में आत्मदाह करना पड़ता। प्रभु ने उन्हें लांछन से मुक्त किया और मुझ जैसे एक अलांछित व्यक्ति को लांछित करने के अपराध में आपके सामने खड़ा कर दिया।''

''महाराज की जय हो!'' के नारे से आकाश गूँजने लगा। भीड़ भी कितनी विचित्र होती है। उसका रंग संध्या के आकाश जैसा क्षण-क्षण बदलता है।

''यदि आप अपने को अपराधी समझते हों तो आपको स्वयं इसका दंड निश्चित करना चाहिए।'' एक अनजानी आवाज फिर उभरी।

''मैंने कल रात ही इसके लिए दंड निश्चित कर लिया है।'' सत्राजित् की आवाज में पहली बार इतनी दृढ़ता दिखाई दी—''और वह दंड मैं स्वयं को आप लोगों के सामने ही दूँगा।''

सभा में गंभीर रूप से सन्नाटा छा गया। अब सत्राजित् ने मुझे स्यमंतक मणि को प्रदर्शित करने को कहा।

मैंने खड़े होकर बड़ी संयत भाषा में सबका अभिवादन किया। फिर कटि से निकालकर वह स्यमंतक मणि मैंने भगवान् भास्कर को समर्पण की भावना से दिखाई। इस समय वे पश्चिम के आकाश में बादलों के झरोखे से मुसकरा रहे थे। फिर मैंने चारों ओर घूमकर उसे प्रजा को दिखाया। करतलध्वनि और 'साधु-साधु' के स्वर से आकाश गूँज उठा। अब मैं धीरे से अपने मंचक से उतरकर सत्राजित् की ओर बढ़ा और वह मणि उसे अर्पित की। एक बार फिर मेरे लिए जोर का जय-जयकार हुआ। फिर मैं अपने स्थान पर चला आया। सत्राजित् उसे अपनी अंजुलि में लेकर बड़े गौर से देखते रहा। मैं अपने स्थान पर खड़ा-खड़ा निरंतर मुसकराता रहा। प्रजा 'साधु-साधु' करती और तालियाँ बजाती रही।

सत्राजित् ने बड़ी गंभीर ध्वनि में मणि की सत्यता प्रमाणित की और कहा, ''द्वारकाधीश को (उसने पहली बार मुझे 'द्वारकाधीश' कहा था, या माना था।) हार्दिक बधाई देता हूँ। उन्होंने मेरे आरोप को झूठा सिद्ध कर न केवल स्वयं को

लांछन से मुक्त किया वरन् मुझे एक अपराधी बनाकर हम सबको चकित कर दिया है। अब मैं उन्हींसे जानना चाहूँगा कि यह मणि उन्होंने कहाँ से प्राप्त की और इतना कठिन कार्य कैसे संपन्न किया?''

मैं बोलने के लिए खड़ा हो रहा था कि पट्टमहिषी की बगल में बैठी प्रसेनजित् की पत्नी को पुनः दौरा पड़ा। वह पागलों-सा चिल्लाई—''तुमने इसी सभा में मुझे भी कुछ देने का वचन दिया था। उसका निर्वाह करो।''

मैं पड़ा तो बड़े संकोच में, पर मुझे जो कुछ करना था, उसकी तैयारी मैं पहले से कर चुका था। मैंने प्रसेनजित् का सारा सामान एक जगह बाँधकर रक्ताक्ष को दे दिया था और कहा था कि ज्यों ही मैं संकेत करूँ, सामान लेकर मेरे पीछे-पीछे आ जाना।

रक्ताक्ष ने मेरे आदेश का पालन किया और मैं अपने स्थान से नितांत शांतभाव से प्रसेनजित् की पत्नी की ओर बढ़ा। निकट जाकर मैंने रक्ताक्ष से सबसे पहले वह तलवार माँगी। मैं उसे पूरी प्रजा को दिखाकर उन्हें समर्पित करते हुए बोला, ''यह प्रसेनजित् की मणिजटित तलवार है।'' इसी तरह मैंने उसका मुकुट भी उन्हें दिया और फिर उसके गले में पड़ी मणियों की माला के कुछ अंश दिए।

वह फिर चीख उठी—''यह तो मेरे पति का सामान है। मेरा पति कहाँ है?''

अब मैं बड़े असमंजस में पड़ा। बड़े विनीतभाव से बोला, ''मैं एक विधवा को उसका पति तो नहीं दे सकता।''

इतना सुनना था कि उसने मेरी दी हुई सारी वस्तुएँ मेरे ऊपर फेंक दीं। उसे ऐसा लगा जैसे उसके पति की हत्या मैंने ही की हो। वह बड़े जोर से बोली, ''चल हट, मायावी, हत्यारा!'' फिर वह संज्ञाशून्य हो गई।

उसने तो मुझे हत्यारा समझा ही, अब प्रजा भी मुझे हत्यारा समझने लगी।

लोग उधर प्रसेनजित् की पत्नी को उठाकर राजभवन में ले गए। साथ में राजवैद्य भी थे। उसकी चिकित्सा होने लगी। अब मुझे अपनी स्थिति को स्पष्ट करना अनिवार्य हो गया।

मैंने कहा, ''प्रसेनजित् की हत्या गिरनारी सिंह ने की है। यह दुर्घटना मेरे पहुँचने से पहले की है। सिंह ने उनका शिकार किया और उनके पास की स्यमंतक मणि भी सिंह के पेट में चली गई। यह तो कहिए कि सिंह उनकी हत्या कर जांब वन में घुस गया।''

मैं पूरे घटनाक्रम को बड़े संक्षिप्त रूप से कहता गया। प्रजा बड़ी उत्सुकता के साथ सुनती रही।

"जांब वन के स्वामी और अब मेरे श्वसुर जांबवान् ने उस सिंह को देखा। उन्हें कुछ अद्‌भुत दिखाई दिया। उन्हें बाहर से ही उस सिंह के पेट के भीतर एक प्रकाश पुंज होने का आभास लगा। उन्होंने सोचा कि कोई-न-कोई विशेष वस्तु उसके पेट में अवश्य है। अब क्या था, उन्होंने उसका पीछा किया और उसे मारकर यह मणि सिंह के पेट से निकाल ली।

"तब मैं पता लगाते हुए उनके पास पहुँचा।" फिर जो कुछ हुआ था, मैंने सबकुछ बता दिया।

मेरी कथा सुनकर किसीने पूछा, "तब आपको जांबवतीजी से विवश होकर विवाह करना पड़ा?"

इतना सुनते ही मेरी दृष्टि सत्यभामा की ओर गई। वह कुछ तनावमुक्त लगी; पर जांबवती का चेहरा उतरा लगा। मैंने स्थिति को बड़ी चतुराई से सँभाला—"कोई-न-कोई विवशता तो थी ही: पर वह कहाँ से थी और क्या थी, यदि आप न पूछें तो अधिक अच्छा हो।"

एक खिलखिलाहट पूरी सभा में दौड़ गई। जांबवती की आकृति पर भी लज्जा की अरुणिमा उभर आई।

इसी बीच महामात्य ने प्रसेनजित् की पत्नी के संबंध में सूचना दी कि उनकी मूर्च्छा टूट चुकी है। राजवैद्य के कथनानुसार, चिंता की कोई बात नहीं है। उनको गहरा आघात लगा है, समय ही उसका उपचार कर सकता है।

प्रजा ने भरे मन से इस समाचार का स्वागत किया। इसके बाद दिवंगत आत्मा की सद्‌गति के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई।

फिर सत्राजित् खड़ा हुआ। आज वह सचमुच बहुत परिवर्तित दिखाई दे रहा था। उसका व्यवहार, उसकी आवाज आज कुछ बदली हुई थी। उसने बड़ी गंभीरता से कहा, "अब मैं अपने अपराध का प्रायश्चित्त करने जा रहा हूँ।" फिर उसने स्यमंतक मणि को बड़े ध्यान से देखा। उसे मस्तक से लगाया और बोला, "यह मणि आरोग्य और समृद्धि की दात्री है।" फिर मुसकराते हुए मेरी ओर देखकर कहा, "पर द्वारकाधीश के संदर्भ में यह पत्नी की भी दात्री सिद्ध हुई है। मैं भी अपनी दुहिता को द्वारकाधीश को ससम्मान समर्पित करता हूँ और इस मणि को उन्हें दहेज में देता हूँ।" वह फिर अपने स्थान से उठा और सत्यभामा का हाथ पकड़कर मेरे पास ले आया।

यह अत्यंत अप्रत्याशित घटना थी। किसीको विश्वास ही नहीं था कि ऐसा भी हो सकता है—न मुझे और न सत्यभामा को ही। नाटक का दृश्य ही बदल चुका था। उत्साह और उल्लास से सारी प्रजा जय-जयकार के नारे के साथ उछल पड़ी।

पश्चिम में अस्त होता रवि हमें आशीर्वाद दे रहा था। उसकी लालिमा सिंदूर की तरह सत्यभामा के कपाल पर ही नहीं वरन् सारे आकाश पर बिखर चुकी थी।

□

चार
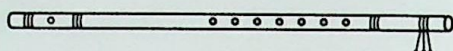
लौटने पर द्वारका में मेरा विजयी योद्धा की तरह स्वागत हुआ। एक ओर सत्राजित् का अहंकार परास्त करना और दूसरी ओर स्यमंतक मणि के साथ-साथ जांबवती एवं सत्यभामा की प्राप्ति मेरी अपूर्व उपलब्धि थी। द्वारका के लिए ये दोनों उपलब्धियाँ अप्रत्याशित और असोचित थीं। कहाँ उनकी कल्पना में आत्मदाह करता उनका नायक था, कहाँ परास्त अहं की दो-दो पुत्रियों को अपनी वधू के रूप में उसके सौभाग्य ने देखा। द्वारका का मन मयूर नाच उठा। उसकी मुरझाई आशा फूल उठी। मेरे व्यक्तित्व में एक बार फिर द्वारकावासियों ने विराट्ता के दर्शन किए।

आज द्वारका के चारों ओर आश्चर्य-ही-आश्चर्य दिखाई दे रहा था। सत्राजित् की पुत्री मेरी पत्नी हो गई थी और उसके दोनों पुत्र—भंगकार एवं वातापति मुझे पहुँचाने द्वारका तक आए; पर वे सीमा से ही लौट गए। वे आरंभ से बहुत बुझे-बुझे लग रहे थे। शायद वे यह सोच रहे थे कि अपना कौन सा मुँह हम द्वारका की प्रजा को दिखाएँगे? कहाँ उनके पिता निरंतर यह प्रचारित कर रहे थे कि कुछ ही दिनों में मैं द्वारकाधीश होने वाला हूँ और कहाँ वे अपनी बेटी के साथ वह मणि भी उसे दे बैठे, जिसकी उसपर चोरी लगाई गई थी।

स्यमंतक मणि का देना इन दोनों भाइयों को बहुत खला। पिता के बाद तो उसके उत्तराधिकारी यही दोनों भाई होते। देखते-देखते भविष्य की विभूति उनके हाथों से निकल गई। वस्तुतः सत्राजित् ने प्रसन्न मन वह मणि मुझे नहीं दी थी। वह तो प्रसेनजित् की हत्या और जांबवान् की पराजय की सूचना से इतना डर गया था कि उसे लगा कि कन्हैया ने इसे मुझे दे तो दिया है, पर उसकी दृष्टि हमेशा इसपर लगी रहेगी (जबकि ऐसा था नहीं)। वह अब बराबर यह भी सोचने लगा कि कहीं मेरी हत्या का कारण भी यह मणि न हो जाए; क्योंकि वह भीतर से बड़ा दुर्बल था। ऐसी कोई घटना याद नहीं आती, जिसमें उसका शौर्य दिखाई दे रहा हो। वह अपनी

बंदरघुड़की के लिए ही प्रसिद्ध था। फिर इस समय तो उसकी प्रजा भी उसपर थू-थू कर रही थी।

मैंने आते ही वह मणि नानाजी को समर्पित कर दी। वे बड़े प्रसन्न हुए।

मैंने कहा, "कभी आपने इसे कुछ दिनों के लिए उधार लाने का आदेश दिया था। उस समय तो मैं समर्थ नहीं हो सका; पर अब इसे आपको सादर समर्पित करता हूँ।"

"यह सब समय-समय की बात है, वत्स!" नानाजी ने कहा, "कोई समय था कि यही सत्राजित् साँप की तरह फुफकारता था।"

उसी स्वर में मैंने स्वर मिलाया—"पर आज तो जली हुई रस्सी की तरह धुआँ भी उगलने की स्थिति में नहीं रहा।"

वे हँसकर रह गए; पर पिताजी गंभीर ही रह गए। उनकी स्थिति तो स्थितप्रज्ञ जैसी रहती है। वे न तो हमारी उपलब्धि से बहुत प्रसन्न दिखते हैं और न संकट में मुझे पड़ा देखकर चिंतित ही होते हैं।

इस बार तो रुक्मिणी ने बताया—"जब आपके सार्वजनिक संकल्प की सूचना द्वारका को मिली थी तब हर व्यक्ति चिंतित हो गया था। यहाँ तक कि अपने में मस्त रहनेवाले ज्येष्ठजी की आँखें भर आई थीं। माताजी (देवकी) तो कई दिनों तक सोई नहीं थीं। बहुधा वे रात में मेरे पास आ जातीं और कहतीं—'ऐसी प्रतिज्ञा तो उसने अपने जीवन में कभी नहीं की थी। इस बार पता नहीं उसे क्या हो गया था! हे भगवान्! अब तू ही उसकी रक्षा कर।' "

रुक्मिणी ने बताया—"जब मैंने उन्हें बहुत समझाया तो वह बिलखकर कहने लगीं—'बहू, मुझे इतनी घबराहट तो कभी नहीं हुई थी। बस एक ही घटना याद आती है, जब वह कालीदह में कूदा था। तब भी मैं ऐसी ही घबराई थी। पर उस समय तो मैं अपने भाई कंस के कारागार में थी, अन्यथा दौड़कर उस दह के पास चली जाती। इस समय तो मुक्त हूँ, कहीं भी जा सकती हूँ; पर कहाँ जाऊँ, क्या करूँ?' "

रुक्मिणी ने आगे बताया—"तब मैं पिताजी के पास गई। उन्हें सारी स्थिति बताई। वे शांतभाव से सुनते रहे और बड़ी गंभीरता से बोले, 'उसकी विह्वलता एक माता की सहज विह्वलता है। अपनी ममता से परेशान है। ममता हृदय का विषय है, मस्तिष्क का नहीं। इस समय उसकी हार्दिकता ही प्रभावी हो गई है।' इतना कहते हुए पिताजी चुपचाप उठे और मेरे साथ ही माताजी के पास आए तथा उन्हें समझाते हुए बोले, 'मैं तुम्हें तुम्हारे बेटे के पास इस समय नहीं ले जा सकता; पर उसकी

भवितव्यता के पास तुम्हें ले चल सकता हूँ। उठो, मेरे साथ चलो।' माँ एकदम चकित हो गई थीं कि पतिदेव मुझे कहाँ ले चल रहे हैं!

''पिताजी फिर उन्हें गर्गाचार्य के आश्रम में ले गए थे। सारी समस्या उन्होंने आचार्य से कही। सुना है, आचार्यजी ने उन्हें समझाया—'यह सारा कष्ट तुम्हें इसलिए है कि तुम उसे अपना बेटा समझ रही हो। वह तुम्हारे गर्भ से पैदा अवश्य हुआ है, पर पैदा होते ही तो तुमने उसे भादों की रात में संसार के अंधकार को सौंप दिया था। अब वह तुम्हारा कैसा? उस समय वह तुम्हारी आँखों से ओझल हो गया था। इस समय भी तो वह बस ओझल ही है। अंतर यही है कि उस समय तुमने उसे स्वेच्छा से ओझल किया था, इस समय नियति ने उसे ओझल किया है।'

''तब माताजी ने कहा था—'उस समय मैंने उसे सुरक्षा के लिए ओझल किया था और इस समय वह अरक्षित है।'

'' 'यह तुम कैसे कह सकती हो? इस समय नियति ने उसे ओझल किया और वही उसकी सुरक्षा करेगी।' गर्गाचार्य बोले, 'देखना, वह विजयी होकर लौटेगा।'

'' 'कोई युद्ध में तो गया नहीं है।' माताजी बोलीं।

'' 'योद्धा के लिए जीवन का हर क्षण युद्ध का क्षण होता है और हर क्षेत्र युद्ध का क्षेत्र।' आचार्य के इस कथन पर माँ एकदम चुप हो गई थीं। इसके बाद वह कभी उतनी व्यग्र नहीं दिखाई दीं।''

मुझे ठीक याद है, माँ मेरे लौटने पर बड़ी प्रसन्न हुई थी। पिताजी सहजभाव से मिले थे। माँ अचानक नई बहुओं—सत्यभामा और जांबवती को लेकर अदृश्य हो गई थी। कहाँ गई, किसीको पता नहीं। बाद में पता चला कि वह आशीर्वाद दिलाने आचार्य के आश्रम में गई है। इस प्रकार माँ ने एक नई प्रथा चलाई वरन् पुरानी प्रथा का उल्लंघन किया।

हमारे यहाँ यह प्रथा थी कि विवाह के बाद जब वधू घर आती है तब वर-वधू को सीधे देवालय ले जाया जाता था। उस समय सभी आत्मीय और परिवारी जन साथ होते थे। पर इस समय आचार्य की भविष्यवाणी की सत्यता ने उसे इतना विह्वल कर दिया था कि वह आपे में नहीं रही।

एक विशेष बात और हुई। जहाँ लोगों ने बधाई दी, प्रसन्नता व्यक्त की, परमात्मा को मेरी रक्षा और उपलब्धि के लिए कोटिशः धन्यवाद दिया, वहीं सुभद्रा मुझे पकड़कर खूब रोई। ऐसा सिसक-सिसककर रोई कि क्या बताऊँ। उसके आँसू थमना ही नहीं जानते थे और न वह मुझे छोड़ना चाहती थी। मैं कुछ समझ

नहीं पाया कि बात क्या है? विवाह करके लौटा हूँ। यह मेरी बहन है। इसे तो प्रसन्न होना चाहिए, मेरी आरती उतारनी चाहिए; पर ऐसा तो नहीं हुआ।

मैंने उसे समझाया भी—"मैं तुम्हारे लिए सत्यभामा को लाया हूँ। यह तुम्हारी सखि है न! इसकी भी तुम बड़ी चर्चा करती थीं। अब यह तुम्हारे पास रहेगी। अब तो तुम प्रसन्न हो?"

तब उसका रोना थोड़ा रुका। पर उसने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

मैंने मुसकराते हुए पूछा, "क्या यह तेरी सखि नहीं है? क्या इसके पास रहकर तू प्रसन्न नहीं होगी?"

"यह सखि तो है, पर अब मैं इसके पास रह नहीं पाऊँगी।" इतना कहते-कहते सुभद्रा फिर फूट-फूटकर रोने लगी।

अब सत्यभामा ने उसे समझाया—"तुम घबराओ मत, सुभद्रा। अब सब ठीक हो जाएगा। तुम्हारी समस्या का कोई-न-कोई हल निकलेगा।"

अब मैंने समझा कि सुभद्रा के सामने कोई नई समस्या आ गई है, जिससे वह काफी आक्रांत है; भयभीत और व्यथित है। मुझे उसे समझाते हुए कहना पड़ा—"घबराओ मत, सुभद्रा, तुम्हारी समस्या का समाधान होगा और तुम्हारी इच्छा के अनुसार होगा।"

यह बात मैंने अनजान में कही थी, उसका रोना देखकर कही थी; क्योंकि उसके रोने में मात्र उसकी पीड़ा ही नहीं थी वरन् मेरे प्रति उसका विश्वास भी था। पर मुझे यह विश्वास नहीं था कि अनजान में कही यह बात मेरे गले पड़ जाएगी और उसके लिए कभी मुझे ऐसा करना पड़ेगा, जो मेरे लिए उपयुक्त होना तो दूर, शायद शोभनीय भी नहीं होगा।

मेरे वचन देते ही सुभद्रा सामान्य होने लगी। देखते-देखते वह इतनी सामान्य हो गई कि मंदिर में जाकर वर-वधू पूजन की सारी तैयारी में वह सबसे आगे दिखी।

□

पूजन आदि की जब सारी औपचारिकताएँ पूरी हो गईं, तब मुझे पता चला कि मेरे न रहने पर दुर्योधन आया था। सत्राजित् की सभा में मेरे द्वारा लिये गए संकल्प की चर्चा पूरे आर्यावर्त्त में खांडव वन की आग की तरह फैल गई। अनेक लोगों की कल्पना ने मुझे आत्मदाह करते हुए देखा। मेरे अवतारी पुरुष होने की सामान्य धारणा पर एक परदा-सा पड़ गया। भले ही वह परदा झीना ही रहा हो, पर था तो परदा ही। हस्तिनापुर ने और विशेषकर कौरवों ने राहत की साँस ली।

कौरवों की गुप्तचर व्यवस्था की भी प्रशंसा करनी होगी कि द्वारका से इतनी दूर होने पर भी यह अशुभ सूचना एक शुभ समाचार की तरह उन्हें सबसे पहले मिली और दुर्योधन तुरंत संवेदना प्रकट करने द्वारका आ गया।

यहाँ वह अपने गुरु—बलराम भैया का विशेष अतिथि हुआ। वह भैया के 'क्षणिक रुष्टा क्षणिक तुष्टा' स्वभाव से पूर्णतः परिचित था। वह यह भी जानता था कि उन्हें कैसे प्रभावित किया जा सकता है।

मिलते ही उसने कहा, ''देखिए, बैठे-बैठाए कन्हैया ने एक विपत्ति मोल ले ली। हर किसीकी समस्या में टाँग अड़ाने से उन्हें आखिर मिलता क्या है! पांडव आपके कौन हैं, यह बात तो समझ में आती है। उनके लिए यदि आप किसीसे विरोध लेते हैं तो ठीक है; पर राह चलते विरोध आमंत्रित करना बुद्धिमानी नहीं है। सत्राजित् की प्रकृति से तो पूरा आर्यावर्त्त परिचित है। वह बेईमान और धूर्त है। अब उससे टकराने से क्या लाभ था? आ बैल मुझे मार।''

सुना है, भैया ने अपने ढंग से प्रतिरोध किया—''तुम जानते नहीं हो, दुर्योधन। उस नीच की दृष्टि हर क्षण हमपर थी। वह द्वारका का अधिपति होना चाहता था।''

''आप ठीक कहते हैं, गुरुजी!'' दुर्योधन बोला, ''यही तो उसकी मूर्खता थी कि जो स्वप्न में भी पूरी नहीं हो सकती, उसीकी वह आकांक्षा करता है; पर इसकी ओषधि तो स्पष्ट थी। आपका एक प्रहार भी तो वह नहीं सह सकता है।''

''ठीक कहते हो।'' भैया बोले, ''उसे सीधे स्वर्ग भेजने में मेरी गदा का एक प्रहार पर्याप्त है।''

''अरे, स्वर्ग क्यों कहते हैं? नरक कहिए।'' दुर्योधन हँसते हुए बोला, ''ऐसे जीवों को स्वर्ग भेजकर स्वर्ग की महिमा मत घटाइए।''

बात भैया के मन की थी। इसी प्रकार उसने भैया की खूब चाटुकारिता की। इसका विस्तृत विवरण मुझे महामात्य ने दिया था। उसने बताया कि दुर्योधन यहाँ दस-पंद्रह दिनों तक रह गया और एक-एक क्षण उसने भैया के नवनीत-लेपन में बिताया। उन्हें बार-बार 'गुरुजी' शब्द से ही संबोधित करता था और उन्हींके पीछे-पीछे लगा रहता था।

इसका एक कारण और था। वह मिला सबसे। बड़ों का सम्मान भी उसने अपनी प्रकृति के कुछ विरुद्ध जाकर किया। उसने नानाजी, पिताजी आदि के चरण भी छुए और ऐसा आदरभाव व्यक्त किया, जो स्पष्ट ही बड़ा कृत्रिम जान पड़ता था—एकदम ऊपर से ओढ़ा हुआ। उन लोगों को भी प्रसन्न करने की बड़ी चेष्टा

की; पर माताजी के अतिरिक्त किसीकी भी प्रतिक्रिया उसके अनुकूल नहीं थी। माताजी और भैया ही उसे ऐसे लगे, जिनकी छाया में उसकी आकांक्षा लहलहाती जान पड़ी। इसीलिए वह उनके पीछे ही लग गया।

माताजी को उलटा-सीधा समझाकर उसने अपनी मुट्ठी में कर लिया।

महामात्य ने बताया कि माताजी तो काफी घबराई हुई थीं। दुर्योधन की बातों से उनकी घबराहट काफी बढ़ जाती थी। वह जानबूझकर ऐसा करता था। तरह-तरह की आशंकाओं से व्यग्र कर उन्हें अपना एकमात्र हितैषी बताना उसका उद्देश्य था। उसका कहना था कि मैं प्रयत्न में हूँ। जहाँ से जरा भी कन्हैया का आभास लगेगा, मैं तुरंत वहाँ पहुँचने की चेष्टा करूँगा। चाहे वह जगह आकाश, पाताल, स्वर्ग या नरक—कैसी भी क्यों न हो, कहीं भी क्यों न हो।

दो ही चार दिनों के बाद पिताजी को इस स्थिति का पता चल गया। अब पिताजी उससे हमेशा सावधान रहते। माताजी के यहाँ दुर्योधन के पहुँचने के साथ ही वे भी पहुँच जाते।

एक दिन दुर्योधन ने माताजी से कहा, "जानबूझकर सिंह की माँद में सिर डालना कोई बुद्धिमानी तो नहीं।"

"तुम अपनी बुद्धि के अनुसार तो ठीक ही कहते हो।" पिताजी ने तुरंत कहा, "तुम्हारी बुद्धि वहाँ तक जा ही नहीं सकती कि गज को छुड़ाने के लिए कोई ग्राह के मुँह में भी हाथ डाल सकता है।"

इसके बाद तो दुर्योधन माँ के पास भी नहीं आया। एक बार आचार्यजी से मिला था और ऐसा ही तीखा उत्तर पाया था। तब अपने गुरुजी के ही पीछे लगा-लगा उनकी छाया को गाढ़ी करता रहा। उन्हें यह विश्वास दिलाने में सफल रहा कि द्वारका के एक संकेत पर हस्तिनापुर कुछ भी कर सकता है। जहाँ आपका पसीना गिरेगा, वहाँ हमारा रक्त गिरने के लिए हर दम तैयार रहेगा। फिर क्या था! भैया तो आशुतोष हैं, थोड़े में ही संतुष्ट हो जानेवाले; पर जहाँ चाटुकारिता का इतना बड़ा बेलपत्र चढ़ाया जाए वहाँ उनका परम प्रसन्न होना स्वाभाविक था।

उन्होंने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "मुझे तुम्हारी शिष्यता के साथ-साथ तुम्हारी मित्रता का भी पूरा विश्वास है।"

"पर क्या बताऊँ, इसी मित्रता पर तो पांडवों ने दरार डाल दी थी।"

"विश्वास रखो, अब वे ऐसा करने में सफल न हो सकेंगे।" भैया बोले।

दुर्योधन आश्वस्त हुआ। उसने मन-ही-मन सोचा, जो बात कन्हैया के रहने पर कभी न होती, वह हो गई। कन्हैया भी भला अब क्या आएगा। न रहेगा

बाँस और न बजेगी बाँसुरी। पर उसे क्या मालूम कि बाँस के न रहने पर भी बाँसुरी रहेगी और बजेगी; क्योंकि मेरी बाँसुरी का अस्तित्व उस स्वर से है, जो उसमें बजता है। वह स्वर बाँस का नहीं वरन् राग का है, वह स्वर विराग का है, वह स्वर धर्म का है, वह स्वर न्याय का है और वह स्वर मेरे न रहने पर भी रहेगा।

□

इस प्रकार दुर्योधन ने धीरे-धीरे अपनी कूटनीति का जाल फैलाया। उसने भैया के अतिरिक्त नानाजी को भी प्रभावित करने की पूरी चेष्टा की। उसकी चेष्टा का बहुत कुछ प्रभाव भी पड़ा; क्योंकि उसकी मंशा पर किसीको भी संदेह नहीं हुआ। उन्हींमें एक विशेष घटना और घटी, जिसकी चर्चा सत्यभामा ने मुझसे की थी।

जैसाकि आप जानते होंगे, जब मैं सार्वजनिक संकल्प के बाद स्यमंतक मणि की खोज में अचानक निकल पड़ा था, तब सबसे अधिक व्यग्र सत्यभामा हुई थी। वह पागलों-सी किंकर्तव्यविमूढ़ हो भागी-भागी द्वारका चली आई थी और यहाँ अपनी सखि सुभद्रा के पास थी। सुभद्रा से उसकी अत्यधिक आत्मीयता थी—इतनी निकटता कि दो शरीर और एक आत्मा ही कहिए।

इस समय शायद वह सबसे अधिक निराश थी। जिस ज्योति किरण को अपने जीवन का सबसे सुंदर सपना सौंप चुकी थी, वही इस समय अचानक अंधकार में खो गई थी। उसकी मानसिकता इस स्थिति को किसी तरह सह नहीं पा रही थी। सुभद्रा दिन भर तो उसे अपने पास रखती, पर संध्या डूबने पर वह उसे लेकर समुद्र के किनारे या प्रमोद उद्यान में आ जाती थी। दासियों एवं कंचुकियों को हटा देती थी और इधर-उधर की बातें करके सत्यभामा का मन हलका करती थी।

बहुधा समुद्रतट पर उसे अधिक शांति मिलती थी। गहन अंधकार और तरंगायित सिंधु का हाहाकार उसे अपनी मानसिकता के अधिक निकट लगता। एक बार सत्यभामा ने सुभद्रा से कहा भी था कि यह मेरी मानसिकता का बाह्य रूप है।

प्रकृति और मुद्रा अनुकूल देखकर सुभद्रा बोली थी, ''तब तो तुम्हें वह किरण अवश्य मिलेगी, जिसकी तुम्हें तलाश है। केवल प्रतीक्षा करो।''

''बस प्रतीक्षा से ही सबकुछ हो जाएगा?'' सत्यभामा की विह्वलता अपने शिखर पर थी।

''बस, अँधेरा देखती जाओ और प्रतीक्षा करो।'' सत्यभामा ने मुझे बताया कि सुभद्रा किसी सिद्ध की तरह बोलती जा रही थी—''इसी अंधकार से एक सूर्य

निकलेगा और तुम्हारे चारों ओर उन किरणों का जाल बिखेर देगा, जिन्हें तुम खोज रही हो। जानती हो, अँधेरा हर सूर्य के निकलने की अनिवार्य शर्त है।''

''तो मैं भी प्रतीक्षा करूँ?'' पीछे से एक पुरुष ध्वनि ने उनकी मानसिकता के सर में कंकड़ी फेंकी।

उन्होंने मुड़कर देखा। वे लोग जिस चट्टान पर बैठे थे, उसी चट्टान की बगलवाली चट्टान की आड़ में खड़ा दुर्योधन उन लोगों की बातें सुन रहा था। फिर उसे बोलते सुना गया—''अपनी किरण की खोज में इस अँधेरे में आया हूँ।''

सुभद्रा ने झट करतलध्वनि की। तत्काल कंचुकी आ गई और दुर्योधन उस समय पलायित हो गया।

फिर सुना गया कि एक दिन उसने भैया से कहा, ''मैं चाहता हूँ कि द्वारका का हस्तिनापुर के साथ संबंध और भी दृढ़ हो।''

''यदि तुम चाहते हो तो अवश्य होगा।'' भैया बोले।

फिर वह चुप हो गया। उस समय तो उसका साहस न हुआ। दूसरी बार प्रमोद उद्यान में मैरेयपान के समय प्रकृति और मुद्रा अनुकूल देखकर उसने फिर प्रसंग छेड़ा और इसके लिए सुभद्रा से विवाह का प्रस्ताव किया। शायद भैया ने उसे स्वीकार भी कर लिया।

सारी बातें मैरेय के मद में हुई थीं। भैया और दुर्योधन के अतिरिक्त कोई समझदार व्यक्ति तो वहाँ था नहीं। सुभद्रा के अनुसार, मैरेयपान करानेवाली दासियों से ही यह आधी-अधूरी बात सुनी गई थी।

बाद में प्रसारित हुआ कि भैया ने ही दुर्योधन के सामने यह प्रस्ताव रखा था। दुर्योधन ने यह भी कहना शुरू किया कि गुरु की आज्ञा है, हमें तो शिरोधार्य करनी ही है। उसने बड़ी चतुराई से भैया को ऐसी स्थिति में ला दिया कि वे टस-मस न हो सकें।

जब पिताजी ने उनसे इस विषय में पूछा तो वे कहने लगे—''क्या अनुचित मैंने किया? आखिर सुभद्रा का कहीं-न-कहीं तो विवाह करना ही है। फिर दुर्योधन से उत्तम वर कहाँ मिलेगा? वह योग्य है, सुंदर है, महारथी है, मेरा शिष्य है—और सबसे बड़ी बात है कि वह हस्तिनापुर का युवराज है।''

''आखिर यह वही व्यक्ति है, जिसने मेरे भानजों को कष्ट पर कष्ट दिए हैं और अंत में उन्हें लाक्षागृह में जलाकर मार डालने का भी प्रयत्न किया।'' पिताजी ने कहा, ''संसार सुनेगा तो क्या कहेगा कि वसुदेव को अपनी बेटी के लिए दूसरा वर नहीं मिला!''

"पर अब तो मैंने वचन दे दिया है।" भैया बोले।

"क्या सुभद्रा से तुमने पूछा है?"

"नहीं।" भैया बोले, "पर दुर्योधन का कहना है कि वह तैयार है।"

इसपर माँ दौड़ी हुई सुभद्रा के पास आई और उसने सारा प्रसंग उसे सुनाया। सुभद्रा ने कहा कि दुर्योधन सरासर झूठ बोलता है। उसकी तो उससे कभी बात तक नहीं हुई। यह ठीक है कि इधर कई दिनों से वह उसे एकांत या सुनसान में लंपटों की तरह घेरने की बराबर चेष्टा करता रहा; पर एक बार भी वह सफल न हो सका।

मेरे माता-पिता और नानाजी को यह विवाह बिलकुल स्वीकार नहीं था; पर 'गुरुजी-गुरुजी' कह-कहकर दुर्योधन ने बलराम भैया को ऐसा फँसाया कि वह अपने वचन से जरा भी हिलने को तैयार नहीं थे।

लगता है, मेरे संकल्प संदर्भ की कोई सूचना पांडवों को नहीं थी। शायद इसीलिए वे द्वारका नहीं पहुँच सके। दुर्योधन ने उसका भी लाभ उठाया। वह दिन-रात भैया को जहाँ तक संभव होता, घेरे रहता। एक बार तो उसने पांडवों के विरुद्ध भड़काते हुए कहा, "पांडव दिखाई नहीं पड़े?"

"हो सकता है, उन्हें सूचना न मिली हो।" भैया बोले।

"सारा आर्यावर्त्त इस समाचार से काँप उठा है और उन्हें सूचना ही नहीं मिली। यह तो हो ही नहीं सकता। फिर वे तो आपके सीधे रिश्तेदार हैं। उनमें से किसीको तो इस विपत्ति में अवश्य आना चाहिए था।"

महामात्य ने इस घटना की चर्चा करते हुए बताया था कि बलराम भैया पर दुर्योधन की कूटनीति का पूरा-पूरा प्रभाव था। भैया ने दुर्योधन से कहा, "इस विपत्ति में भी पांडवों को यदि हम लोगों की सुधि लेने का अवकाश नहीं मिला तो वे हमारे रिश्तेदार कैसे? उनसे भले तो तुम्हीं हो, जिसका भला हम लोगों ने कभी नहीं चाहा, पर वह हमारी सुधि लेने चला आया।"

यही बात भैया ने पिताजी से भी कही और उन्हें समझाया—"यदि हम लोग सुभद्रा को दुर्योधन से ब्याह देते हैं तो हस्तिनापुर से हमारा नया रिश्ता बन जाता है। वह द्वारका और हस्तिनापुर के हित में होगा।"

"यह सब उस समय सोचा जाएगा, जब कन्हैया आ जाएगा।" पिताजी ने कहा और बात उस समय टल गई।

पर इन बातों का सुभद्रा पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह बहुत ही आतंकित और भयग्रस्त हो गई। उसका सोचना था कि छोटे भैया के न रहने पर बड़े भैया अपनी

बात मनवाने के लिए हठ की किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। अब मैं ही उसके लिए एक ऐसा सहारा रह गया था, जिसका कहीं अता-पता नहीं था। जिसके मिलने की कोई संभावना भी नहीं थी।

इसीलिए जब वह मुझसे मिली तो फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी सारी व्यग्रता जैसे एक साथ ही द्रवित होकर बह निकली। मैंने उसे वचन दे ही दिया था। अब तो उसका निर्वाह करना था।

मैंने महामात्य और अन्य लोगों से सारी स्थिति का पता लगाया। परिस्थिति विकट थी। एक ओर मेरे भैया के दिए हुए वचन की बात थी और दूसरी ओर मेरे। टकराहट निश्चित थी। मैंने एक दिन भैया को समझाने की कोशिश की। इस बिंदु पर तो वे एकदम सुनने को तैयार नहीं थे कि पांडव हमारे सीधे रिश्तेदार हैं।

मैंने अपना मार्ग बदला—''पर हमें यह जानना चाहिए कि इस मामले में सुभद्रा की क्या इच्छा है?''

''उसकी इच्छा कुछ भी हो, पर मैंने दुर्योधन को वचन दे दिया है।''

''पर आप वचन देकर करेंगे क्या! जीवन तो उसे निबाहना है। पति पत्नी के सिर का बोझ नहीं, उसका जीवनसाथी होता है। हमें किसीको किसीके गले में उसकी इच्छा के विरुद्ध बाँधना नहीं चाहिए। हमें शीघ्र सुभद्रा के लिए स्वयंवर बुलाना चाहिए।''

''क्या बात करते हो!'' भैया एकदम भड़क उठे—''स्वयंवर तो एक नाटक होता है। अंबा, अंबालिका के समय से लेकर तुम्हारे विवाह तक। तुम्हीं बताओ, क्या स्वयंवर की मान्यताओं को हम लोगों ने नहीं ठुकराया है? रुक्मिणी और मित्रविंदा के विवाह में क्या मनमानी नहीं की गई थी?''

मैं हँस पड़ा; क्योंकि भैया के तर्क मुझपर सीधे खड्गहस्त थे। मैंने हँसते हुए ही उनके तर्कों का विरोध किया—''नहीं, इनमें किसी और की मनमानी नहीं चली थी। रुक्मिणी का हरण उसीकी इच्छा से हुआ। मित्रविंदा के संदर्भ में भी ऐसा ही कुछ हुआ। हमने तो हमेशा नारियों की इच्छा का स्वागत किया है।

''और राधा के संदर्भ में?''

मुझे विश्वास नहीं था कि भैया मेरे व्यक्तिगत संबंधों को उधेड़ने की सीमा तक चले जाएँगे। मैंने बड़ी शालीनता से कहा, ''राधा तो किसीकी पत्नी हो चुकी थी। वह परकीया थी। इसीलिए मैं उसे अपना बनाकर भी अपना बना नहीं पाया।''

इस लंबे वाद-विवाद के बाद भी मैं भैया को समझा नहीं पाया। दूसरी बार

उनका हठ अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ा। इसके पहले यमुना से संभोग करने के विषय में हमने उन्हें देखा था।

हठ तो ज्वाला है, जिसकी समिधा बनने से अच्छा उसे स्वयं जलने के लिए छोड़ दिया जाए। हर आग की नियति उसका बुझना ही है। प्रत्येक अग्नि बुझाने पर भभकती है, तब क्यों नहीं उसे स्वयं जलकर बुझने के लिए छोड़ दिया जाए।

फिर एक बार मैंने उन्हें सुभद्रा को स्वयं समझाने के लिए कहा था; पर उन्होंने टका-सा जवाब दे दिया।

□

सुभद्रा का भविष्य समय को सौंपकर मैं अपने राजकाज में लगा। लोगों के लिए दुर्योधन और सुभद्रा संदर्भ पुराना पड़ गया। दुर्योधन भी हस्तिनापुर जो गया तो फिर उसका आना नहीं हुआ। न कोई उसका समाचार आया था और न कौरवों का दूत ही आया था। उन लोगों के लिए तो स्थिति ही एकदम बदल चुकी थी। भस्म हुए लाक्षागृह से जैसे पांडव निकल आए थे वैसे ही अनिश्चित और अदृश्य में जाने के बाद भी मैं दृश्य हो गया था। सबकुछ बदल चुकने के बाद भैया का मन नहीं बदला था। रह-रहकर दो-चार दिनों के बाद वे बहुधा इस विवाह की चर्चा अवश्य करते। उन्हें यही लगता कि मैंने अपने शिष्य को वचन दिया है।

दिन, रात, मास और वर्ष बीत गए।

धीरे-धीरे समय की धूल इस संदर्भ में जमती चली गई। अन्यों को अब रुचि भी नहीं रही। जब भैया इस विषय में मुझसे बातें करते तो मैं भी टाल जाता। इधर-उधर की दूसरी बातें शुरू कर देता। पर सुभद्रा का घाव हमेशा हरा रहता; जैसे कोई अजा बलात् किसी सिंह की वाग्दत्ता बना दी गई हो।

वह अपने हृदय की बात बस सत्यभामा से कहती थी। वही उसे ढाढ़स भी दिलाती। विचित्र संयोग था। अभी कुछ दिनों पूर्व तक वही सत्यभामा को मेरे लिए ढाढ़स दिलाती थी और अब सत्यभामा ही उस डूबते को तिनका बनी—और सत्यभामा की पहुँच भी बस मुझ तक। यद्यपि वह जानती थी कि जहाँ तक मेरा वश चलेगा, मैं दुर्योधन को अपना बहनोई बनने नहीं दूँगा।

मेरा सत्यभामा से कहना बस इतना ही था कि तुम लोग मेरी ओर से चिंतित न हो और ऊँट के बैठने की प्रतीक्षा करो। लोगों से मिलकर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा करो। यह लड़ाई सहानुभूति से ही जीती जा सकती है।

इसके बाद सुभद्रा ने अपने व्यवहार में अप्रत्याशित परिवर्तन किया। वह

बड़े सहजभाव से हर एक से मिलती, बातें करती और जहाँ तक हो सकता, उसकी सेवा करती। अब तक वह जिस भैया से मिलना भी पसंद नहीं करती थी, वह उनके यहाँ भी आने-जाने लगी थी। दिन-दिन भर रेवती भाभी के साथ रहती।

एक दिन भैया उसे बड़े प्रसन्न मुद्रा में दिखे। वह भैया के साथ उद्यान में बैठी थी। भैया ने उससे पूछा, ''क्यों सुभद्रे, तुम्हें दुर्योधन कैसा लगता है?''

उसने छूटते ही कहा, ''एकदम लंपट, निकम्मा और कुमार्गी!''

''तब तुमने उससे अपने विवाह की अनुमति कैसे दी?''

''वह झूठ बोलता है। मेरी-उसकी कभी बात तक नहीं हुई।'' सुभद्रा बोली।

भैया के मन में द्विविधा का बीज पड़ गया। इसके बाद फिर उन्होंने उसके विवाह की वैसी खुलकर चर्चा नहीं की जैसी पहले करते थे; पर दुर्योधन को दिए गए वचन के प्रति उनका दौरा रह-रहकर पड़ता रहा।

यों सुभद्रा मेरे निकट थी ही; पर परिस्थितियों ने उसे और मेरे निकट किया। अब मैं संध्या को कभी सत्यभामा के साथ टहलने भी जाता तो सुभद्रा भी मेरे साथ होती।

एक संध्या हम प्रमोद वन में आनंद ले रहे थे। यों द्वारका का मौसम भी बड़ा विचित्र होता है। यहाँ शीत ऋतु कभी अपना पंख नहीं फड़फड़ाती। मैं स्फटिक शिला पर बैठा वंशी बजा रहा था और सामने संतरणी में सत्यभामा एवं सुभद्रा जलक्रीड़ा कर रही थीं। तभी एक कंचुकी (महिला सैनिक) आई। उसने सूचना दी कि अर्जुन पधारे हैं।

'अर्जुन' नाम सुनते ही मेरी वंशी का सुर थम गया। अचानक मन प्रश्नों और शंकाओं से घिर गया। क्या बात है कि वह इस समय यहाँ सीधे चला आया। अपनें मामा-मामी से मिल सकता था। खोजकर मुझसे मिलने की क्या आवश्यकता पड़ी। चिंतन के इस क्रम में दुर्योधन का यहाँ आना और उसकी कूटनीतिक चालें भी याद आने लगीं।

मैंने कंचुकी से अर्जुन को बुला लाने को नहीं कहा वरन् स्वयं अर्जुन के रथ की ओर दौड़ा। वह मिला तो बड़ी प्रसन्नता से, पर उसकी आँखों में आश्चर्य के भाव थे।

उसने मिलते ही कहा भी—''आज मुझे द्वारका बहुत बदली-बदली-सी दिखाई दे रही है।''

''तुमने बहुत दिनों बाद देखा है न!'' मैंने कहा।

''इसीलिए काफी बदलाव दिखाई पड़ रहा है; जैसे कोई मुझे पहचान ही न रहा हो। जो लोग जानते भी हैं, वे आँखें फेर लेते हैं।''

अब मुझे बात समझ में आई। मैंने मुसकराते हुए कहा, ''आजकल द्वारका पांडवों से नाराज है। अच्छा हुआ कि तुम भैया से नहीं मिले, नहीं तो वे तुम्हें देखते ही उबल पड़ते।''

''आखिर क्यों?''

अब मैंने सारी कथा सुनाई—सत्राजित् के यहाँ से लेकर द्वारका लौटने तक की। फिर मैंने कहा, ''आश्चर्य है कि तुम्हें यह सब नहीं मालूम! आखिर संकल्पबद्ध होकर जब मैं गुम हो गया था तब लोगों को विश्वास हो गया कि अब मैं आऊँगा ही नहीं। इस अवसर का लाभ उठाने दुर्योधन आ धमका।'' मैंने फिर उसकी राजनीतिक चालें बताईं।

''पर मैं तो इंद्रप्रस्थ में था ही नहीं।'' अब अर्जुन ने अपनी सफाई दी—''आपके चले आने के कुछ ही दिनों बाद ही एक ऐसी घटना घटी कि मैंने भी इंद्रप्रस्थ छोड़ दिया।''

''तुमने इंद्रप्रस्थ छोड़ दिया!'' मैं चकित रह गया।

''छोड़ दिया या छोड़ देना पड़ा।'' अर्जुन बोला। फिर उसने सारा संदर्भ सुनाया—''आपने चलते समय कहा था कि नारद की सुंद-उपसुंद की सांकेतिक कथा को सदा याद रखना और यदि हो सके तो इस विषय में कोई नियम बना लेना कि कभी टकराव की संभावना भी न रहे। हम लोगों ने सर्वसम्मति से यह निर्णय ले लिया कि हम पाँचों में से कोई यदि द्रौपदी के साथ कक्ष में रहेगा तो उस कक्ष में दूसरा नहीं प्रवेश करेगा।'' इसी विषय में अर्जुन बताता रहा—''इसपर भीम भैया ने प्रश्न किया—'यदि कोई आ ही गया तो?'

'' 'तो,' मैंने कहा, 'उसे इंद्रप्रस्थ छोड़ना पड़ेगा।'

''उनका दूसरा प्रश्न था—'कितने दिनों के लिए?' मेरा तो सोचना था कि एक वर्ष काफी होगा; पर भीम भैया की प्रकृति तो आप जानते ही हैं। वह स्वभाव के अतिवादी हैं। उन्होंने कहा, 'नहीं, ऐसी भूल करनेवाले को बारह वर्ष तक इंद्रप्रस्थ से बाहर रहना पड़ेगा।' उनके इतना कहने पर हम सब हँस पड़े। इस बारे में कोई अंतिम निर्णय नहीं हुआ।''

''तुम मूल बात से हट गए, पार्थ, जिसके कारण तुम्हें इंद्रप्रस्थ छोड़ना पड़ा।'' मेरी जिज्ञासा संक्षिप्त सुनना चाहती थी और वह विस्तार में चला जा रहा था।

वह बोला, "वही तो बता रहा था।" वह कहता रहा—"यह तो आप जानते ही हैं कि मय राक्षस है। उसने अनेक राक्षसों को इंद्रप्रस्थ के निर्माण के लिए बुलाया था। उनमें से कुछ ब्राह्मणों की गायें मारकर खा जाते थे। मैंने उन राक्षसों को समझाया। वे मान भी गए। उस समय तो बात खत्म हो गई; पर दो दिनों बाद फिर वे आए और बताया कि हमारी एक गाय वे राक्षस उठा ले गए हैं। अब मुझे क्रोध आ गया। मैं धड़धड़ाता हुआ धनुष लेने अपने कक्ष में गया। देखा, वहाँ युधिष्ठिर भैया द्रौपदी के साथ हैं। मैं तुरंत बाहर निकल आया। उन्होंने मुझे बुलाया भी; पर मैं भीतर नहीं गया।"

"तुम्हारे कक्ष में तो युधिष्ठिर भैया को आना ही नहीं चाहिए था। यदि आए भी तो द्रौपदी के साथ होना नहीं चाहिए था।" मैंने कहा।

"यही तो उन लोगों का मानना था।" अर्जुन बोला, "साथ ही धर्मराज ने यह भी कहा कि नियम में एक संशोधन अपेक्षित है कि बड़े भाई के रहते छोटा भाई आ सकता है, पर छोटे भाई के रहते बड़ा भाई नहीं आ सकता।"

अर्जुन का कहना था—"मैंने यह स्वीकार नहीं किया और कहा कि यदि यह संशोधन होगा भी तो आगे से लागू होगा। अभी तो जो स्थिति है, उसके अनुसार मैं स्वयं को दंड दूँगा।"

"अद्‌भुत हो, मित्र, तुम भी।" मैंने कहा और पूछा, "इंद्रप्रस्थ छोड़कर फिर किधर गए?"

अर्जुन बोला, "पहले तो मन में आया कि अंग देश चलूँ और कर्ण की स्थिति को जरा अपनी आँखों से देखूँ। मैं उसी मार्ग पर चला भी। मथुरा, काशी होता हुआ आगे बढ़ा। मार्ग में अनेक साधु-संतों और तीर्थयात्रियों से संपर्क हुआ। उनसे प्राग्ज्योतिषपुर के बारे में सुना। वहाँ की प्रकृति और पुरुष दोनों की रमणीयता के बारे में सुना। आकर्षित हुआ। विचार आया कि अभी कर्ण की सही स्थिति का आभास लगाना समय से पूर्व होगा। अतएव मैं प्राग्ज्योतिषपुर होता हुआ मणिपुर चला गया। वहाँ अधिक दिन रह गया।" फिर वह अचानक चुप हो गया। ऐसा लगा जैसे कोई महत्त्वपूर्ण बात उसके मुँह से निकलते-निकलते रह गई।

मैंने बड़े प्रेम से उसे गुदगुदाया—"क्या बात है कि तुम बोलते-बोलते अचानक चुप हो गए? लगता है, कुछ रहस्यमय जरूर है।"

वह भी मुसकराने लगा। फिर बड़े संकोच से बोला, "मणिपुर बड़ा आनंददायक स्थान है। वहाँ की प्रकृति बड़ी मोहक है।"

"तब तो वहाँ की स्त्रियाँ कम मोहक नहीं होंगी!" मैंने कहा।

वह एकदम हँस पड़ा। मुझे लगा कि मेरे अनुमान के चरण अँधेरे में भी ठीक दिशा की ओर बढ़ रहे हैं।

मैंने उससे कहा, ''तुम्हारी आँखों ने तो सबकुछ कह दिया है, अब उसे छिपाने से क्या लाभ?''

''हाँ, वहाँ की स्त्रियाँ भी बड़ी सुंदर होती हैं। यों तो उनकी लंबाई अधिक नहीं होती, पर वे किन्हीं अप्सराओं से कम नहीं होतीं। जब वे अपने प्रकृत वेश में पहाड़ों पर उछलती-कूदती उतरती हैं, तब ऐसा लगता है कि फूलों के वन से फुदकती हुई तितलियाँ निकल रही हैं।''

''तब तो तुम अवश्य ही उन तितलियों के पकड़ने में लगे रहे होगे! मैं तुम्हारी प्रकृति जानता हूँ।'' अर्जुन और मुझमें कुछ महीने की छोटाई-बड़ाई थी, इसीलिए ऐसी बातें खूब होती थीं।

अर्जुन भी उसी मस्ती में बोला, ''पकड़ने में तो नहीं लगा था, बंधु; पर यदि कोई तितली आकर स्वयं हाथ पर बैठ जाए तो मैं क्या करता!''

''करते क्या, उसका रस लेते।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''पर यह याद था या नहीं कि ये तितलियाँ भी बड़ी गजब की होती हैं। हर फूल का रस लेती हैं और उड़ जाती हैं!''

''याद तो था, पर वह तो गले पड़ गई।'' अर्जुन जोर से हँसा—''उससे पिंड छुड़ाकर संप्रति निकल आया हूँ।'' वह हँसता ही रहा। फिर ज्यों-ज्यों उसकी हँसी थमती गई, उसने वस्तुस्थिति बतानी आरंभ की—''मणिपुर के महाराज चित्रवाहन का अतिथि था। उन्होंने अपनी पुत्री को ही मेरी सेवा में लगा दिया।''

''तब तो बिल्ली के भाग्य से सिकहर टूटा।'' मैंने कहा।

वह फिर हँस पड़ा। बातों के क्रम में हमें समय का पता ही नहीं चला। संध्या अंधकार में डूब गई।

मैंने जल में क्रीड़ा करती सुभद्रा एवं सत्यभामा से कहा, ''निकलोगी कि आज की रात पानी में ही बीत जाएगी!''

अब उनकी दृष्टि मेरी ओर मुड़ी। मैं एक पराए व्यक्ति के साथ बैठा उन्हें दिखाई दिया। सत्यभामा तो निश्चित रूप से अर्जुन को नहीं पहचानती थी; पर इस अँधेरे में सुभद्रा भी उसे पहचान न पाई। दोनों मछलियों की तरह सरककर लता प्रकोष्ठ में चली गईं और शीघ्र वस्त्र बदलकर तैयार हो गईं।

कंचुकी ने आकर सूचना दी।

मैंने उससे कहा, ''तुम उन्हें मेरे रथ से राजभवन पहुँचाओ और फिर रथ

भेज देना। हमें आने में विलंब हो सकता है।''

अर्जुन की बातों का क्रम आगे बढ़ा—''चित्रवाहन ने अपनी पुत्री चित्रांगदा के विवाह का प्रस्ताव रखा; पर मैं विवाह करना नहीं चाहता था। मांस खाकर गले में हड्डी लटकाने के पक्ष में मैं नहीं था।'' उसकी हँसी एक बार फिर फूटी।

मैंने भी उसी हँसी में हँसी मिलाई—''तब तो पुष्प ने भी वही चाहा, जो तितली की प्रकृति के अनुकूल है।''

''पर न तितली ऐसा चाहती थी और न उसका पिता ही। यही तो मुसीबत थी।'' अर्जुन ने बताया—''वहाँ मातृप्रधान परिवार की परंपरा है। वर को विवाह के बाद वधू के घर रहना पड़ता है—और मेरे लिए यह किसी तरह संभव नहीं था।''

''तब?''

''महाराज ने अपने प्रजा प्रमुखों की सभा बुलाई, जिसमें लगभग सभी नारियाँ थीं। दो-एक वे ही पुरुष थे, जिनकी स्त्रियाँ किसी कारणवश आ नहीं पाई थीं। उस सभा ने एक नई व्यवस्था दी कि राजकुमारी की संतान को यहीं रखकर उन्हें जाने दिया जा सकता है।''

''तो तुमने राजकुमारी को वहीं छोड़ दिया?''

''संप्रति तो वह वहीं है।'' उसने मुसकराते हुए कहा।

''फिर तो तुम संतान की व्यवस्था तक पहुँच चुके हो!''

इस बार अर्जुन की मुसकराहट केवल अधरों में ही नहीं रही, वह उसकी वक्र-भंगिमा में खिलखिला उठी।

मैंने कहा, ''तुम्हारे लिए उन्हें पुरानी प्रथा को तोड़कर नई प्रथा चलानी पड़ी।''

''नहीं, अग्रजश्रेष्ठ! ऐसा नहीं हुआ।'' अर्जुन बोला, ''उन्होंने पुरानी प्रथा तोड़ी अवश्य।'' वह क्षण भर के लिए रुका—''उन्होंने प्रथा क्यों तोड़ी, वरन् मेरे एवं राजघराने के तात्कालिक संकट का हल निकाला और यह निर्णय लिया कि यह 'व्यवस्था' भविष्य के लिए उदाहरण नहीं बनेगी।''

मैंने अर्जुन को दोहरी बधाई दी—विवाह की और संतान-प्राप्ति की संभावना के लिए।

उसने हँसते हुए कहा, ''यह बधाई तो समय से पूर्व है। फिर भी मैं धन्यवाद के साथ इसे स्वीकार करता हूँ।''

इसपर हम दोनों लिपटकर बहुत देर तक हँसते रहे।

□

प्रासाद में आने के बाद मैंने योजनापूर्वक अर्जुन को सबसे मिलवाया और अपनी ओर से उन्हें वस्तुस्थिति बताई कि ये हस्तिनापुर से बहुत दिनों तक बाहर रहे हैं। वह भी प्राग्ज्योतिषपुर जैसे सुदूर पूर्व छोर पर। वहाँ से लौटते समय उत्कल (उड़ीसा) में इन्हें मेरे अचानक लुप्त हो जाने की सूचना मिली।

अब अर्जुन ने अपनी ओर से भी उसमें मिलाया—"फिर भी मैं नहीं घबराया; क्योंकि लुका-छिपी तो इनकी प्रवृत्ति रही। जीवन भर इन्होंने यही किया है। कुछ दिनों के लिए कहीं अदृश्य होना, फिर प्रकट हो जाना इनके लिए कोई विशेष बात नहीं थी। मुझे क्या मालूम कि सारा कांड सत्राजित् की नीचता का परिणाम है। यह तो पुष्कर में चेकितान ने मुझे पूरी कहानी सुनाई। वहीं से मैं भागा हुआ द्वारका चला आया और सीधे आकर कन्हैया से मिला।"

मेरे माता-पिता और नानाजी ने अर्जुन की विवशता पर विश्वास किया; पर जब मैं उसे लेकर भैया के पास पहुँचा तो उसे देखते ही वे बोल पड़े—"अब तुम्हें समय मिला है। हमें तुमसे ऐसी आशा नहीं थी कि विपत्ति के समय तुम भी पीठ दिखा दोगे। तुमसे तो अच्छे कौरव हैं, जिनका हम लोगों ने कभी हित करना तो दूर, हित चाहा भी नहीं; पर हमारी विपत्ति में दौड़े हुए आए।"

भैया के सामने मैं तो अधिक बोला नहीं, क्योंकि वे मुझे मूलतः पांडवों का पक्षधर समझते थे। मेरा कुछ कहना और न कहना बराबर ही होता। मैंने पहले से ही अर्जुन को बोलने के लिए तैयार कर लिया था। उसने भैया को सारी स्थिति भरसक बताई।

भैया ने बड़ी गंभीरता से दरवाजे के बाहर खड़े-खड़े ही उसे सुना। भीतर आकर बैठने को भी नहीं कहा। निरंतर उनकी भभकती आँखों से चिनगारियाँ छूटती रहीं।

"तुम नहीं थे, यह तो बात समझ में आती है; पर इंद्रप्रस्थ में और कोई नहीं था?" भैया बोल पड़े और बोलते ही गए—"जो तुम यह कहो कि उन्हें ज्ञात नहीं हुआ, तो मैं पूछूँगा कि कौरवों को कैसे ज्ञात हो गया? दुर्योधन बेचारा महीनों यहाँ आकर रहा। वह हर प्रकार की सहायता के लिए तैयार था।"

हम लोग कुछ बोले नहीं। एक चुप, हजार चुप। क्योंकि भैया की प्रकृति से हम अच्छी तरह परिचित थे। आक्रोश में बोलते समय उनका प्रतिवाद करना भड़कती आग को और अधिक भड़काना होता। हमने उन्हें भभक जाने दिया।

अंत में वे स्वयं बोले, "फिर बातें होंगी।"

हम चल पड़े। अर्जुन भी दुःखी दिखा। मैंने उसे समझाया।

पर वह भैया से सहमत था। उसका कहना था—"कौन विश्वास करेगा कि इंद्रप्रस्थ को समाचार नहीं मिला! यदि इंद्रप्रस्थ को समाचार नहीं मिला और हस्तिनापुर वस्तुस्थिति से अवगत हो गया, तब तो सीधे-सीधे हमारी गुप्तचर व्यवस्था की यह पराजय है। और यदि समाचार मिलने पर भी इंद्रप्रस्थ सक्रिय नहीं हुआ, तब तो भैया का सोचना शत-प्रतिशत सही है।"

इस विषय में अर्जुन जितना सोचता गया, मानसिक स्तर पर उतना ही उलझता गया। वह इस निष्कर्ष पर आया कि कहीं हमारे भाई किसी नई विपत्ति में तो नहीं फँस गए हैं। ऐसा भी हो सकता है कि शकुनि ने यह सोचा हो कि अब कृष्ण तो आने वाले नहीं हैं, उसने कोई नई चाल चल दी हो। उसीके क्रम में दुर्योधन को यहाँ भेजा हो और इंद्रप्रस्थ के लिए कोई नया जाल बिछा दिया हो।

इसी चिंता में अर्जुन बोला, "आपका अचानक अदृश्य हो जाना आर्यावर्त्त में एक शून्यता का जन्म लेना है, जिसका लाभ मामा उठा सकता है।"

"अरे नहीं जी, तुम तो बहुत अधिक सोचते हो। यदि कोई बात हुई होती तो तुम्हारे भाइयों की गुहार अब तक द्वारका पहुँच जाती।"

"जब गुहार आ सकती थी तो आपके अभाव में वे स्वयं क्यों नहीं आए?" उसने कहा।

"कभी-कभी सहज संयोग की बड़ी नकारात्मक भूमिका होती है।" मैंने अर्जुन को समझाया—"जैसे अप्रत्याशित तुम्हारा प्रभासतीर्थ में पहुँचना सहज संयोग की सकारात्मक भूमिका है। न तुम यहाँ आते और न मेरे संबंध में तुम्हें ज्ञात होता।"

"सकारात्मक भूमिका तो तब कहूँ, जब मेरे आने से भैया के सोच में बदलाव आता।"

"सोच तो बदल सकता है, पर वचन बदलना कठिन है।"

"क्या उन्होंने कोई वचन भी किसीको दिया है?"

"उनका वचन ही तो द्वारका की इस समय सद्यः समस्या है।" मेरे मुख से निकल गया। पर मैं इस बात को अभी खोलना नहीं चाहता था। मैंने बात एकदम बदल दी और उसकी जिज्ञासा को बहलाते हुए बोला, "चलो, तुम्हारा अपनी नवपत्नियों से परिचय करा दूँ।"

मैं उसे लेकर सत्यभामा के कक्ष की ओर चला।

सत्यभामा के कक्ष में ही सुभद्रा भी थी। लगता है, उद्यान से दोनों सीधे

यहीं लौटी थीं। हम लोगों को देखकर वे हड़बड़ाकर खड़ी हो गईं। यहाँ भी मेरी वाणी फिसली। मैंने सुभद्रा की व्यग्रता को शांत करने के लिए उपहास में ही उससे कहा, "लो, तुम्हारे लिए अर्जुन को ले आया हूँ।"

"मेरे लिए!" उसके नेत्र विस्फारित हो गए।

जैसे दरिद्र के भाग्य से छप्पर फटे या बिल्ली के भाग्य से सिकहर टूटे वैसे ही उसे लगा कि उसके भाग्य से आकाश से यह देवदूत उतरा है। वह अर्जुन को ऊपर से नीचे तक कई बार देख गई।

अब मुझे लगा कि हे भगवान्! यह मैंने क्या किया?

पर मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही अर्जुन बोल पड़ा—"तुम तो मुझे ऐसे देख रही हो जैसे मैं जंगल से आया कोई विलक्षण जंतु होऊँ।"

"जंतु नहीं, स्वर्ग से उतरे देवदूत।"

"ओफो, तुम क्या व्यर्थ की बातें करने लगीं! मैं तो अर्जुन को लाया था तुम्हारी भाभी से मिलाने।"

"तुम भी कितने भाग्यवान् हो, भैया, कि एक साथ दो-दो भाभी ले आए!"

"लाना तो एक को ही चाहता था, पर एक और मिल गई तो क्या करूँ!"

"हाँ-हाँ, यह सही है।" सत्यभामा बोली, "मैं तो लगी चली आई हूँ।"

और मैं सकपका गया कि मैंने क्या कह दिया। जैसे फिसलन पर पैर बार-बार फिसलता है वैसे ही मेरी जबान आज कई बार फिसली। वह भी ऐसी फिसली, जिसमें सुधार कठिन था। अब मैं सत्यभामा से क्या कहता कि नहीं, मैं तुम्हें लाया हूँ और जांबवती लगी चली आई है? यदि जांबवती सुनती तो क्या कहती।

सिवाय इसके कि सत्यभामा को मैं जोर से हँसकर उड़ा दूँ और मेरें पास कोई चारा नहीं था। मैंने यही किया भी। फिर मैंने देखा कि सत्यभामा गंभीर हो गई थी। मैंने उसकी गंभीरता को झकझोरते हुए कहा, "न कोई किसीके साथ लगता है और न लगाया जा सकता है। यह सब तो भवितव्यता है, जो हमें जोड़ती और तोड़ती रहती है।"

"भवितव्यता के हाथ में मुझे सौंपकर, भैया, क्या तुम मुझसे मुक्त होना चाहते हो?" इस बार सुभद्रा बोली।

"मैं क्या तुम्हें सौंप सकता हूँ, वरन् हम सब सौंपे हुए हैं। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता।" मैंने फिर सुभद्रा को समझाया—"इसीलिए

तो तुमसे कहता हूँ कि तुम शांत रहो और देखती जाओ।''

फिर सत्यभामा से अर्जुन की बातें होने लगीं; पर उसकी दृष्टि लगातार सुभद्रा पर थी। मुझे लगा कि सुभद्रा उसकी आँखों में डूबती चली जा रही है और वह सुभद्रा की। यह नयनों का नयनों से उन्मीलन, प्रिय-गोपन मुझे भविष्य के कार्यक्रम की भूमिका निभाता दिखाई दिया। बस, मेरा काम भी इतने से ही था।

आज की रात भी मैंने अर्जुन के साथ ही बिताई और उस रहस्य का उद्घाटन किया, जिसे सुनकर वह अवाक् रह गया। मैंने उसे बताया—''सुभद्रा के विवाह के लिए भैया दुर्योधन को वचन दे चुके हैं।''

''अगर यह विवाह हो गया, तब तो हम पांडवों का डूबना निश्चित है।'' उसने चिंता व्यक्त की।

''क्यों?''

''इससे हमारे-आपके बीच एक दूरी हो जाएगी।'' अर्जुन बोला, ''फिर हमें डूबने से कोई बचा नहीं सकता।''

''इसका तात्पर्य है कि तुम मुझे अपने अस्तित्व का आधार मानते हो; जबकि यह तुम्हारा भ्रम है। जिस समय कौरवों ने भीम को विष खिलाकर गंगा में बहा दिया था, उस समय मैं कहाँ था? लाक्षागृह कांड के समय मैं कहाँ था? गुरु दक्षिणास्वरूप जब तुमने द्रुपद को बंदी बनाया था तब मैं कहाँ था? तुम्हारे अस्तित्व के मूल में जो शक्ति है, सारे संसार में उसी शक्ति का विराट् रूप तुम्हें दिखाई पड़ेगा। दूसरी बात है कि तुम अपने और मेरे बीच की निकटता को इतनी दुर्बल क्यों समझते हो? यदि सुभद्रा दुर्योधन से ब्याही ही जाती है तो कौन सा पहाड़ हमारे और तुम्हारे बीच खड़ा हो जाएगा?''

''यह विवाह ही तिल का पहाड़ हो जाएगा।''

''तुम यह समझते हो?''

''इसमें समझना क्या है!'' अर्जुन बोला, ''इसे तो कोई भी कह सकता है कि इस विवाह का पूरा राजनीतिक उपयोग दुर्योधन करेगा।''

''यदि तुम ऐसा समझते हो तो इस तिल का उपयोग तुम्हीं करो।''

''कैसे?''

''इसे मैं समय आने पर बताऊँगा।'' मैंने कहा, ''एक बात और है। कल भैया ने तुम्हें बातें करने के लिए बुलाया है। मेरी राय है कि अधिक-से-अधिक तुम्हें उन्हें सुनना चाहिए। अपनी ओर से तुम कुछ मत कहना और हर बात में पश्चात्ताप करते हुए एक अपराधी की मुद्रा बनाए रखना। देखो, वे क्या कहते हैं!''

मैंने फिर नेपथ्य में रहकर संचालित करनेवाली सूत्रधार की भूमिका निभाई।

बातों-बातों में ही रात का बचपन और कैशोर्य बीत गया। मैंने उसके यौवन की मादकता में खलल डालना उपयुक्त नहीं समझा। हम सो गए और सवेरे बहुत देर तक सोते रहे।

सोकर उठने पर पता चला कि भैया का दूत दो बार हमें बुलाने आया और लौट गया। हम नित्यकर्म से शीघ्र ही निवृत्त हो जलपान भैया के साथ करने का निश्चय कर चल पड़े।

भैया मंत्रणाकक्ष में ही हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। हमें देखते ही उन्होंने गंभीर आवाज में कहा, ''बैठिए।''

हम दोनों चुपचाप मंचक पर बैठ गए और उन्होंने बिना किसी भूमिका के बात शुरू की—''अर्जुन, अच्छा किया कि तुम विपत्ति टल जाने के बाद आए।''

मुझे लगा कि भैया की मुद्रा बड़ी आक्रामक है। मैंने तुरंत कहा, ''हम लोग अभी तक कुछ खाए-पिए नहीं हैं। सोचा, आपके साथ ही जलपान करेंगे।''

इतना सुनते ही वे उठकर चले गए और जलपान भेजा; पर भैया नहीं आए वरन् जलपान के साथ रेवती भाभी आईं।

मैंने कहा, ''भैया काफी नाराज मालूम पड़ते हैं। उन्होंने अर्जुन के साथ बैठकर जलपान करना भी उचित नहीं समझा; जबकि जलपान का प्रस्ताव मैंने किया था, अर्जुन ने नहीं।''

क्रोध जब भभकता है तो अपने शिष्टाचार और सौजन्य को पहले भस्म करता है।

रेवती भाभी ने भी बताया—''इस समय वे पांडवों से बेतरह नाराज हैं।''

''मैं तो क्षमा माँगने ही आया था।'' अर्जुन बोला।

अब भाभी ने मुझसे कहा, ''जरा तुम्हीं जाओ, बुला ले आओ। इस समय वे अपने ही कक्ष में होंगे। देखो, क्या कहते हैं!''

''मुझसे जो उन्हें कहना है, वह तो अनेक बार कह चुके हैं।'' मैंने कहा। फिर भी उन्हें बुलाने चला गया। वे अपने कक्ष में चुपचाप बैठे थे। उनकी आग्नेय दृष्टि वातायन के बाहर दूर, कहीं दूर देख रही थी।

मैंने चलने के लिए आग्रह किया और कहा, ''बेचारा क्षमा माँग रहा है। जब से आया है, पश्चात्ताप ही व्यक्त कर रहा है। वह भी अपने भाइयों पर अप्रसन्न है। पर वह जान नहीं पा रहा है कि ऐसा उनसे किन परिस्थितियों में हो गया।''

''अब भी तुम इन पांडवों को बेचारा समझते हो! अरे, ये कृतघ्न हैं,

कृतघ्न! उस स्थिति में तुम्हारे अदृश्य होने पर इन्हें पागल हो जाना चाहिए था—और ये सुगबुगाए तक नहीं।''

''आप कहते तो ठीक ही हैं; पर द्वार पर आया है, आप उसकी भी सुन लीजिए। आखिर इसमें हमारा जाता क्या है?'' मैंने कहा, ''और आपने ही उसे बुलाया था। बुलाकर तिरस्कार करने पर तो हम उससे भी बुरे हो जाते हैं।''

मेरे इस तर्क ने लगता है, काम किया और वे उठकर चुपचाप चले आए। पर आते ही वे उसी मुद्रा में बोल पड़े—''कहिए, आपको क्या कहना है?''

अर्जुन ने एकदम मेरी ओर देखा। ऐसा लगा जैसे वह पूछ रहा हो, इस धधकती आग में किधर से हाथ डालूँ? फिर उसने बड़ी शालीनता से बात आरंभ की—''यों आपने बुलाया था, चला आया; पर यदि आपने न भी बुलाया होता, फिर भी आना तो था ही।''

''क्या आना था! जब परिस्थिति ने बुलाया तब तुम आए नहीं, अब मुँहदेखी करने आए हो!''

''इसीका तो हमें दुःख है। मैं आपके चरण छूकर क्षमा माँगता हूँ।'' अर्जुन बोला और भैया के चरण छूने के लिए झुका भी; पर भैया ने अपना पैर खींच लिया। यह उचित नहीं था। अर्जुन कुछ बोलने ही वाला था कि मैंने उसका हाथ दबाया और वह एकदम मौन रह गया।

घुटन भरे मौन का यह अंतराल सबके लिए भारी था।

कुछ क्षणों बाद भैया को भी लगा कि उन्होंने यह उचित नहीं किया। उन्होंने एक बनावटी मुसकराहट अपने क्रोध पर चिपकाई और बोले, ''मैंने पैर केवल इसलिए हटाया कि यह इतनी बड़ी भूल नहीं थी कि तुम मेरे पैर पकड़कर क्षमा माँगो। ज्यों ही भूल स्वीकार की जाती है, वहीं से उसका सुधार आरंभ हो जाता है। क्षमा आदि माँगना तो उसका औपचारिक पक्ष है; फिर औपचारिकता आपस में नहीं होती।''

मैंने बराबर अनुभव किया कि भैया का आवेश ज्वार की तरह आता है और भाटे की तरह उतर जाता है। अब वे पहले से काफी शांत लगे।

''आप इसे औपचारिकता समझें या कुछ और, अब क्षमा माँगने के अतिरिक्त और क्या कर सकता हूँ!'' अर्जुन ने कहा, ''अब मुझे चिंता है कि इंद्रप्रस्थ से ऐसी भूल कैसे हो गई? या इंद्रप्रस्थ किसी और समस्या में तो नहीं उलझा है!''

''हो सकता है।'' भैया बोले, ''तब तो तुम शीघ्र लौटना चाहोगे!''

''यदि लौटना न भी हो सके तो वहाँ का समाचार तो जानना ही चाहूँगा;

क्योंकि मेरा कार्यक्रम कुछ समय तक और इंद्रप्रस्थ से बाहर रहने का है।''

मैंने फिर उसका हाथ दबाया। मैं आशंकित हुआ कि भैया कहीं बाहर रहने का कारण न पूछ बैठें।

अर्जुन मेरी मंशा जानकर चुप हो गया। भैया बस इतना ही जानते थे कि अर्जुन आजकल तीर्थयात्रा पर है। उन्होंने उसीमें ही रुचि दिखाई। उन्होंने कहा, ''मेरी भी इच्छा तीर्थयात्रा करने की है। इससे पुण्य हो, चाहे न हो; पर आर्यावर्त्त दर्शन का लाभ तो होगा ही। पर इसके लिए यह उपयुक्त समय नहीं है। अभी तो इंद्रप्रस्थ का ही निर्माण चल रहा होगा। अभी तो जीवन में बहुत कुछ करना है। इसके लिए वानप्रस्थ और संन्यास का ही समय उपयुक्त है।''

अर्जुन हर बात में 'हाँ, हाँ' करता हुआ स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाता रहा। काफी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं; पर अभी तक वह बात सामने नहीं आई, जिसके लिए भैया ने अर्जुन को बुलाया था। एक बार तो वे रहस्य की सरिता के किनारे तक पहुँच गए थे।

उन्होंने कहा, ''मैं चाहता हूँ कि कौरवों और पांडवों का यह आपसी द्वेष सदा के लिए मिट जाए।''

''हम भी यही चाहते हैं।'' अर्जुन बोला, ''आप आज्ञा दें, मुझसे जो भी हो सकेगा, करूँगा।''

''समय आने दो, तुम्हें बताऊँगा।'' भैया बंद ही रह गए—''जाने से पूर्व तो अभी मिलना होगा ही?''

''अवश्य।'' अर्जुन बोला।

□

इसके बाद अर्जुन द्वारका से लौटने की जल्दी में था; पर मैंने उसे लौटने नहीं दिया। कई दिनों तक वह मिलने-मिलाने में रह गया। इसी बीच मैंने दो चर इंद्रप्रस्थ की ओर भी दौड़ाए।

मैंने अर्जुन से कहा, ''लौटने की इतनी हड़बड़ी क्या है? यदि कोई विशेष बात होगी तो उसकी सूचना हमें मिल जाएगी।''

''आप मुझे जाने क्यों नहीं देते?'' एक शाम अर्जुन ने स्पष्ट पूछा।

''समय आने दो, बताऊँगा।'' मैं हँसते हुए बोला। मेरा स्वर भी लगभग भैया जैसा था।

''आप लोगों का वह समय एक ही होगा या दो?'' उसने फिर हँसते हुए पूछा।

"समय दो हो सकता है।" मैंने हँसते हुए ही उत्तर दिया—"पर संदर्भ एक ही होगा—विवाह का।"

अर्जुन फिर गंभीर हो गया। मैंने रहस्य को रहस्य ही बने रहने दिया।

जैसाकि आप जानते हैं, सत्यभामा की सुभद्रा से मित्रता तो बहुत पहले से थी, पर सत्यभामा के यहाँ आने के बाद से उनकी निकटता घनिष्ठता में परिवर्तित हो गई। बहुधा सुभद्रा दिन-दिन भर और अवसर मिलता तो रात-रात भर सत्यभामा के कक्ष में ही रह जाती। उसीके सामने वह अपना हृदय खोलती। दुर्योधन संदर्भ से वह काफी व्यग्र थी। इससे मुक्ति का कोई और मार्ग उसे दिखाई नहीं दे रहा था।

"भैया अपने वचन से डिग नहीं सकते—और यदि यह होना ही है, तब क्यों नहीं ऐसी घड़ी आने के पहले मैं अपना प्राण ही त्याग दूँ!" सुभद्रा बोली।

"जब तुम्हारे भैया ने सार्वजनिक रूप से आत्मदाह का संकल्प किया था तब मेरे मन में भी ऐसा आया था।" सत्यभामा बोली, "तब तुम्हींने कहा था कि धैर्य रखो, भगवान् तुम्हारी इच्छा पूरी करेगा। तुम्हें शायद याद हो या न याद हो; पर मैं आज तुम्हारे ही वचन दुहराऊँगी—धैर्य रखो, भगवान् तुम्हारी इच्छा पूरी करेगा।"

"सच!" सुभद्रा ने प्रसन्न होकर सत्यभामा को गले लगाया—"तब तू कह न अपने भगवान् से!"

"क्या तेरा-मेरा भगवान् दो है?" सत्यभामा बोली, "हम भले ही दो हों, पर हमारा भगवान् तो एक ही है। मैं उससे तेरे लिए प्रार्थना करूँगी; इसलिए नहीं कि तूने मेरे लिए प्रार्थना की थी वरन् इसलिए कि तेरी व्यग्रता में मुझे अपनी व्यग्रता और तेरी पीड़ा में अपनी पीड़ा दिखाई देती है।"

तब से सत्यभामा को जब भी अवसर मिलता, वह एक ही बात कहती—"तुम सुभद्रा के विषय में कुछ सोचो।"

"क्या सोचूँ?" मैंने कहा, "जो कुछ सोचना है, उसीको सोचना है।"

"उसने तो सोच लिया है।" सत्यभामा बोली।

"क्या सोचा है उसने?"

"उसने सोच लिया है कि दुर्योधन के साथ विवाह हो, इसके पहले वह आत्मदाह करेगी।"

"पर आत्मदाह तो किसी समस्या का समाधान है नहीं।"

"एक स्थिति ऐसी आती है, जब आत्मदाह में ही सभी समस्याओं का

समाधान दिखाई देता है।'' सत्यभामा बोली, ''जैसा कभी आपको भी दिखाई दिया था।''

''आत्मदाह की स्थिति तो तब आती है जब व्यक्ति के पास कुछ करने को रह नहीं जाता। तुम्हें याद होगा, मैंने कहा था कि यदि मैं अपने अभियान में असफल हो जाऊँगा, तो आत्मदाह करूँगा। अभी तो सुभद्रा ने कुछ किया ही नहीं।''

''तो वह क्या करे?'' सत्यभामा बोली, ''उसे कोई मार्ग दिखाई नहीं देता।''

''यदि मार्ग दिखाया जाएगा तो क्या वह चलेगी?''

''अवश्य चलेगी।''

''यह तो तुम कहती हो न!'' मैंने कहा, ''पहले उससे वचन ले लो। ऐसा न हो कि मार्ग भी दिखाया जाए और ऐन मौके पर वह उसपर चलने से इनकार कर दे।''

''पर मार्ग क्या होगा?''

''कुछ भी होगा, पर आत्मदाह नहीं होगा।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''वह समय पर बताया जाएगा।''

सुना है, सत्यभामा ने उसी दिन सुभद्रा से मुझसे हुई बातों की चर्चा की और उससे वचन ले लिया। सत्यभामा ने यह भी बताया कि वह कह रही थी—''मुझे केवल कृष्ण भैया से ही आशा थी। वे बराबर सांत्वना देते रहे। वह जो भी रास्ता दिखाएँगे, उसपर चलूँगी। दृढ़ता से चलूँगी।''

अब मुझे अर्जुन को तैयार करना था। यह निश्चित था कि जो भी कहूँगा, अर्जुन आँख मूँदकर करेगा। उसे मुझपर विश्वास है और मुझे उसपर। पर कहूँ तो कैसे कहूँ? अपने विरुद्ध कहूँ? अपने परिवार के विरुद्ध कहूँ? या भैया के विरुद्ध कहूँ, अथवा भैया के वचन के विरुद्ध कहूँ? कहूँ भी तो कैसे कहूँ?

'हवा मेघों को उड़ा सकती है; पर उसे उड़ाने में उसे स्वयं उड़ना पड़ता है। फिर दिशा भी तो निश्चित करनी है।' मेरा अंतर्मंथन चलता रहा—'जबकि उसका उड़ना और दिशा निश्चित करना मेरे हाथ में तो नहीं है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। यही बात बाद में मैंने 'गीता' में कही है—निमित्त मात्रं॰॰॰।

'तो मैं निमित्त बनूँगा। उस कर्म का निमित्त बनूँगा, जिसका यश और अपयश मेरे खाते में लिखा जाएगा। तब कोई नहीं सोचेगा कि मैं इस कार्य का कर्ता नहीं हूँ। जीवन और मरण की तरह विवाह का निश्चय भी जन्म के पूर्व ही होता है।'

अब कौन सा रास्ता निकाला जाए? दिन-रात मैं सोचता रहा। इसी बीच इंद्रप्रस्थ गए चर भी लौट आए। जैसा उन्हें निर्देश दिया गया था, वे लौटकर सीधे मुझसे मिले। उन्होंने बताया कि इंद्रप्रस्थ में शांति है, सबकुछ ठीक है। धर्मराज को आपके संकल्प के संदर्भ की पूरी सूचना समय से मिली थी। वे दु:खी भी हुए थे और आने के लिए तैयार भी हो रहे थे, तब तक एक दूसरे समाचार की लहर इंद्रप्रस्थ में आई। यह लहर पहले से अधिक सशक्त थी कि यह समाचार झूठा है। किसी शरारती ने आर्यावर्त्त को अशांत करने के उद्‌देश्य से इसे प्रसारित कर दिया है। वस्तुत: द्वारकाधीश महाराज सकुशल-सानंद अपने राज-काज में व्यस्त हैं।

मैंने अर्जुन से कहा, ''यह शकुनि का मस्तिष्क है। भोलेभाले धर्मराज उसके चक्कर में आ गए। मुझे तो लगता है, दुर्योधन को इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए मामा ने ही द्वारका भेजा होगा, अन्यथा उसका स्वाभिमान अचानक इतना नीचे न उतर आता।''

मैंने तुरंत उस चर से कहा कि भैया को भी यह समाचार सुनाओ। चर ने वैसा ही किया। भैया पर प्रभाव भी पड़ा। पर दिए हुए वचन के प्रति सजगता में कितनी कमी आई, यह मैं जान नहीं पाया; पर जिज्ञासा तो थी ही।

इसका प्रभाव यह हुआ कि मेरे मन में भी शकुनि के इस षड्‌यंत्र का समुचित उत्तर देने की उत्कंठा जागी। अर्जुन ने भी मेरा समर्थन किया। अब इस विषय में मेरा मस्तिष्क सक्रिय हुआ। अनेक योजनाओं की ओर मेरा मस्तिष्क गया, पर किसी पर मन अधिक जमा नहीं।

माघ कृष्णपक्ष, द्वितीया की संध्या थी। मैं अर्जुन के साथ प्रमोद उद्यान में था। चार में से मेरी तीन पत्नियाँ—रुक्मिणी, जांबवती और सत्यभामा उस समय मेरे साथ थीं। मैं खुलकर अपनी पत्नियों से विनोद कर रहा था कि तीनों मुझे संतरण ताल की ओर ले गईं और मुझे जल की ओर ढकेल दिया, फिर जलक्रीड़ा करने लगीं। मैंने अर्जुन को बुलाया; क्योंकि मैं उसे कभी अपने से अलग नहीं समझता था।

वह नहीं आया। बोला, ''शरीर तो द्वारका में है, पर मेरा मन इंद्रप्रस्थ में है। वह आप लोगों की क्रीड़ा देखकर काँप रहा है।''

अर्जुन की बात किसीकी समझ में नहीं आई। हममें से सभी ने उसको समझने की चेष्टा की। इससे हमारी आंगिक गतिविधियाँ भी शिथिल हो गईं।

''तुम कहना क्या चाहते हो?'' मैंने उससे पूछा।

उसने कहा, ''इस समय इंद्रप्रस्थ में ठिठुरन भरी शीत होगी। शिशिर का

प्रकोप जलाशय में हिम घोल चुका होगा। वहाँ के लिए तो यह शय्याक्रीड़ा की ऋतु है, जलक्रीड़ा की नहीं।''

इतना सुनते मेरी पत्नियों ने खिलखिलाते हुए डुबकियाँ लगाईं। मुझे भी मथुरा की याद है। शिशिर की ठिठुरन के साथ उसकी मादकता की भी। मैंने यह भी अनुभव किया कि द्वारका की ऋतु और प्रकृति भी लगभग एकरस है। उसमें वह विविधता नहीं, जिसे हम भोग चुके हैं।

अर्जुन बोलता गया—''एक पक्ष के बाद ही वसंत का जन्मदिन आएगा। पूरा आर्यावर्त्त उस समय राग-रंग में डूब जाता है। कहीं वसंत पंचमी, कहीं रति पंचमी और कहीं श्री पंचमी के रूप में आर्यावर्त्त में सब कहीं मनाया जाता है।''

''पर हम तो उसे नहीं मनाते।'' मैंने कहा, ''पर इस साल हम उसे मनाएँगे। तुमने अच्छी याद दिलाई।'' इसी बीच रुक्मिणी को पता नहीं क्या सूझा कि वह चुपचाप संतरण ताल से निकली और पीछे से अर्जुन को जोर का धक्का दिया। वह छपाक से पानी में गिर पड़ा। फिर तो जो कुछ हुआ, मत पूछिए। यह तो कहिए कि रात के अंधकार ने हमें बहुत कुछ छिपाए रखा।

इस घटना के माध्यम से अर्जुन ने मुझे उस पगडंडी पर खड़ा कर दिया, जिसपर चलकर शकुनि से प्रतिशोध लेने की मंजिल की ओर मैं सीधे चल सकता था।

मैंने उसी रात अर्जुन को मंत्रणा के लिए अपने कक्ष में बुलाया—''तुमने मुझे अच्छी याद दिलाई। इस बार माघ शुक्ल पंचमी को हम भी वसंतोत्सव-मनाएँगे; पर जानते हो कहाँ?''

मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में अर्जुन सोचने लगा।

''रैवतक पर्वत पर।'' मैंने कहा।

''द्वारका में क्यों नहीं?''

''इसलिए कि यह उत्सव केवल द्वारका का नहीं होगा।'' मैंने कहा, ''यह बहुत बड़े स्तर पर होगा। इसमें आर्यावर्त्त के सभी यादव आमंत्रित होंगे—वृष्णि, भोज, अंधक—सभी वंशों के लोग।''

''तब तो यह विराट् उत्सव होगा और शायद यह अपनी परंपरा भी बना ले।'' अर्जुन बोला, ''इसके लिए तो भैया से भी अनुमति लेनी होगी।''

''बलराम भैया से?'' मैं बोला, ''उनसे तो चुटकी बजाते अनुमति मिल जाएगी।'' मुझे हँसी आ गई—''वे रति पंचमी का विरोध करें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता।''

फिर मैं चुप हो गया। काफी समय तक अर्जुन को देखता रहा। मेरा यह मौन अर्जुन को तैयार करने के विषय में सोचता रहा।

अब मैंने अर्जुन से कहा, ''मुख्य रूप से तो यह सब मैं तुम्हारे लिए कर रहा हूँ।''

''मेरे लिए!'' अर्जुन अचरज में पड़ा।

मैंने अब पूरी योजना बताई—''जितनी जल्दी हो, तुम द्वारका छोड़ दो और रैवतक पर्वत पर सोमशिव के मंदिर में चले जाओ। उस मंदिर में तुम्हें यति के वेश में रहना पड़ेगा और चांद्रायण व्रत करना पड़ेगा।

''यह चांद्रायण व्रत यतियों का एक विशेष व्रत है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से यह आरंभ होता है। प्रतिपदा से एक-एक ग्रास भोजन घटाना पड़ेगा। अमावस्या को एकदम निराहार रहना होगा। फिर शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाकर पूर्णिमा को व्रत भंग करना पड़ेगा। पर यहाँ तक तो नौबत ही नहीं आएगी।''

''क्यों?''

''क्योंकि तुम्हें व्रत नहीं, व्रत का अभिनय करना है।''

अर्जुन कुछ समझ नहीं पाया। मैंने उसे बताया—''तुम्हारा व्रत महीने भर नहीं चल पाएगा।'' मैंने अँगुलियों पर गिनती की और कहा, ''आज तृतीया हो ही गई। सारा खेल बस पंद्रह दिनों का है।''

अर्जुन का शंकाकुल मन फिर आड़े आया—''क्या यह व्रत धर्मसम्मत होगा?''

''क्या किसी विशेष उद्‌देश्य से तुम्हारा यति का वेश धारण करना धर्मसम्मत है?'' मैंने कहा, ''अरे, यह आपद्धर्म है। इसे अल्पकालिक युक्तियों के रूप में प्रयोग किया जाता है। और यही इसकी सार्थकता है।''

अर्जुन चुप हो गया।

''यहाँ तुम्हारा अब कोई कार्य तो है नहीं।'' मैंने कहा, ''अपना रथ यहीं छोड़ दो। आज मध्य रात्रि के बाद तुम्हें तुम्हारे यति वेश के साथ मेरा सारथि दारुक किसी दूसरे रथ से रैवतक पर्वत पर पहुँचा देगा।''

''वेश बदलने तथा अभिनय करने के अतिरिक्त मुझे और क्या-क्या करना होगा?'' अर्जुन की जिज्ञासा मुसकराती हुई बोली।

''तुम्हें जो कुछ करना होगा, उसे समय-समय पर बतलाया जाएगा। ठीक समय पर वह भी तुम्हारे पास पहुँच जाएगा।'' मैंने कहा।

फिर भी वह सोचता रहा। बोला, ''यदि मैं चांद्रायण व्रत न करूँ तो?'' अर्जुन को ऐसा लग रहा था कि व्रत धर्म का अंग है और अभिनय जीवन का। इसीलिए वह जीवन के समाधान के लिए धर्म का दुरुपयोग करना नहीं चाहता था।

''यदि तुम चांद्रायण व्रत नहीं करोगे तो तुम लोगों को यह विश्वास नहीं दिला पाओगे कि तुम यति हो। चांद्रायण व्रत तुम्हारे यति होने का प्रमाण है।''

अर्जुन फिर सोच में पड़ा। बोला, ''जाने के पहले मैंने बलराम भैया को मिलने का वचन दिया था।''

''हाँ, दिया तो था।'' मैं बोला। फिर सोचने लगा—'फिर तो परसों तक के लिए योजना टालनी पड़ेगी।'

मैंने ऐसा ही किया। अर्जुन दूसरे दिन भैया से मिला। इस बार मैं साथ नहीं था। सुना कि वे अर्जुन से पहले की तरह पेश नहीं आए। इस बीच इंद्रप्रस्थ से आया चर भी उनसे मिल चुका था। वस्तुस्थिति से वे बहुत कुछ परिचित हो चुके थे। पांडवों के प्रति उनकी वितृष्णा पर दुर्योधन द्वारा फैलाई गई सारी माया बहुत कुछ झीनी पड़ गई थी। पर वे अब क्या कर सकते थे! वचन तो दिया जा चुका था। इस बार उन्होंने बड़े सहजभाव से अपनी स्थिति स्पष्ट की और सुभद्रा के विवाह के संबंध में अपने दिए गए वचन की विवशता बताई।

अर्जुन ने बताया कि उसने बड़े नाटकीय ढंग से कहा, ''तब तो मैं लुट गया। पांडवों के प्रति आपके आशीर्वाद और सौहार्द को इस वचन के बहाने लूट लिया गया। इंद्रप्रस्थ की नाव का जो लंगर द्वारका में बँधा था, उसे काट दिया गया।''

''ऐसा कुछ नहीं हुआ।'' तब भैया ने अर्जुन को समझाया—''इससे क्या यह नहीं हो सकता कि इंद्रप्रस्थ, द्वारका व हस्तिनापुर के बीच सौहार्द एवं स्नेह का एक नया संबंध सूत्र बँधे और एक ऐसे वातावरण का निर्माण हो, जिसमें सभी अपना सुखी जीवन बिताएँ।''

''पर मेरे विचार से शकुनि मामा और कर्ण के रहते ऐसा असंभव है।'' अर्जुन ने कहा।

मेरे विचार से कर्ण का नाम मामा के साथ नत्थी करना अर्जुन की प्रतिद्वंद्विता की विवशता थी।

इसके बाद अर्जुन ने भैया से पूछा, ''फिर मेरे लिए क्या आज्ञा है?''

''आज्ञा समझो या अनुरोध।'' भैया बोले, ''मेरे वचन-निर्वाह में तुम अपनी ओर से कोई बाधा उत्पन्न न करना।''

''भरसक आपके आदेश का पालन होगा।''

☐

मध्य रात्रि के कुछ देर बाद ही मैं उठा। मैंने अलिंद से नीचे की ओर देखा। दारुक रथ लिये तैयार था। सब पहले से निश्चित कर लिया गया था। यों तो अर्जुन कभी मेरे यहाँ, कभी पिताजी के यहाँ और कभी नानाजी के यहाँ रात बिता देता था; पर आज अर्जुन अतिथिगृह में ही था। जब मैं उसके यहाँ पहुँचा, वह योजनानुसार तैयार हो रहा था।

मैंने दारुक को सहेजा कि तुम वायु गति से जाओ और अर्जुन को रैवतक पर्वत पाद में छोड़कर सूर्योदय के पूर्व ही चले आओ। सारी योजना अत्यंत गोपनीय रखनी होगी। किसीको कुछ पता न चले। द्वारका के गुप्तचर भी तुम्हारी गतिविधि की गंध तक न पाएँ।

जब दारुक अर्जुन को लेकर चला तब आकाश में अरुंधती पश्चिम की ओर झुकने लगी थीं।

दूसरे दिन अर्जुन के अभाव को द्वारका ने बड़ी गंभीरता से लिया। मध्याह्न होते-होते पूरे नगर में अर्जुन के अदृश्य होने का समाचार महामारी की तरह फैल गया। कल बड़े भैया ने उसे बातचीत के लिए बुलाया था। पता नहीं क्या मंत्रणा हुई कि उसके बाद से वह दिखाई नहीं पड़ा। यह तो अच्छा हुआ कि दारुक ने उसका रथ रथशाला में ऐसे छिपा दिया था कि कोई देख नहीं पाया। मेरे माता-पिता, नाना आदि सभी अचरज में पड़ गए। ऐसा क्या हुआ कि बिना मिले-जुले अचानक अर्जुन यहाँ से चला गया।

पिताजी ने मुझसे पूछा। मैंने अनभिज्ञता जताई। तब उन्होंने कहा, ''हो सकता है, बलराम ने उससे सुभद्रा एवं दुर्योधन के संबंध की चर्चा की हो और वह अप्रसन्न होकर चला गया हो। उसका रथ भी तो नहीं है; पर अतिथिगृह में अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त उसके सारे सामान पाए गए हैं।''

निश्चित ही उसका जाना अप्रत्याशित है। कोई असामान्य बात अवश्य है। सारी द्वारका यही सोचने लगी। इसी विषय में परिवार के कुछ वृद्धों ने भैया से पूछा। भैया ने वैवाहिक संदर्भ में हुई बातों की पुष्टि की और कहा, ''पर यह नहीं लगता कि उन बातों से वह अप्रसन्न हो; वरन् उसने वचन दिया कि आपके इस संकल्प में मैं अपनी ओर से नहीं पड़ूँगा।''

इसका सबसे अधिक प्रभाव सुभद्रा पर पड़ा। उसकी चिंता अचानक बहुत बढ़ गई। पर वह किसीसे कुछ कहने की स्थिति में नहीं थी। ले-देकर एक

सत्यभामा ही डूबते को तिनके का सहारा थी।

संध्या होते-होते सत्यभामा ने कंचुकी को भेजकर मुझे बुलाया। मैं वहाँ पहुँचा तो तूफान छिपाए निष्क्रिय सागर की तरह सुभद्रा पर्यंक पर श्लथ पड़ी थी। उसके पास ही सत्यभामा बैठी थी। मुझे देखकर सुभद्रा भी किसी तरह उठकर बैठ गई।

मुझे देखते ही सत्यभामा बोली, ''सुना है, भैया से पार्थ की कुछ ऐसी बातें हुईं कि उन्होंने द्वारका छोड़ दी?''

''मुझे नहीं मालूम कि क्या बातें हुईं; पर यह सत्य है कि अर्जुन अदृश्य हो गया है।''

''इसका मतलब यह है कि बड़े भैया अपने वचन पर अडिग हैं।'' इस बार सुभद्रा बोली। शायद भैया से हुई बातों की सूचना उसे मिल चुकी थी।

''लगता तो यही है।'' मैंने कहा, ''भैया की प्रकृति ही ऐसी है। वे जो बात पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं हैं।''

''तो क्या मेरा भविष्य उनके वचन का बंदी हो जाएगा?''

''किसीका भविष्य किसीका बंदी नहीं होगा, सुभद्रा!'' मैंने बड़ी ही दृढ़ता से कहा, ''वह बंदी होता है नियति का। नियति ही हमारी सूत्रधात्री है। वही हमें पुत्तलिका की तरह नचाती है।''

''तब अब हमें क्या करना चाहिए?''

''तुम्हें भी अपने वचन पर दृढ़ रहना चाहिए।''

मेरे इतना कहते ही वह चुप हो गई। शायद वह अपने दिए वचन याद करने लगी।

''तुमने मुझे वचन दिया है, जो मैं कहूँगा, उसे तुम करोगी।'' मैंने कहा और उसने मुसकराते हुए स्वीकार किया।

इसके बाद मैं वसंतोत्सव मनाने की अपनी योजना में लग गया। सबसे पहले मैं भैया से मिला। मैंने उन्हें योजना बताई। वे बड़े प्रसन्न हुए। सोम और सुंदरी से संबंधित किसी योजना के लिए हमेशा सहर्ष उनकी स्वीकृति रहती है। उस समय उनके हृदय की विशालता अपनी चरम सीमा पर होती है।

उन्होंने मुझे गंभीरता से सुना और एक गंभीर सवाल पैदा किया—''जब सारा आयोजन हमीं लोगों को करना है तो उसे द्वारका में ही क्यों न किया जाए? रैवतक पर्वत पर करने की क्या आवश्यकता है?''

''मेरा भी यही विचार था।'' मैंने कहा, ''पर बाद में सोचा कि यादवों में

से कुछ ऐसे हैं, जिनका ईर्ष्या-द्वेष उन्हें द्वारका आने से रोकेगा। वे अब भी हमें अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। मुख्यत: उन्हींके लिए तो यह आयोजन है। इससे हमें आपसी कलुष धोने का अवसर मिलेगा। यह मेल-मिलाप का रंग उत्सव होगा। इसका दूरगामी राजनीतिक परिणाम होगा।''

भैया मान गए।

उसी अपराह्न मैंने अमात्य मंडल को बुलाया; क्योंकि उसकी स्वीकृति लेना आवश्यक न होते हुए भी मैंने उचित समझा। वस्तुत: मैं तो इस विचार का हूँ कि हर काम में अमात्य मंडल की स्वीकृति लेनी चाहिए। अमात्य मंडल की स्वीकृति एक तरह से प्रजा की स्वीकृति होती है। इससे प्रजा की भागीदारी बढ़ती है और राजा का दायित्वबोध हलका होने के साथ-साथ मर्यादित होता है।

मैंने अमात्य मंडल में अपनी योजना रखी और उसका महत्त्वाकांक्षी राजनीतिक उद्देश्य बताते हुए कहा, ''हमें एक ऐसा मंच बनाना चाहिए, जिसपर सभी यादव आपसी भेदभाव भूलकर एकत्र हो सकें। आज के आर्यावर्त्त को इसकी बड़ी आवश्यकता है। पूर्व में प्राग्ज्योतिषपुर से लेकर पश्चिम में द्वारका और उत्तर में गांधार तथा क्रैकस से लेकर दक्षिण में चेदि एवं विंध्य की पहाड़ियों तक पूरा आर्यावर्त्त आज अनेक राज्यों में विभाजित है। बहुधा इनके स्वार्थ आपस में टकराते रहते हैं। इन टकराहटों से चिनगारियाँ भी छूटती हैं। हमारा सौभाग्य है कि उनमें से एक भी चिनगारी अभी तक आग नहीं बन पाई है, अन्यथा आर्यावर्त्त के जलने में विलंब न होता।''

मैंने एक-एक राज्य का नाम लेकर उसका भी संकेत दिया—''इनमें से अनेक राज्य यादवों के हैं। बहुधा ये आपस में ही गुर्राते रहते हैं। इस दृष्टि से हमारा यह उत्सव एकजुटता के लिए उठाया हुआ एक पग होगा।''

अमात्य मंडल ने मेरे इस प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की और मेरी इस सूझ में द्वारका के उज्ज्वल भविष्य के चित्र देखे।

मैंने झटपट यादव राजाओं के यहाँ निमंत्रण के लिए विशेष दूत भेजे; क्योंकि समय कम था और हमें अपने शत्रु तथा मित्र सभी को आमंत्रित करना था। मैंने चेदि और मगध तक दूत दौड़ाए। यद्यपि मैं जानता था कि न तो चेदि से शिशुपाल आएगा और न मगध से जरासंध; पर दोनों को मालूम हो जाएगा कि मैं क्या करने जा रहा हूँ।

मैंने अपनी योजना की पूरी रूपरेखा अमात्य मंडल को देकर व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी उसे सौंप दी। इस विषय में महामात्य को समझाते हुए मैंने कहा,

''यह तो आप जानते ही हैं कि मैंने अपने विरोधियों को भी बुलाया है। इसलिए आरंभ से ही इस योजना का विरोध संभव है। इसके लिए भी हमें मानसिक रूप से तैयार रहना होगा।''

''इसका तात्पर्य है कि वहाँ हमारी सेनाएँ भी रहनी चाहिए?''

''सेनाएँ रहनी नहीं चाहिए वरन् आवश्यकता पड़े तो तुरंत पहुँच जानी चाहिए।'' मैंने कहा, ''आपको सेनापति को बुलाकर अच्छी तरह समझा देना चाहिए। हमें केवल सजग रहना चाहिए। हमारी इस सजगता की गंध हमारी प्रजा को भी नहीं लगनी चाहिए। यह बिलकुल सांस्कृतिक उत्सव है; पर जीवन में हर जगह राजनीति घुसी है, वैसे ही इसमें राजनीति घुस सकती है। बस इसी भावना के प्रति हमें सजग रहना चाहिए।''

महामात्य समझ गया। वह मुसकराते हुए बोला, ''लगता है, इस सांस्कृतिक उत्सव की नींव की गहराई में कोई राजनीति है, अन्यथा आप इस तरह से न सोचते।''

मुझे जोर से हँसी आ गई। लगा, हर ओर से स्वयं को ढकने पर भी मैं कहीं से उघड़ जाता हूँ।

पूरा सत्ता तंत्र व्यवस्था में लग गया। भैया ने इस बीच रैवतक की भी यात्रा कर ली। बड़े प्रसन्न थे वे। एकांत में उन्होंने एक समस्या और छेड़ी—''यदि उसी उत्सव में सुभद्रा का विवाह भी कर दिया जाए तो कैसा हो?''

''जैसा आप उचित समझें!'' इसके अतिरिक्त मैं और क्या कहता। फिर भी मैंने टालने की नीयत से कहा, ''यदि उस समय मुहूर्त अनुकूल न रहा तो क्या यह उचित होगा? विवाह का मामला है। आप किसीको भेजकर आचार्य से राय ले लें।''

''अरे भाई, मैं उनसे क्या पूछूँ!'' भैया बोले तो सही, फिर चुप हो सोचते रहे। बाद में पता चला कि मुहूर्त के संबंध में भैया गर्गाचार्य से मिले थे। उन्होंने बताया कि सामान्यत: वसंतोत्सव पर विवाह के लिए मुहूर्त देखने की आवश्यकता नहीं होती। यह तो विवाह का स्थायी मुहूर्त है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सुभद्रा के लिए ग्रह-नक्षत्रों के अनुसार उसके विवाह का उत्तम योग भी बनता है।

अब एक विचित्र स्थिति पैदा हुई। मैं प्रत्यक्ष विवाह टालने का भी प्रस्ताव नहीं कर सकता था। इससे लोगों को मेरी नीयत पर संदेह करने का मौका मिलता।

मैंने एक दूसरा रास्ता निकाला। उनसे पूछा, ''इसके लिए तो मुझे कौरवों को भी आमंत्रित करना पड़ेगा।''

"यह तो है ही।"

"फिर मैं पांडवों को क्यों छोड़ दूँ?" मैंने कहा, "हमारे लिए तो दोनों बराबर हैं। फिर मैंने इस उत्सव में यादवों के अतिरिक्त किसीको बुलाया नहीं है। यदि कौरव और पांडवों को बुलाऊँ तो फिर आर्यावर्त्त के अन्य राजाओं को क्यों छोड़ दूँ? तब तो इस उत्सव का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा।"

भैया चुप हो गए। उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, "तो इस समय इस संदर्भ को छोड़ो।"

□

उत्सव की योजना का व्यापक स्वागत हुआ। जैसाकि मैं पहले से जानता था, चेदि और मगध राज्यों को छोड़कर अधिकांश यादवों के आने की सूचना मिली। मेरे नए श्वसुर सत्राजित् भी मौन ही रह गए।

जब सत्यभामा के कहने पर मैंने दूत को भेजकर पुनः आग्रह किया तो उन्होंने अपना मौन तोड़ते हुए कहा, 'जिसके भाई को सिंह चबा गया हो, जिसकी स्मृति में अब भी उसका खून बह रहा हो, उसे क्या मदनोत्सव में उपस्थित होना उचित होगा?'

सत्यभामा चुप रह गई।

धीरे-धीरे चार दिन और बीत गए। अब मैंने छंदक को बुलाया; क्योंकि मेरी राजनीति के रथ का सारथि वही था। दिशा और मार्ग मैं निश्चित करता था; पर मेरे रथ का अभीषु वही थामता था।

मैंने उसे अपनी सारी योजना बताई। मैंने कहा, "तुम्हें बस इतना देखना है कि सुभद्रा को ले जाने में कहीं अर्जुन का संकोच बाधक न बने।"

छंदक चिंता में पड़ गया। बोला, "आप जितना आसान समझते हैं, यह कार्य उतना आसान नहीं है।"

"आसान होता तो मैं तुम्हें क्यों सौंपता? मेरे पास और बहुत से लोग थे।" मैंने कहा, "फिर पकी-पकाई खिचड़ी दे रहा हूँ।"

"तो क्या खाने के लिए?"

"नहीं, परोसने के लिए।" मैं हँसा और मेरे साथ वह भी।

उसी रात मैं सत्यभामा के कक्ष में गया। सोचा था, सुभद्रा से वहीं भेंट हो जाएगी; पर संयोग ही ऐसा था कि मेरे वहाँ पहुँचने के पहले ही वह वहाँ से चली गई थी।

मेरे पहुँचते ही सत्यभामा हमेशा की तरह खिल उठी। पर मेरी सकपकाई

आँखें देखकर उसने समझ लिया कि मैं किसीकी खोज में हूँ।

उसने कहा भी—"लगता है, आप किसीकी तलाश में हैं!"

"हाँ, सुभद्रा को खोज रहा हूँ।"

वह परिहास करते हुए बोली, "तो क्या वह अदृश्य हो गई है?"

"अदृश्य तो नहीं होना चाहिए।" मैंने हँसते हुए कहा, "पर वह तुम्हारे यहाँ सहज में ही दृश्य हो जाती थी, इसीलिए चला आया।"

"तो आप इस समय मेरे लिए नहीं, सुभद्रा के लिए आए हैं।"

"सत्य तो यही है।"

"तो क्या आज रात···" इतना कहते-कहते वह शरारतपूर्ण ढंग से मेरे गले में हाथ डालते हुए झूल-सी गई।

जब हँसी थमी तब मैंने कहा, "इस समय मैं सुभद्रा को तैयार करने आया था। उसे उसका कार्यक्रम बताने आया था, जिसे मैंने अभी तक उसे बताया नहीं था।"

"तो मैं उसे अभी बुलाती हूँ।" सत्यभामा बोली।

"मैं उससे मिलने आया था, बुलाकर मिलने नहीं।" मैंने कहा, "बुलाकर मिलने में वह सजग हो जाएगी। आगे-पीछे सोचने लगेगी। द्विविधा का जन्म होगा—और द्विविधा असफलता का पहला सोपान है। फिर उसे जो बुलाने जाएगा, जो उसे जाते हुए देखेगा, उसकी उत्सुकता जागेगी—और उस उत्सुकता की छाया होगी जिज्ञासा; जो हमारी गोपनीयता के लिए खतरा बन सकती है।"

सत्यभामा एकटक मेरी ओर देखती रही। फिर बोली, "ऐसा लगता है जैसे आप किसी षड्यंत्र की योजना बना रहे हों।"

"षड्यंत्र की!···एक दृष्टि से ठीक भी कहती हो।" मैंने कहा, "षड्यंत्र और कूटनीति गोपनीयता के प्रकोष्ठ में ही पलते हैं। अंतर बस इतना ही है कि षड्यंत्र दूसरों के विनाश के लिए होता है और कूटनीति अपनी राजनीति के लाभ के लिए। दोनों में दृष्टिभेद भी है और गुणात्मक अंतर भी। तुम अपनी दृष्टि से कह रही हो; पर मेरी दृष्टि वह नहीं है।"

मैं बातों को अत्यधिक उलझाना नहीं चाहता था। सीधे-सीधे निष्कर्ष पर आते हुए मैंने सत्यभामा से कहा, "सुभद्रा संध्या समय तुम्हारे यहाँ तो आती ही है।"

"हाँ, आती तो है।"

"तब कल संध्या तुम उसे बातों में उलझाए रखना—जब तक कि मैं आ न

जाऊँ।'' इतना कहते ही मैं वहाँ से चलने को हुआ।

सत्यभामा ने रोका। उसकी इच्छा थी कि मैं थोड़ा समय उसके यहाँ भी दिया करूँ। आज रात उसके यहाँ ही रह जाऊँ, यह खुलकर वह कह नहीं पाई; पर इतना अवश्य कहा—''लगता है, आपके जीवन में जो कुछ है, वह राजनीति ही है।''

''यह तुम कैसे कह सकती हो? मेरे जीवन में गीत भी है, संगीत भी है; वंशी भी है, मादल भी; राजभवन भी है और करील की कुंजें भी; राजपथ भी है और जंगल की पगडंडी भी; व्रज की गोपिकाएँ भी हैं और तुम्हारी जैसी राजमहिषी भी; राग भी है, विराग भी है; राजनीति भी है और जीवन गीत भी। मैं जीवन को उसकी समग्रता में जीता हूँ।''

''पर दिखाई तो राजनीति ही देती है।''

''केवल इसलिए कि जो वस्तु सतह पर होती है, केवल वही दिखाई देती है।'' मैंने कहा, ''आज आर्यावर्त्त के जीवन जल पर राजनीति तैलबिंदु की तरह पसर गई है। इसीलिए सब जगह वही दिखाई देती है। वस्तुतः ऐसा है नहीं। राजनीति जीवन के लिए है, जीवन राजनीति के लिए नहीं।''

सत्यभामा कुछ बोली नहीं। मेरी गरदन में दोनों हाथ डाले झूमती हुई एकटक मेरी आँखों में उस राग को ढूँढ़ रही थी, जिसके होने का दावा मैंने अभी किया था।

थोड़ी देर बाद मैं वहाँ से यह कहते हुए चला कि कल तो फिर आ रहा हूँ।

□

दूसरे दिन जब मैं पहुँचा तो सत्यभामा मेरी प्रतीक्षा कर ही रही थी। सुभद्रा मुझे देखकर प्रसन्न हुई। उसने मुझे देखते ही कहा, ''मुझे भी आपसे बहुत सी बातें करनी हैं।'' इतना कहते ही वह एकदम खुल गई—''सुना है कि मेरे विवाह का मुहूर्त निकाला जा चुका है?''

''सुना तो मैंने भी है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''आपने सुना है या उसे निकलवाया भी है?''

''मैं तो मुहूर्त की बात छेड़कर तुम्हारे विवाह को टालना चाहता था; क्योंकि मेरी रुचि आनंदपूर्वक मदनोत्सव मनाने की थी; पर ऐसा नहीं हो सका। भैया ने जब गर्गाचार्य से मुहूर्त के संबंध में बातें कीं, तब आचार्यजी ने कहा कि वसंत पंचमी से बढ़कर तुम्हारे विवाह का और दूसरा मुहूर्त हो ही नहीं सकता।''

''तब भैया ने क्या कहा?''

''वे तो चाहते हैं कि तुम्हारा विवाह हो जाए।'' मैंने एकदम मुद्रा बदली—

"अच्छा होता कि हम लोग एकांत में बातें करते।"

इसके बाद सत्यभामा ने इस समय उपस्थित एकमात्र परिचारिका सुखदा को भी हटा दिया। यों मेरे आते ही अन्य परिचारिकाएँ यों ही हट जाती हैं।

उसके हटते ही मैंने कहा, "तो तुम क्यों नहीं विवाह कर लेतीं? आखिर एक-न-एक दिन तो तुम्हें विवाह करना ही है।"

"तुम भी ऐसा कहने लगे, भैया!" वह बड़ी निराश हुई।

"आखिर तुम चाहती क्या हो?" मैंने पूछा।

अब उसने बड़ी स्पष्टता से कहा, "मैं दुर्योधन से विवाह करना नहीं चाहती।"

"तो किसी और से विवाह करो। बोलो, तैयार हो?" मैंने कहा, "यदि तुमने उक्त तिथि पर विवाह नहीं किया, तब तो दुर्योधन ही तुम्हारे भाग्य में लिखा रह जाएगा।"

"यदि ऐसा है तो मैं विवाह करूँगी; पर किससे?"

"एक यति से।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"आप भी इतनी गंभीर मंत्रणा में परिहास करते हैं!" सत्यभामा कुछ चिढ़ते हुए बोली, "कहीं यति से भी विवाह हो सकता है!"

"पर इसका विवाह यति से ही होगा।" मैंने हँसते हुए कहा, "मुझ जैसे ज्योतिषी का कहना है।"

"आपकी हँसी में बड़ी कुटिलता दिखाई देती है।" सुभद्रा बोली, "अवश्य ही इसमें कोई रहस्य है।"

"रहस्य तो है ही; पर इसका उद्घाटन मैं अभी नहीं करूँगा।" मैंने कहा, "पहले यह बताओ, रथ चलाना तुम्हें आता है या नहीं?"

वह सोचने लगी। मैंने उसे याद दिलाया—"बचपन में तो मैंने ही तुम्हें सिखाया था। उस समय तुमने अभ्यास भी किया था।"

"बस उसी अभ्यास तक तो मेरा ज्ञान सीमित है।" उसने बताया—"उसके बाद तो मैंने शायद ही कभी अभीषु पकड़ा हो।"

"पर अब तुम्हें पकड़ना पड़ेगा।" मैंने कहा, "पर घबराना मत। यदि घबराओगी नहीं तो जैसा मैं चाहता हूँ वैसा तुम कर ले जाओगी। उस उत्सव के दिन मेरा सारथि दारुक तुम्हें रैवतक पर्वत पाद तक ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व ही एक रथ पर यहाँ से चुपचाप ले जाएगा—अत्यंत गोपनीय ढंग से। तुम युद्धक मुद्रा और वेश में रहोगी। हो सकता है, तुम्हें युद्ध भी करना पड़े। मार्ग में मेरा सारथि तुम्हें रथ की

विशेषताओं से भी अवगत कराएगा। फिर वह तुम्हें पर्वत पाद में अकेला छोड़ देगा। वहाँ से तुम्हें नवीन स्फूर्ति और उत्साह के साथ स्वयं रथ हाँककर सोमशिव के मंदिर तक जाना होगा।''

वह सोचने लगी। फिर बोली, ''मुझे रथ भी चलाना पड़ेगा, युद्ध भी करना पड़ेगा। आखिर मैं क्या-क्या करूँगी?''

''तो तुम क्या समझती हो! भैया के संकल्प के विरुद्ध खड़ा होना कोई हँसी-ठट्‌ठा तो है नहीं!''

''सब यदि यही कर लेगी तो आप क्या करेंगे?'' सत्यभामा सुभद्रा का पक्ष लेते हुए बोली।

''मुझे जो करना है, वह तो कर ही रहा हूँ।'' मैंने कहा, ''तुम उस पक्षी की मानसिकता में आओ, जो किसी प्रकार अपना पिंजड़ा तोड़कर उड़ जाना चाहता है।''

सुभद्रा की आकृति पर आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनने लगीं।

मैंने पूछा, ''क्या सोचने लगीं?''

''मैं सोचती हूँ कि आपने तो मुझे मेरा मनोवांछित वर दिलाने का वचन दिया था।''

''वह तो दिया ही है, मैं उससे कहाँ पीछे हटता हूँ!'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''होगा वही, जो तुम चाहती हो।''

वह मेरी मुसकराहट के रहस्य में डूबती चली गई।

□

आज रात में कई बार मेरी नींद टूटी। इसपर रुक्मिणी ने परिहास भी किया—''लगता है, मदनोत्सव की मादकता अभी से झकझोर रही है।''

''सो तो है ही। सारी व्यवस्था मुझे ही करनी है।'' मैंने कहा।

''क्यों, अमात्य मंडल कुछ नहीं कर रहा है?''

''उसे जो कुछ करना है, वह तो कर ही रहा होगा।'' मैंने कहा, ''पर कुछ ऐसा भी है, जिसे मेरे सिवाय और कोई नहीं कर सकता।''

इससे अधिक मैं कुछ और कहने की स्थिति में नहीं था। इसलिए चुपचाप उठकर मैं बाहर अलिंद में आ गया। सिंधु की ओर से आती मंद वासंती बयार ने मेरा स्वागत किया। थोड़ी देर बाद ही मेरी दृष्टि दूर राजपथ पर गई। मैंने देखा, अर्जुन के रथ में सुभद्रा युद्धक वेश में चली जा रही है। रथ दारुक के नियंत्रण में हवा से बातें कर रहा है। मन ने कहा, 'योजना का श्रीगणेश तो हो गया।'

फिर मैं नवीन स्फूर्ति एवं उत्साह के साथ भीतर आया और उसी मानसिकता में रुक्मिणी को दोनों हाथों से पलंग पर झकझोरते हुए कहा, ''उठो, जल्दी तैयार हो जाओ।''

''क्यों, आप तो कल कह रहे थे कि जलपान आदि से निवृत्त होकर कल पूर्वाह्न में चलेंगे।'' वह बोली।

मैंने हँसते हुए कहा, ''कल की बात कल खत्म हो गई। आज दूसरा दिन है, दूसरी बात है, जल्दी करो।''

वह मेरी मुसकराहट को अच्छी तरह जानती थी। वह समझ गई, कोई विशेष बात अवश्य है।

उसने पूछा, ''प्रद्युम्न को भी तैयार करूँ?''

''नहीं, इसे राजभवन में ही रहने दो।''

''अरे, इसे भी ले चलिए। यह भी तमाशा देखेगा।''

''पर मदनोत्सव में चलने की इसकी अवस्था नहीं है।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''कल रात से ही यादव वहाँ इकट्ठे होने शुरू हो गए थे।'' फिर राजपथ पर सामने से गुजरते कई रथों की घड़घड़ाहट एक साथ ही सुनाई देने लगी। ''लगता है, अतिथिभवन में टिके लोग भी जा रहे हैं। यदि घड़ी भर में यहाँ से निकल पड़ेंगे तो सूर्योदय के घड़ी भर के भीतर ही पहुँच जाएँगे। शीघ्रता करो।''

उसी समय एक परिचारिका मित्रविंदा के यहाँ भी भेजी गई और मैं स्वयं सत्यभामा तथा जांबवती को लेने पहुँचा।

जांबवती के यहाँ देर लगना स्वाभाविक था। भिन्न संस्कृति में पली होने के कारण उसका हर बात में जिज्ञासु होना स्वाभाविक था। यह मदनोत्सव क्या है? क्यों मनाते हैं? इसी मौसम में मनाते हैं कि कभी भी मनाया जा सकता है? आदि-आदि। सबका उत्तर देता, संतुष्ट करता, मैं उसे लेकर सत्यभामा के भवन की ओर बढ़ा। मार्ग में भी उसके प्रश्नों का सिलसिला खत्म नहीं हुआ।

समय अपनी गति से बढ़ता जा रहा था। फिर भी मुझे संतोष था कि छंदक तो रात को ही पहुँच गया होगा। वह यति महाराज को सारी योजना बताकर तैयार कर चुका होगा।

सत्यभामा मेरी प्रतीक्षा ही कर रही थी। वह मेरे पहुँचते ही मुसकराते हुए मेरे साथ हो ली। मार्ग में उसने संकेत किया कि वह ठीक समय से चली गई।

''सत्यभामा बहंन किसके जाने के बारे में कह रही हैं?'' जांबवती की जिज्ञासा ने एक धमाका और किया।

"यह तो वहाँ पर चलने पर मालूम हो जाएगा।" और मैंने अपनी गति और बढ़ा दी। वे दोनों पीछे हो गईं।

राजभवन से बाहर आकर मैंने सत्यभामा और जांबवती को एक रथ पर बैठाया। दूसरे रथ पर रुक्मिणी और मित्रविंदा को लेकर बढ़ा। इस दूसरे रथ का सारथि मैं स्वयं था। जैसा हमें अनुमान था, लगभग घड़ी भर दिन चढ़ने के बाद हम रैवतक के पर्वत पाद में पहुँच चुके थे। उत्सव में जानेवालों का ताँता यहीं से लगा था। अपनी परंपरागत रंग-बिरंगी वेशभूषा में झुंड-के-झुंड लोग दिखाई पड़ रहे थे। इनमें केवल यादव ही नहीं थे वरन् वे आदिवासी एवं भृत्य भी थे, जिनका जीवन और जीविका यादवों से बद्धमूल थी।

मुझे कुछ समय तक वहाँ रुकना था। पूर्व योजनानुसार यहाँ मुझे छंदक से मिलना था। इसलिए उसकी प्रतीक्षा तो करनी ही थी। अतएव मुख्य पगडंडी के निकट ही एक वट वृक्ष के नीचे मैंने अंपने रथ रुकवाए और छंदक की प्रतीक्षा में उधर से गुजरनेवाले लोगों को देखता रहा। उनमें से जो मुझे पहचानते थे, उनके अभिवादनों का उत्तर भी मैं देता रहा।

जब कुछ और विलंब हुआ तब मेरी घबराहट बढ़ी। आखिर छंदक आया क्यों नहीं? क्योंकि मेरी इस योजना में प्रत्येक क्षण का महत्त्व था, उसकी भूमिका थी। एक बार तो विचार आया कि क्यों नहीं मैं सीधे रंगस्थल पर ही चला चलूँ। यदि छंदक को आना होता तो वह आ गया होता।

मैंने साथ आए सत्यभामा के सारथि से कहा कि तुम आगे बढ़ो। उसे यह भी समझाया कि यह रास्ता सीधे रंगस्थल की ओर जाता है। तुम बेखटके वहाँ तक बढ़ो। मैं आता हूँ।

वह थोड़ा सा आगे बढ़ा ही होगा कि छंदक आ गया। मैंने उसे किनारे ले जाकर सारी स्थिति की जानकारी ली। मैंने पूछा, "भैया आ गए हैं?"

उसने हँसते हुए बताया—"हाँ, वे रेवती के साथ आ गए हैं। बड़ी प्रसन्न मुद्रा में हैं। इस बीच वे नर्तकों की मंडली की ओर गए थे। उन्हींने तो मुझे रोक लिया था। इसीलिए विलंब हुआ।"

"वे कुछ और कह रहे थे?"

"आपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे।" उसने बताया—"वे कह रहे थे कि कन्हैया कभी-कभी ही तो राग-रंग का आयोजन करता है, अन्यथा तनाव में ही तो जीता है और हम लोगों को भी वही जीवन जीने के लिए विवश कर देता है।"

"और यति महाराज का क्या हाल है?"

छंदक के मुख से एक बार फिर हँसी फूटी। वह बोला, ''वे अर्द्ध नेत्र बंद किए ध्यानावस्थित चांद्रायण व्रत पर बैठे हैं। अधिकांशतः मौन ही रहते हैं। दर्शनार्थियों के अभिवादन का उत्तर उनकी मुसकान भरी मुद्रा ही देती है। पहले से तो आपको कृशकाय भी लगेंगे।''

''आखिर उसने माना नहीं, व्रत का नाटक न करके व्रत ही आरंभ कर दिया।'' मेरे मुख से निकला—''अभिनय यथार्थ हो गया।''

''या उन्होंने यथार्थ से अभिनय को कृतार्थ कर दिया।'' छंदक की यह प्रत्युत्पन्नमतिता प्रभावित कर गई। मैं हँसकर ही रह गया; क्योंकि मुझे सारी स्थिति कुछ ही क्षणों में जाननी थी।

''और सुभद्रा का क्या हाल है?''

''वह युद्धक वेश में अपनी योजनानुसार एकदम तैयार है। मैंने उसे मंदिर के पीछे ही रखा है।''

''और दारुक कहाँ है? वह भैया की दृष्टि में पड़ा तो नहीं?''

''भैया क्या, अभी तक तो वह किसीकी भी दृष्टि में पड़ा नहीं है।''

मुझे बड़ा संतोष हुआ कि सारी स्थितियाँ अनुकूल हैं। हम छंदक के साथ ही आगे बढ़े। मैंने छंदक से मार्ग में ही कहा, ''हम लोग सीधे भैया के पास चलेंगे और दिन भर उन्हींके पास रहेंगे। वरन् यह समझो कि आनंद और प्रमोद के वातावरण में उन्हें घेरे रहेंगे।''

''इस समय तो वे यों ही घिरे हैं।''

''किससे?''

''यादव राजाओं और राजकुमारों से।''

''सचमुच बहुत से लोग उपस्थित हो गए हैं क्या?''

''हाँ, कुछ को छोड़कर बहुत से यादव प्रमुख पधार चुके हैं। कुछ और आ चुके होंगे।'' छंदक ने बताया—''जब मैं चला था तब तक अक्रूर, सत्यक, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्णा, पृथु, विपृथु, सात्यकि, कृतवर्मा, उद्धव आदि आ चुके थे। सभी सपत्नीक पधारे हैं।''

''तब तो सचमुच उत्सव का नाटक एक यथार्थ उत्सव में परिवर्तित हो गया।'' मैंने हँसते हुए कहा।

रथ में बैठी रुक्मिणी मुझे तुरंत टोक बैठी—''तो आपने उत्सव नहीं, उत्सव का नाटक किया है!''

अब मैं क्या कहूँ। मैंने बात बदलने के लिए अपने कथन को दार्शनिकता

का जामा पहनाया—"मैं कभी-कभी अपने कर्मों को नाटक की ही संज्ञा देता हूँ; क्योंकि मैं भूल नहीं पाता हूँ कि यह विश्व भी एक रंगस्थल है और हम सब उसके पात्र हैं। हम अपनी-अपनी भूमिका कर रहे हैं। जहाँ भूमिका खत्म होगी, हम नेपथ्य में चले जाएँगे।"

यह बात मैंने बड़े सहज ढंग से कही थी; पर इसका प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि रुक्मिणी व मित्रविंदा दोनों बड़ी गंभीर हो गईं और छंदक भी अनुमति ले आगे बढ़ा।

घड़ी भर में ही हम रंगस्थल पर पहुँच चुके थे। हम सीधे भैया से मिले। वे बड़े प्रसन्न दिखे। शायद यह उत्सव उनकी मानसिकता के बहुत निकट था।

देखते ही भैया ने मुझे वक्ष से लगा लिया और गद्‍गद हो बोले, "वर्ष में दो-चार बार तो हमें ऐसे उत्सव करने ही चाहिए। तनावग्रस्त जीवन को इससे बड़ी शांति मिलती है।"

मैं केवल मुसकराता रहा। मन तो कह रहा था—'आपको जो शांति मिलने वाली है, उसे मैं समझ रहा हूँ।' फिर मेरा मन अपनी योजना में उलझ गया। तीन दिनों तक चलनेवाला यह उत्सव आज मध्य रात्रि तक अपनी मादकता के शिखर पर पहुँचेगा। उसी समय मैंने अपने विस्फोटक कार्यक्रम की योजना बनाई थी। छंदक को समझाया था कि ठीक उस समय, जब उत्सव की मादकता में लोग झूम रहे हों, सुभद्रा को अपने रथ में यति रूपी अर्जुन को बैठाकर रंगस्थल के चारों ओर घुमाना चाहिए और फिर सीधे इंद्रप्रस्थ की ओर भाग चलना चाहिए।

पर यहाँ की स्थिति इस कार्यक्रम के अनुकूल न लगी। मन ने कहा, 'मध्य रात्रि को इस तरह सुभद्रा और यति का यहाँ से जाना चोरों की तरह जाना होगा। लोग तुरंत हमारी नीयत पर संदेह करेंगे। लोग कहेंगे कि जब हम मैरेय की मादकता में तैर रहे थे, राग-रंग में डूबे थे, तभी अर्जुन ने द्वारका की प्रतिष्ठा का हरण किया—और तब भैया के क्रोध को सँभालना बड़ा कठिन होगा।'

अतएव मेरे मन ने उसी समय कार्यक्रम बदला। पर मैं तुरंत कुछ करने की स्थिति में नहीं था। मेरे पास छंदक के सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था, जो मेरी योजना का भागीदार बन सकता। इस समय किसीसे उसे बुलाना भी हाँड़ी के भीतर उबल रहे की ओर अँगुली उठाकर औरों को संकेत करना था। फिर क्या किया जाए?

कुछ समय तक मैं मौन हो सोचता रहा। भैया ने मुझे अत्यंत गंभीर देखा। तुरंत बोल पड़े—"क्या बात है? इतने गंभीर क्यों हो?"

"कोई बात नहीं है।" मैंने कहा, "सुना है, इसी पहाड़ी पर, यहाँ से थोड़ी दूरी पर सोमशिव के मंदिर में एक यति चांद्रायण व्रत कर रहे हैं। सोचता हूँ, उनका दर्शन करता आऊँ। फिर शायद समय न मिले।"

"यदि ऐसा है तो रुको, मैं भी चलता हूँ।" भैया बोले।

"तब आप ही हो आइए, मैं बाद में हो आऊँगा।" मैंने कहा, "क्योंकि हम दोनों यदि साथ चलेंगे तो यहाँ आनेवालों की आवभगत कौन करेगा? हममें से एक को तो यहाँ रहना ही चाहिए।"

"तब तुम्हीं होते आओ।" भैया बोले।

मैं उनकी प्रकृति जानता था। किसी अवसर पर जहाँ आप उन्हें आगे करने की चेष्टा कीजिए, उनकी सहजता उन्हें थाम लेती थी।

अब मुझे अवसर मिला। मैंने कुछ पुष्प तथा नैवेद्य लिये और चल पड़ा। मंदिर के चारों ओर अच्छी-खासी भीड़ थी। मैं तीर की तरह भीड़ को चीरता हुआ सीधे यति महाराज के पास पहुँच गया। अर्जुन मुझे देखते ही सकपकाया। मेरे पैर छूते ही उसने पैर हटाने की चेष्टा की। 'चुपचाप जैसे बैठे हो, बैठे रहो।' मैंने भाषा से कम और संकेतों से अधिक काम लिया।

"तुम्हें अपना कार्यक्रम मालूम है?" मैंने पूछा।

उसने आँखों से 'हाँ' कहा।

"पर अब उसमें परिवर्तन हो गया है।" मैंने कहा, "इस परिवर्तन की सूचना तुम्हें छंदक देगा। मैं सारा निर्देश उसे दूँगा। तुम उसके एक-एक निर्देश का पालन करना।"

उसने सिर हिलाकर स्वीकार किया। तब तक छंदक मुझे वहीं दिखाई दिया। मैंने एकांत में उसे ले जाकर जल्दी-जल्दी में सारी परिवर्तित योजना बताई। मैंने कहा, "अब अर्जुन को सूर्य के प्रकाश में सबके सामने प्रयाण करना पड़ेगा। इस भीड़ में और द्वारका के इतने सैनिकों के सामने अब सुभद्रा द्वारा रथ का संचालन संभव नहीं है। अब तो अर्जुन को ही अभीषु पकड़ना पड़ेगा। रथ भी उसीका है। उसे रंगस्थल के चारों ओर विद्युत् गति से दौड़ाते हुए उड़ा ले जाना अर्जुन जैसे पराक्रमी व्यक्ति के लिए कोई बड़ी बात नहीं है।" मैंने छंदक को स्पष्ट निर्देश दिया—"तुम अर्जुन को इस सबके लिए यथाशीघ्र तैयार करो।"

भीड़ और बढ़ने लगी थी। आदिवासी और नटों का समूह अभी से मैरेय में झूमने लगा था। वे तरह-तरह के आयुधों, वाद्य यंत्रों और करतब दिखाने की सामग्री से युक्त थे।

मैं सीधे भैया के पास पहुँचा।

मुझे देखते ही वे बोल पड़े—''कर आए यति का दर्शन?''

''भीड़ अत्यधिक थी।'' मैंने कहा, ''दूर से ही प्रणाम कर चला आया।'' फिर मैंने अप्रत्याशित रूप से अपनी मुद्रा गंभीर बनाई।

''क्या सोचने लगे?'' भैया ने पूछा।

''मुझे तो यति की आकृति कुछ जानी-पहचानी-सी लगती है।'' मैंने कहा, ''हो सकता है, दूर से देखने में मुझे कुछ भ्रम हुआ हो। मुझे तो कुछ रहस्यमय दिखाई देता है।''

''यदि रहस्यमय दिखाई देता है तो क्या कर लेगा वह यति?'' भैया अपनी मौज में बोले।

मैं चुप रह गया।

बाहर से मैं भी उस आनंदमय माहौल का भागीदार था; पर भीतर से सबकुछ सकुशल बीत जाने की चिंता करता रहा।

अपराह्न का सूर्य पश्चिम की ओर ढुलकने लगा था। हम लोग आदिवासियों के नृत्य और गान में तन्मय थे। तब तक अचानक दक्षिण की ओर जोर का कोलाहल हुआ। वह विद्युत् गति से दक्षिण, फिर पश्चिम और उत्तर की ओर होता हुआ पूर्व की ओर बढ़ गया। जैसे भूचाल-सा आ गया। शायद ही कोई समझ पाया हो कि क्या हो रहा है।

सैनिक दौड़े हुए आए। उन्होंने बड़ी घबराहट के साथ सूचना दी कि यति ने सुभद्रा का हरण कर लिया है। एक अनहोनी हो गई। एकदम हाहाकार मच गया—जैसे जंगल में आग भड़क उठे, जैसे कोई ज्वालामुखी फूटे, जैसे चंद्रमा अचानक फूटकर टूटे। सँभालना कठिन हो गया। भैया तो ऐसे आवेश में आ गए कि उन्होंने यति को चारों ओर से घेर लेने का सेना को आदेश भी दे दिया।

पर तुरंत ही एक दूसरी लहर आई—''अरे, वह यति के रूप में अर्जुन है।''

मैरेय में डूबे भैया का क्रोध और भभक उठा। उन्होंने मुझसे गरजते हुए कहा, ''देखा तुमने अर्जुन को, उसने कितना बड़ा धोखा किया!''

पर अब वह घेरे से बाहर हो चुका था। अर्जुन का रथ। अर्जुन एवं सुभद्रा रथी और अर्जुन ही सारथि। वह पकड़ में आनेवाला कहाँ था। अब भैया स्वयं रथ पर सवार हुए। उन्हें रोकना जरूरी था। वे मैरेय में लड़खड़ा रहे थे।

मैंने कहा, ''आपकी स्थिति रथ पर सवार होने की नहीं है। आपसे तो अच्छी स्थिति में मैं ही हूँ।''

"तो तुम्हीं क्यों नहीं उस नीच, कुलघाती को पकड़ते!"

"किसको पकड़ूँ? अपनी बहन को पकड़ूँ? अपने फुफेरे भाई को पकड़ूँ? इतने यादव राजाओं के बीच स्वयं को ही नंगा करूँ? जरा शांत हो सोचिए, यह समय जलती अग्नि को समिधा देने का नहीं है वरन् नग्नता पर वस्त्र डालने का है।"

भैया चुप हो मेरा मुख देखते रह गए; पर उनके सामने धरती चकराती रही, आकाश फटता रहा और वे मौन खड़े अपना क्रोध पीते रहे।

□

पाँच
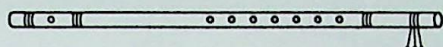
राख में दबने के बाद भी आग जल्दी नहीं बुझती। मैंने बहुत कोशिश की, पर अपयश की यह आँधी नहीं रुकी। मुझे कलंक का टीका लग ही गया। द्वारका में भी खुलेआम चर्चा होने लगी कि मदनोत्सव के नेपथ्य में सारा षड्यंत्र मैंने ही रचा था। यों मेरे बड़े-वृद्ध इस घटना से मन-ही-मन प्रसन्न थे। इसलिए हर व्यक्ति ने आग पर मिट्टी डालने की चेष्टा की और जो हुआ, उसे भूल जाने की नीति अपनाई; पर आलोचना का पात्र तो मैं था ही। लोगों का सोचना था कि बलराम का हठ और कन्हैया की युक्ति का यह छिपा संघर्ष ठीक नहीं था। इसका परिणाम द्वारका के हित में नहीं होगा।

बहुत दिनों तक भैया गाल फुलाए रहे। मैं भी बड़ी सावधानीपूर्वक दुर्दिन के दिन काटने लगा। हम दोनों भाइयों में इतनी दूरी कभी नहीं हुई थी। भैया ने भी अपने कई मित्रों से कहा था कि कन्हैया से मैंने कभी कुछ छिपाया नहीं। न कभी दुराव रखा, न छिपाव, वरन् छोटा होते हुए भी मैंने उसे बड़े जैसा मान दिया। यहाँ तक कि द्वारका की सत्ता भी सौंप दी। मैं स्वप्न में भी नहीं सोचता था कि वह मेरे विरुद्ध ऐसी चाल चलेगा। फिर शत्रु और मित्र में अंतर क्या? फिर मैं मित्र नहीं, उसका भाई हूँ।

भरनेवालों ने भी मेरे विरुद्ध उन्हें भरा। कई बार तो उन्होंने मेरे कहे वाक्य का ही हवाला दिया—''वस्तुत: आग का काम है जलना और जलाना। जब आग दूसरों को जला नहीं पाती तो स्वयं को ही जलाकर राख कर देती है। वैसे ही राजनीति भी कन्हैया के जीवन का अंग हो गई है। जब उसे दूसरे लोग राजनीति करने को नहीं मिलते, तब वह घर के ही लोगों से राजनीति शुरू कर देता है।''

इस प्रकार भैया से मैं काफी दूर हो गया; पर बड़ों की मेरे प्रति सहानुभूति थी। फिर भी मुझे अच्छा नहीं लगता था। एक बार तो मेरे मन में आया कि क्या

ही अच्छा होता, मैं कुछ दिनों के लिए द्वारका छोड़ देता। यह बात एक दिन मैंने चुपचाप नानाजी से कही। इस संदर्भ में मैंने अपनी भूमिका की उनसे विस्तृत चर्चा की। मैंने अपनी लाचारी बताई—"क्या करता! मुझसे सुभद्रा के आँसू देखे नहीं गए।"

"उन आँसुओं में केवल भावुकता ही नहीं थी।" अब नानाजी खुले—"उनमें अपने भविष्य के प्रति सजगता भी थी; क्योंकि कोई भी नारी अपने जीवन साथी के रूप में दुर्योधन जैसे दुर्विनीत व्यक्ति को चुन नहीं सकती। मेरे विचार से तो उसने उचित ही किया।"

मुझे ऐसा भी आभास लगा कि पिताजी भी बलराम भैया से अधिक प्रसन्न नहीं थे। उनको इस बात का दु:ख था कि मेरी बेटी के संबंध में इतना गंभीर निर्णय लेते समय मुझे भी विश्वास में लिया नहीं गया। और तो और, उसने किसीसे भी इसकी चर्चा नहीं की।

पिताजी ने मुझे बताया था—"देवकी ने जब इसे सुना तो उसकी छाती पर साँप लोट गया। तुम तो थे नहीं। हम लोग तुम्हारी चिंता में परेशान थे। इसीलिए, अप्रिय होते हुए भी हमने बलराम के निर्णय का विरोध नहीं किया।"

मुझे कुछ ढाढ़स हुआ। मुझे लगा कि मैं अकेला नहीं हूँ। रेत में सोई नदी की तरह बालू की परत हटाते ही मुझे सहानुभूति का जल मिल जाएगा।

इसी बीच एक घटना और हुई।

पुष्कर से चेकितान का पत्र लेकर एक दूत आया। ऊपर से तो पत्र चेकितान का प्रतीत होता था। इसीसे मैंने उसे खोल लिया। भीतर भैया के नाम सुभद्रा का पत्र था। उसमें बड़े विस्तार के साथ उसने अपना हृदय खोलकर रख दिया था।

पहले तो मैंने सोचा कि दूत को ही भैया के पास भेज दूँ; फिर विचार आया कि पत्र तो मैंने खोल लिया है, अब उसे देखते ही भैया आगबबूला हो जाएँगे। खुला पत्र दूत को देना भी उचित नहीं था। अतएव मैंने उसके साथ भैया से मिलना ही ठीक समझा।

और अधिक आगा-पीछा सोचना भी उचित नहीं लगा। व्यर्थ में विलंब होता, बातें खुलतीं और एक नया वितंडा खड़ा होता। अतएव बिना किसी सूचना के मैं दूत के साथ मध्याह्न के कुछ बाद, जब भैया सोकर उठते हैं, वहाँ पहुँचा।

रेवती भाभी ने मुसकराते हुए मेरा स्वागत किया और चुपचाप भीतर चली गईं। बाद में पता चला कि भाभी से उन्होंने पूछा था कि आज कन्हैया क्यों आया।

भाभी ने अनभिज्ञता जताई। एक बार तो भैया ने कहला देना चाहा कि

जाओ, कहो कि हम नहीं मिलेंगे। तब भाभी ने उन्हें समझाया—''यदि आपने जीवन भर न मिलने की शपथ ले ली हो तो दूसरी बात है और यदि कभी-न-कभी मिलना ही है तो आज ही क्यों नहीं मिलते? वह तुम्हारे द्वार पर आया है और दु:खी भी दिखाई देता है। आखिर तुम्हारा भाई है।''

''जब मैंने बहन छोड़ दी तो भाई छोड़ने में भी मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं।''

''बहन तो तुम्हें स्वयं छोड़कर चली गई। उसको छोड़ने का सवाल ही नहीं पैदा हुआ।''

इसपर भैया एकदम भड़क उठे। कुछ देर बाद जब ठंडे पड़े तो उन्होंने मुझे मिलने के लिए बुलाया।

मैंने मिलने के पूर्व मानसिक रूप से मिलने की बड़ी तैयारी की। इसी सिलसिले में मैंने दूत से पूछा, ''एक बात नहीं समझ में आई कि अर्जुन पुष्कर में क्यों रुक गया? वह सीधे इंद्रप्रस्थ क्यों नहीं गया?''

उसने एक भूली बात याद दिलाई—''यह कांड होने के पूर्व शायद अर्जुन ने किसी 'हर्ष' नाम के चर को इंद्रप्रस्थ भेजा था।''

''हाँ-हाँ, याद आया। उसे तो मैंने ही अर्जुन के माँगने पर दिया था। वह चर तो द्वारका का ही है।'' मैंने कहा, ''क्या वह अभी तक नहीं लौटा?''

''मैं जब पुष्कर से चला था तब तक तो वह नहीं लौटा था।'' उसने कहा।

''उसको इंद्रप्रस्थ भेजने का प्रयोजन मैं आज तक नहीं जान पाया।'' मैंने कहा, ''न तो मैंने कभी अर्जुन से पूछा और न स्वयं उसने बताया।''

''मैं भी विश्वासपूर्वक कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ।'' दूत बोला, ''न हर्ष नामक किसी व्यक्ति से कहीं भेंट हुई है। हाँ, अर्जुन और अपने महाराज (चेकितान) की बातें ऊपर-ऊपर मैंने सुनी अवश्य हैं। अर्जुन का कहना था कि मुझे सुभद्रा का हरण करना था, इससे हमारे तथा द्वारका के संबंधों में तनाव आना स्वाभाविक था और वह आया भी। इसलिए मैं चाहता था कि इस कार्य को करने के पूर्व ही मैं भैया (युधिष्ठिर) से अनुमति ले लूँ। शायद इसी कार्य के लिए अर्जुन ने उसे भेजा था।'' दूत ने यह भी बताया—''उसे स्पष्ट निर्देश दिया गया था कि यदि किसी कारणवश तुम द्वारका या रैवतक पर्वत पर न आ सको तो पुष्कर में आकर मेरी प्रतीक्षा करना। अर्जुन ने उससे कहा कि मैं रैवतक से सीधे पुष्कर आऊँगा।''

''तो हर्ष अभी तक पुष्कर नहीं लौटा?'' मैंने आश्चर्य व्यक्त किया—

"जबकि इंद्रप्रस्थ से पुष्कर का अधिक-से-अधिक दो-तीन दिनों का मार्ग है।"

"इसीसे तो पांडुकुमार चिंतित भी हैं और असमंजस में भी हैं कि इतना सबकुछ तो हो गया, यदि भैया ने अनुमति नहीं दी तो क्या होगा!" दूत ने बताया—"उन्हें यह भी विश्वास है कि सारा प्रसंग सुन लेने के बाद ऐसी स्थिति तो नहीं आनी चाहिए।"

"भले ही न आए, पर आशंका तो बनी है।" मैंने कहा, "हमारी भावी योजना का वाहन जिन दो पहियों पर आगे बढ़ता है, उनमें से एक का नाम है आशंका और दूसरे का नाम है संभावना। तुम कैसे कह सकते हो कि धर्मराज अनुमति दे ही देंगे?"

"क्योंकि इस पूरी योजना में आपका प्रयत्न तथा आशीर्वाद है। आपकी किसी बात का वे विरोध नहीं कर सकते।" दूत बोला।

"तब विलंब क्यों हो रहा है?" मैंने पूछा; क्योंकि बातचीत से मुझे लगा कि इस दूत का मानसिक स्तर काफी ऊँचा है और यह आर्यावर्त्त की वर्तमान राजनीति से अच्छी तरह परिचित भी है।

उसने इस प्रश्न के उत्तर में बड़ी समझदारी का परिचय दिया। उसने कहा, "विलंब का कारण धर्मराज का द्विविधामूलक स्वभाव हो सकता है। वे सोचने लगे होंगे कि सुभद्रा इस समय दुर्योधन और अर्जुन के बीच में एक गाँठ हो जाएगी। हो सकता है, वह गाँठ हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ के तनाव के बीच भी न आए। इसीसे वे अन्य लोगों से भी सलाह में उलझ सकते हैं और बात किसी-न-किसी तरह द्रौपदी के कानों तक भी पहुँच सकती है।"

"हाँ, यह खतरा हो सकता है।" मैंने कहा, "द्रौपदी अर्जुन को सभी पतियों में अधिक मानती है और उसपर सबसे अधिक अपना अधिकार भी समझती है।"

"पर उसे भी आप पर विश्वास है।" उसने कहा।

मैं चुप ही रह गया; क्योंकि सामने से रेवती भाभी आ रही थीं। वह अब मुझे सीधे भैया के कक्ष में ले गईं।

भैया ने देखते ही पूछा, "आज कैसे चले?"

"क्षमा माँगने।" मैंने कहा।

"तो तुम समझते हो कि तुमने जो किया, वह गलत था?"

मैं समझ गया कि भैया पिछले कांड के संदर्भ में बातें कर रहे हैं। मैंने तुरंत कहा, "मैं अर्जुन-सुभद्रा के संदर्भ में बातें करने नहीं आया हूँ।"

''तब किस विषय में बातें करने आए हो?''

''सुभद्रा ने आपको एक पत्र लिखा है।''

''पर तुमने तो कहा कि क्षमा माँगने आया हूँ!'' भैया इतने आवेश में थे कि पूरी बात सुने बिना ही जिज्ञासा करते जा रहे थे।

मैंने बड़े शांतभाव से कहा, ''आप मेरी पूरी बात सुनें।'' तब मैंने बताया— ''सुभद्रा ने आपको जो पत्र लिखा है, उसपर मेरा ही नाम था, इसलिए मैंने उसे खोल लिया। भीतर देखा तो पत्र आपका था। इसीलिए पत्र लानेवाले दूत के साथ मैं भी क्षमा माँगने चला आया।''

''इसमें क्षमा माँगने की क्या आवश्यकता है?'' उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा, ''हर जगह तो ऊपर तुम स्वयं को ही रखते हो।''

पत्र खोलते हुए भैया ने दूत से पूछा, ''तुम्हारे धर्मराज कैसे हैं? इस घटना के प्रति उनकी क्या प्रतिक्रिया है?''

''ये इंद्रप्रस्थ से नहीं, पुष्कर से आ रहे हैं।'' मैंने फिर टोका।

''चेकितान के यहाँ से!'' उन्होंने दाँत पीसते हुए कहा, ''लगता है, अर्जुन के साथ इस षड्यंत्र में वह भी शामिल था। तभी तो वह अर्जुन को साथ ही ले गया और शरण भी दी। कल तक दुर्योधन ने उसकी हवा गुम कर रखी थी। उसके नाम से वह थर-थर काँपता था। तुम्हींने उसे सिर चढ़ाया और आज वह हमारे ही विरुद्ध खड़ा हुआ।''

अब दूत ने सफाई दी—''मेरे महाराज अर्जुन के साथ मदनोत्सव से नहीं गए थे, बल्कि एक दिन बाद पहुँचे थे। इसके पहले ही अर्जुन पहुँच चुके थे। वे भी इस घटना से दु:खी हैं। अभी कल वे महामात्य से कह रहे थे कि हम लोगों को इसमें नहीं पड़ना चाहिए। यह द्वारका का आंतरिक मामला है। मैं यदि होता तो अर्जुन को समझा-बुझाकर यहाँ ठहरने ही न देता।''

चेकितान की मंशा पर मेरे भी कान खड़े हुए। मैंने सोचा कि वह कितना भीरु है।

अब तक भैया पत्र खोलकर पढ़ने लगे थे। पत्र में लिखा था—

'परम पूज्य बड़े भैया! सादर चरण स्पर्श।

'मैं कितनी नारकीय निकली कि आपके वचन के निर्वाह में सहायक न हो सकी। इतने प्यार से आपने पाला-पोसा और मैंने आपको धोखा दिया। मैं रात-दिन सोचती रही, स्वयं को तैयार करने की चेष्टा करती रही; पर उस स्थिति के लिए तैयार न कर पाई, जो आप चाहते रहे। अंत मे इसी निष्कर्ष पर पहुँची कि मैं प्राण

दे सकती हूँ, पर दुर्योधन को अपना जीवनसाथी नहीं स्वीकार कर सकती। अंत में ऐसी स्थितियाँ बनीं कि मुझे वह सबकुछ करना पड़ा, जिसकी आप कल्पना तक नहीं करते रहे होंगे। यदि इस पूरे कांड क़ा दोषी कोई है, तो मैं स्वयं हूँ। इसके दंड का भागी भी कोई दूसरा नहीं हो सकता। मैं आपका दिया हर दंड स्वीकार करने को तैयार हूँ। मैं यह जानती हूँ कि संसार का बड़े-से-बड़ा दंड भी मेरे अपराध से बड़ा नहीं होगा।

'वास्तव में जन्म-मरण, विवाह और यश-अपयश किसीके वश में नहीं है। उसपर न तो मेरा अधिकार था—और यदि आप क्षमा करें तो कहूँ, न तो आपका। हमारी यह सबसे बड़ी भूल है कि हम उसपर अपना अधिकार समझते हैं।

'आप बड़े हैं, विचारवान् हैं। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं लिख सकती। प्रभु ने तो मुझे इस स्थिति में डाल दिया है कि मैं आप सबको मुँह दिखाने योग्य नहीं रही।

आपकी प्यारी बहन,
सुभद्रा।'

भैया पत्र पढ़कर सोचते रहे।

रेवती भाभी उन्हें गौर से देखती रहीं। फिर बोलीं, ''क्या लिखा है सुभद्रा ने?''

''लिखा है कि मुँह दिखाने योग्य नहीं रही।'' इतना कहते-कहते भैया के अधरों के बीच से एक अप्रत्याशित मुसकराहट उभरी। उन्होंने वह पत्र भाभी को थमा दिया। मैंने सोच लिया कि आशुतोष का विष मस्तिष्क से उतरकर कंठ में आ गया है।

''आखिर इसका कोई उत्तर तो देना ही चाहिए।'' भाभी ने पत्र लौटाते हुए कहा।

''हाँ, देना चाहिए।'' बड़ी गंभीरता से भैया बोले और अपने निजी सचिव को बुलाकर पत्र लिखवाना शुरू किया, जिसका सारांश था—'तुम मुँह दिखाने योग्य रहीं कि नहीं रहीं, इसे तुम जानो; पर अपने विचार से तो मैं किसीको मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। यदि मुँह पर लगी कालिमा को कम करना चाहती हो तो अर्जुन को लेकर पुष्कर से सीधे द्वारका लौट आओ, जिससे हम लोग कुछ ऐसा कर सकें कि संसार को मुँह दिखाने योग्य हो जाएँ।'

पत्र लिखवाकर उन्होंने दूत को दिया और कहा कि अब तुम जा सकते हो। मैं भी उसके साथ चलने को हुआ, पर उन्होंने संकेत से मुझे रुकने को कहा।

खड़ा होने के बाद भी मैं बैठ गया।

''वह तो सारा अपराध अपना ही स्वीकार करती है।'' भैया बोले, ''जब अपना ही सिक्का खोटा है तब दूसरे को क्या कहूँ? उस मूर्खा ने कभी खुलकर मुझसे अपनी इच्छा व्यक्त की होती तो मैं कभी इस झमेले में न पड़ता। मुझे क्या लेना-देना था!''

फिर अचानक उनकी मुद्रा बदली। वह मुसकराते हुए बोले, ''पत्र को देखने से तो ऐसा लगता है जैसे तुम्हींने उसे लिखा हो।''

मुझे हँसी आ गई—''यह तो कौरवों की स्थिति हो गई है कि हर कार्य के पीछे वे मेरा ही हाथ देखते हैं; पर लिखावट तो आपने पहचानी होगी!''

''हाँ, लिखावट तुम्हारी नहीं थी।'' वे अब सामान्य हो चुके थे—''अच्छा, एक बात बताओ। यदि दोनों को बुलाकर पूरे विधि-विधान के साथ उनका विवाह कर दिया जाए, तो कैसा हो?''

''अति उत्तम होगा।'' मैंने कहा। मन-ही-मन मैंने भगवान् को धन्यवाद दिया कि भैया इतनी जल्दी रास्ते पर आ गए। फिर मैं बोला, ''पर इसके लिए वातावरण बनाना होगा।''

''यह तो तुम्हारा काम है। मैं तो अपने वचन से पीछे हट ही रहा हूँ।''

मैंने अनुभव किया कि भैया को वचनभंग की पीड़ा अब भी साल रही है।

☐

भैया का पत्र लेकर दूत को शीघ्र ही लौटना था। मैंने सोचा कि क्यों नहीं धर्मराज को एक व्यक्तिगत पत्र लिखकर हम अर्जुन से सुभद्रा के विवाह का प्रस्ताव करें। पहले तो मैंने सोचा कि यह पत्र भैया से ही लिखवाऊँ; पर बाद में मुझे लगा कि भैया यहाँ तक पीछे हट आए, यही बहुत है। अब उन्हें इस विषय में छेड़ना ठीक नहीं है—और कहने पर शायद वे झुँझला भी उठते।

मैंने स्वयं पत्र लिखा और उसपर राजकीय मुहर लगाई तथा उसी दूत को देकर कहा, ''इसे धर्मराज के पास यथाशीघ्र भिजवाने की चेष्टा करो।''

''हर्ष के लौटने की प्रतीक्षा के पूर्व ही?'' उसने पूछा।

''उससे इस पत्र का कोई संबंध नहीं।'' मैंने कहा, ''वह तो अर्जुन ने स्वीकृति माँगी थी। यह तो मेरा प्रस्ताव है।'' यहाँ पर छूटे हुए अर्जुन के अस्त्रों को भी मैंने उसे देकर बिदा किया।

और शीघ्र ही मैंने अमात्य मंडल की बैठक बुलाई। उसमें मैंने पूज्य नानाजी, पिताजी और भैया को भी सादर आमंत्रित किया। नानाजी तो अस्वस्थता

के कारण असमर्थ थे। घड़ी भर भी उनका बैठ पाना कठिन था। वे नहीं आए।

भैया ने भी अपनी असमर्थता व्यक्त की—"अब मुझे इस प्रसंग से दूर ही रखो।"

"तो फिर भाभी को ही उपस्थित होने की अनुमति दीजिए।"

"तुम क्या चाहते हो कि हम दोनों के बीच फिर एक बार गदायुद्ध हो जाए!" उन्होंने कहा गंभीरता से, पर पुरानी बात याद आते ही मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा।

विशेष आमंत्रितों में से केवल पिताजी उपस्थित हुए। अमात्य मंडल की यह बैठक लंबी चली। सभी पहलुओं पर लगभग चार-पाँच घड़ी तक विचार होता रहा। मैंने बैठक के आरंभ में ही सभी को संबोधित करते हुए कहा था—"यह राजा और उसके परामर्शदाताओं की बैठक नहीं है वरन् द्वारका के शुभचिंतकों की बैठक है। हमें खुलकर विचार करना है। हम न किसी पर अपने विचार लादने की चेष्टा करेंगे और न स्वयं पर किसीका विचार लदने देंगे। इस समय यहाँ कोई छोटा या बड़ा नहीं है।"

इसके बाद मैं सीधे विषय पर आया—"रैवतक पर्वत पर मदनोत्सव के समय जो कुछ हुआ, उससे हम सब परिचित हैं। अब हमें ऐसा कोई मार्ग निकालना चाहिए, जिससे धर्म और न्याय की रक्षा करते हुए हम अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सकें।"

"आखिर आपने इस विषय में कुछ सोचा तो होगा?" महामात्य बोला, "बिना आपके दिशा-निर्देश के हमारे सोच के पग किधर बढ़ेंगे?"

"एक विचार तो यह है कि या तो हम मौन रह जाएँ, समय को ही सब ठीक करने दें या जो परिस्थितियाँ पैदा हुई हैं, उन्हें स्वीकारते हुए अर्जुन और सुभद्रा का विधिवत् विवाह कर दें।"

"यह तो परिस्थिति के सामने झुकना हुआ।" एक अमात्य ने कहा, "लोग सोचेंगे कि द्वारका इंद्रप्रस्थ के समक्ष झुक गई।"

"यदि गलती अपनी हो तो मैं झुकने में अपना अपमान नहीं समझता।" मैंने कहा, "आखिर जरासंध के आक्रमण के समय मथुरा से भागा हुआ 'रणछोड़' मैं ही हूँ। मैं धर्म और जनता-जनार्दन की रक्षा के लिए किसी भी सीमा तक झुकने में कभी अपने अहं को आड़े आने नहीं देता।"

"यदि गलती अपनी हो तो झुका जा सकता है।" अमात्य मंडल के एक सदस्य ने मेरा समर्थन किया।

''इस पूरे कांड में मुझे अपनी गलती तो नहीं लगती।'' दूसरा बोला, ''सुभद्रा का हरण तो अर्जुन ने किया है। गलती उसकी है। उसे आकर द्वारका से क्षमा माँगनी चाहिए। फिर द्वारका उसे क्षमा करते हुए आगे सोच सकती है।''

कई लोगों ने इसका समर्थन किया। एक समय तो ऐसा आया कि पूरा अमात्य मंडल इस विचार की ओर झुकता दिखाई दिया।

''पर आपको एक तथ्य की गलत जानकारी है।'' मैंने कहा, ''इसीसे आपके निष्कर्ष गलत हो रहे हैं।''

अमात्य मंडल की पूरी जिज्ञासा मेरी ओर लगी। मैंने कहा, ''पहले तो यह कहना सरासर भूल होगी कि अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया। वस्तुतः सुभद्रा ने ही अर्जुन का हरण किया है।''

''यह आप क्या कह रहे हैं!'' उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उन्हें लगा जैसे धरती आकाश को लेकर उड़ने लगी हो, जैसे ज्वालामुखी बर्फ उगल रहा हो। यह उलटी बात कैसे हो गई?

''वस्तुतः हुआ यही है।'' मैंने कहा और वस्तुस्थिति थोड़ा विस्तार से बताई—''बात यह है कि अर्जुन ने अपने किसी पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए इंद्रप्रस्थ से कुछ दिनों तक दूर रहने का निश्चय किया था। इसी क्रम में वह द्वारका भी आया था। यहाँ बड़े आराम से था—एकदम सामान्य भाव से। फिर पता नहीं क्या हुआ कि यहाँ की किसी घटना से वह असामान्य हो गया। कुछ गंभीर-गंभीर-सा रहने लगा। मैंने कई बार इस संबंध में पूछने के लिए सोचा, पर पूछ नहीं पाया। फिर अचानक वह एक रात अदृश्य हो गया। चारों ओर उसकी खोजाई भी की गई। शायद इस बात को आप सब जानते हों?''

''हाँ, इसे तो हम लोग जानते हैं।'' अमात्य मंडल का एक सदस्य बोला, ''पर लोगों ने यह भी देखा है कि जिस रथ से सुभद्रा भागी, वह अर्जुन का ही था।''

''हाँ, उसके बारे में भी मैं बताता हूँ।'' मैंने उन्हें समझाया—''अर्जुन अपना रथ यहीं छोड़ गया था। सारे अस्त्र-शस्त्र भी यहीं छोड़कर चला गया था। पता नहीं कैसी, उसके मन में विरक्ति जागी थी। उसने बातों के सिलसिले में मुझसे कहा था कि जिस पाप के प्रायश्चित्त के लिए मैंने इंद्रप्रस्थ छोड़ा, उसके लिए अभी कुछ और करना पड़ेगा। शायद इसीलिए उसने सोमशिव के मंदिर में चांद्रायण व्रत आरंभ किया।''

''यह बात भी समझ में नहीं आती।'' अमात्य मंडल का दूसरा सदस्य

बोला, ''तृतीया तक तो अर्जुन यहीं देखा गया था। चांद्रायण व्रत तो प्रतिपदा से ही आरंभ किया जाता है।''

अब मैं क्या कहता! झूठ कितना असमर्थ होता है! उसे तर्क से कितना भी ढकिए, उसकी नग्नता कहीं-न-कहीं से उघड़ ही जाती है।

मैंने तुरंत स्वयं को पीछे खींचा—''हो सकता है, उसने यति होने का नाटक ही किया हो; पर इतना तो मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि न तो उसने सुभद्रा का हरण किया है और न उसकी हरण करने की इच्छा थी। जो कुछ हुआ, उसे सुभद्रा ने ही किया। वही अर्जुन के रथ पर यहाँ से गई।''

''मुझे तो अचरज लगता है।'' महामात्य बोला, ''यदि ऐसा हो तो सुभद्रा के साहस की प्रशंसा करनी पड़ेगी। मुझे तो उसके पीछे कोई मस्तिष्क भी अवश्य लगता है। उससे हमें अनभिज्ञ नहीं रहना चाहिए। नहीं तो उसका षड्यंत्र द्वारका के विरुद्ध भी हो सकता है।''

''अवश्य ही, मुझे भी लगता है।'' मैंने बड़ी गंभीरता से स्वीकार किया—''षड्यंत्र से बड़ी जल्दी गंध निकलने लगती है, जो अपना पता स्वयं देती है।'' और शीघ्र ही बात दूसरी ओर मोड़ दी—''सुभद्रा की स्थिति भी हमें समझनी चाहिए। वह ऐसा न करती तो क्या करती! आज जब पूरे आर्यावर्त्त में विवाह के लिए स्वयंवर की प्रथा प्रचलित है। नारी को अपना पति चुनने का अधिकार है, तब हम उसकी इच्छा के बिना उसका भविष्य बलात् बाँधने की चेष्टा कर रहे थे। ऐसे में उसकी 'नारी' का विद्रोही हो जाना स्वाभाविक था—और वही हुआ। इस स्थिति में हमें उसकी विद्रोही नारी का अभिनंदन करना चाहिए।''

अंत में मेरे निष्कर्ष पर अमात्य मंडल एकमत हो गया। सबने स्वीकार किया कि हमें सुभद्रा और अर्जुन को बुलाकर यथाविधि उनका विवाह कर देना चाहिए। यही एक सम्मानजनक तरीका है, जिससे द्वारका की प्रतिष्ठा भी बचेगी और नारी के अधिकार का अभिनंदन भी होगा।

मैंने अमात्य मंडल से यह भी निवेदन किया—''द्वारका की प्रजा को सारी स्थिति की पूरी जानकारी दे दें; क्योंकि वह वास्तविकता को नहीं जानती।''

''फिर विवाह की तिथि क्या होगी?'' महामात्य ने पूछा।

''अभी तो पहली समस्या दोनों को बुलाने की है. फिर अर्जुन के आने के बाद ही गर्गाचार्य से पूछकर विवाह की तिथि निश्चित की जाएगी। इस बीच हमें यह भी मालूम हो जाए कि हमारे इस निश्चय पर प्रजा की प्रतिक्रिया क्या है!''

योजना के अनुसार ही अमात्य मंडल की बैठक हमारे सोच के बिंदु पर

समाप्त हुई।

पिताजी बैठक में एक शब्द भी नहीं बोले। सबके चले जाने के बाद उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा, ''विवाह की बात तो तुम लोगों ने इतने सहजभाव से स्वीकार कर ली जैसे वह एक दिन में संपन्न होनेवाला कोई कृत्य हो। हमें आर्यावर्त्त के सभी राजाओं को आमंत्रित करना होगा। उसके लिए पूरी व्यवस्था करनी होगी।''

''अब इन सब झंझटों में पड़ने की क्या आवश्यकता है?'' मैंने पिताजी को समझाया—''हमें स्वयंवर तो करना नहीं है। स्वयंवर तो सुभद्रा ने स्वयं कर लिया। हमें तो सीधे-सीधे विवाह कर देना है।'' फिर मैंने हँसते हुए कहा, ''अब स्वयंवर करने का तात्पर्य होगा, अर्जुन और दुर्योधन का युद्ध करा देना।''

□

परिस्थितियाँ अनुकूल बनती चली गईं। मेरा पत्र पहुँचने के पूर्व ही धर्मराज हर्ष द्वारा अर्जुन को सुभद्रा से विवाह करने की अनुमति भेज चुके थे। सुना है, उन्होंने उसे लिखा था कि 'यह विवाह एक नए संबंध का सूत्रपात करेगा। नए इंद्रप्रस्थ का नई द्वारका से नया संबंध। हम तो इसे भगवान् की एक महती कृपा मानते हैं।'

दूसरी बात उन्होंने एकदम राजनीतिक लिखी थी कि 'इस विवाह में मैं सम्मिलित नहीं होऊँगा और न इस विवाह की सूचना ही अभी इंद्रप्रस्थ को दी जाएगी। केवल मेरा आशीर्वाद ही तुम्हारे साथ होगा। इस विवाह को हमें वैसा ही विवाह समझना चाहिए जैसा विवाह तुमने प्राग्ज्योतिषपुर में किया है। अंतर केवल इतना ही होगा कि वह बहू तो अभी यहाँ नहीं आई, पर सुभद्रा अपनी गौरवमयी उपस्थिति से इंद्रप्रस्थ को शोभित करेगी।'

दो-चार दिनों के बाद ही मेरे पत्र का भी उत्तर आ गया। उसमें भी लगभग ऐसी ही बातें लिखी थीं। उस पत्र में घर के बड़ों के संबंध में बड़ा आदरभाव व्यक्त किया गया था। भैया के लिए तो एक अलग से पत्र ही था। वह भी सम्मान से भरा हुआ। साथ ही मधुर उलाहनाओं से भी। उसमें लिखा था कि 'आर्यावर्त्त के हितैषियों की हमारी सूची में आपका नाम पहला है। आप विपत्ति के हमारे साथी हैं। विपत्ति के साथी एक-दूसरे को कभी नहीं भूलते। आप हमें कैसे भूल गए? हमें आश्चर्य है कि मदनोत्सव में हम नहीं बुलाए गए। भगवान् को कोटिशः धन्यवाद कि उसने सुभद्रा को ऐसी बुद्धि दी कि हम नहीं भुलाए जा सके।'

उन्होंने स्पष्ट लिखा था—'आपकी स्थिति, परिस्थिति और अपनी मन:स्थिति पर विचार करते हुए शायद हम सबके हित में यही होगा कि हम उस विवाह में उपस्थित न हों। जैसे अब तक अनजान थे वैसे ही सब जानते हुए भी हमें आगे भी अनजान रहने दिया जाए। ऐसा मैं जानबूझकर लिख रहा हूँ कि यह विवाह अर्जुन के जीवन का अंग तो बने, पर हमारी राजनीति का अंग न बन पाए। यही भूल हमारे भाई दुर्योधन ने की थी। वह इस विवाह को अपनी राजनीति का अंग तो बनाना चाहता था, पर जीवन का नहीं।'

पत्र बड़ी योग्यता से लिखा गया था। धर्मराज के इस पत्र का भैया पर अप्रत्याशित प्रभाव पड़ा। दुर्योधन को दिए गए वचन की भंगता की ग्लानि उनके मन पर से लगभग धुल-सी गई। अब वे स्वयं इस विवाह की तैयारी में लग गए। ज्यों-ज्यों वे इस कार्य में आगे आते गए, मैं पीछे होता गया।

एक ही बार उनके मुख से निकला कि इस विवाह में किसीको बुलाना नहीं चाहिए। मैंने तुरंत इसे लोक लिया। जिनके बुलाए जाने पर विचार किया जा रहा था, उन्हें भी मना कर दिया। यहाँ तक कि निकट संबंधियों को भी इस विवाह की सूचना नहीं दी गई।

केवल भैया के ही पत्र के साथ हम लोगों ने सुभद्रा और अर्जुन को बुलाने .. लिए महामात्य को पुष्कर भेजा। इतना होते हुए भी हम लोगों ने पुष्कर नरेश चेकितान को नहीं बुलाया। फिर भी वह उन दोनों के साथ चला आया।

अब फिर प्रश्न उठा कि विवाह की तिथि कौन सी रखी जाए।

इसके लिए मैंने भैया से निवेदन किया—"पिछली बार भी सुभद्रा के विवाह की तिथि पूछने आप आचार्य गर्ग के यहाँ गए थे, इस बार भी यदि आप ही कृपा करें तो उत्तम होगा।"

"क्या उत्तम हो!" भैया झुँझलाए—"तुम चाहते हो कि पिछली बार की तरह इस बार भी मैं असफल होऊँ!" वे तो मुसकराकर रह गए, पर मुझे हँसी आ गई।

फलतः इस बार हम दोनों आचार्य के आश्रम में गए। हमें देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। आने का कारण पूछा।

भैया ने पूरा प्रसंग सुनाया। यद्यपि वे बहुत कुछ जानते थे। वे जगत् की गतिविधि से निरपेक्ष रहनेवाले आचार्य नहीं थे। भैया के मुख से आने का प्रयोजन सुनकर हँस पड़े। फिर बोले, "क्या विवाह का मुहूर्त बताऊँ? कहीं एक विवाह का दो मुहूर्त होता है? अरे, सुभद्रा के विवाह का तो तुम्हें मुहूर्त बताया था। उसी दिन

उसका विवाह भी हो चुका। अब तो बस विवाह की लौकिकता भर रह गई है। अग्नि आदि देवताओं को साक्षी रखकर वैवाहिक जीवन के लिए केवल संकल्प लेना है। वह किसी भी दिन हो सकता है।''

''यदि उसके लिए भी किसी उचित मुहूर्त का ध्यान रखा जाए तो शायद अति उत्तम होगा।'' भैया बोले।

अब आचार्यजी ने अँगुलियों पर गणना आरंभ की। फिर बोले, ''यदि जल्दी व्यवस्था हो सके तो होलिका-दहन के आठ दिनों पूर्व ही इस कार्य को संपन्न करा डालिए और यदि देर होने की संभावना हो तो मेष के रवि में ही कोई तिथि रख सकते हैं।''

□

हम लोगों ने होलिका-दहन के नौ दिन पूर्व ही इस कार्य को संपन्न किया। अनुमान के विपरीत अर्जुन को दान-दहेज भी अधिक मिला। क्योंकि भैया अपनी आशुतोषी प्रकृति के अनुसार उसपर सदय हो चुके थे। उनका सोचना था कि यह मेरी एकमात्र बहन है, द्वारका की एकमात्र बेटी। इसके साथ द्वारका की प्रतिष्ठा जुड़ी है। जब यह इंद्रप्रस्थ जाएगी तो वहाँ के लोग क्या सोचेंगे? इसीलिए वे दहेज देने में किसी प्रकार पीछे नहीं रहे। एक हजार तो उन्होंने स्वर्णजटित रथ दिए। दस हजार गायें। अश्व सेना, दास-दासियों और मुद्राओं की तो गिनती ही नहीं।

जब राजा ही अधिक देने के पक्ष में हो तो प्रजा क्यों पीछे रहे? उसने भी हाथ खोलकर उपहार दिए।

इसके बाद दोनों एक साल तक द्वारका में रह गए। बात भी धीरे-धीरे खुलती चली गई। मेरी-अर्जुन की आत्मीयता तो थी ही, अब और अधिक बढ़ गई। सुभद्रा और सत्यभामा पहले से ही एक प्राण दो देह थीं। उनकी निकटता अब और अधिक प्रगाढ़ हो गई। उन्हें विश्वास नहीं था कि एक प्रयत्न इतना शीघ्र अपना प्रतिदान पा लेगा।

इसी बीच मेरे जीवनचक्र ने नया मोड़ लिया। मैंने द्वारका पत्तन के बारे में विशेष जानकारी के लिए तत्संबंधी अमात्य को बुलाया था। इधर हमारे कई जलयान जल दस्युओं के द्वारा लूटे जा चुके थे। हमारी सामुद्रिक सुरक्षा कुछ दुर्बल पड़ चुकी थी। हमें कुछ करना चाहिए।

मैं सोच ही रहा था कि प्रतिहारी ने सूचना दी—''त्वष्टा नाम के एक ऋषिवर पधारे हैं। उनके साथ उनके तीन शिष्य और हैं। वे आपसे मिलना चाहते हैं।''

"यह तुमने नहीं पूछा कि कहाँ से पधारे हैं?"

"पूछा तो था; पर उनका विनीत आग्रह है कि मुझे द्वारकाधीश से मिला दीजिए। मैं अपनी व्यथा-कथा स्वयं उनसे कहूँगा।"

प्रतिहारी के कहने के ढंग से मैंने समझ लिया कि ये साधु लोग किसीके सताए होंगे, जो मुझसे सहायता के लिए आए हैं। ऐसे ही पीड़ित लोग आत्मनिवेदन पर जोर देते हैं; क्योंकि वे अपना आर्तनाद स्वयं त्राता को सुनाना चाहते हैं। उन्हें हमेशा संदेह बना रहता है कि कोई संदेशवाहक मेरा संदेश तो सुना देगा, पर मेरी पीड़ा की अनुभूति करा नहीं पाएगा।

ऐसे में यदि मैं कुछ कर न सकूँ तो इतना तो कर ही सकता हूँ कि उनकी पीड़ा का सम्मान करूँ। मैं उठा और स्वयं त्वष्टा एवं उनके शिष्यों से मिलने राजभवन के द्वार पर आया। मिलते ही उनकी दु:खी मुद्रा ने बहुत कुछ कहना शुरू किया।

मैंने पूछा, "आप कहाँ से आ रहे हैं?"

"प्राग्ज्योतिषपुर से।" उन्होंने कहा, "वरन् यों कहिए, इस भूखंड के एकदम पूर्वी छोर से।"

"वहीं आपका आश्रम है?" मैंने पूछा, "वह तो आर्यावर्त्त की सीमा से लगभग बाहर है।"

"बाहर तो नहीं है; पर आप उसे सीमा पर कह सकते हैं।" ऋषिवर बोले, "अब हमारा वहाँ कोई आश्रम नहीं रहा और न उस भूखंड को किसी आश्रम की आवश्यकता है। जब आवश्यकता थी तो मेरे पूज्य पिता अपना आश्रम चलाते थे। अब तो वहाँ नरकासुर का राज्य है। असुर-आतंक है।"

'नरकासुर' नाम मैंने सुना था। पहले तो इस नाम को गुणवाची समझा था। सोचा था कि वास्तविक नाम कुछ और होगा। उसके अत्याचार और आतंक के कारण उसे यह नाम दिया गया होगा; पर अब पता चला कि वहाँ साधारण मनुष्य एकदम अरक्षित है। जीवन में शास्त्रीय पद्धति का कहीं प्रवेश नहीं। सचमुच पृथ्वी पर नरक है। धरती के शरीर पर गलित कुष्ठ की तरह।

विस्तार से बात करने पर पता चला कि वहाँ असुरों का राज्य है।* ये लोग

---

* असम का पूरा नाम प्राग्ज्योतिषपुर था। लगता है, मणिपुर और इंफाल में नरकासुर का राज्य रहा होगा। आज भी वहाँ की जीवन-पद्धति कुछ ऐसी ही है। आज भी वहाँ गाय-भैंसों का मांस सग्गड़ों पर बेचा जाता है।

नागा जाति के असुर हैं। मूलत: मांस खाते हैं। पशुओं की तरह मनुष्यों का शिकार करते हैं और उनके मुंडों की अस्थियाँ टाँगकर अपने घरों की दीवारों को सजाते हैं; पर उनकी स्त्रियों को नहीं मारते।

"तब उनकी स्त्रियों का क्या करते होंगे?"

"उन्हें अपनी सेवा में रख लेते हैं।" ऋषिवर बोले, "जिसके पास जितनी स्त्रियाँ हैं, वह उतना ही समृद्ध माना जाता है। आप इसीसे समझिए कि नरकासुर के पास ऐसी सोलह हजार स्त्रियाँ हैं, जो कहने को तो रानियाँ कहलाती हैं।"

मैं चकित रह गया—"सोलह हजार रानियाँ! यह क्या कह रहे हैं आप!"

"मैं ठीक कह रहा हूँ, द्वारकाधीश।"

"तब इतनी रानियाँ वह रखता कहाँ होगा?"

"मणिमान् पर्वत पर एक जगह है, जिसके चारों ओर पहाड़ है। बीच में काफी लंबी-चौड़ी तराई है। उस पूरे क्षेत्र का नाम 'औदका' है। उसमें एक छोटी सी नदी बहती है, जिसे 'लोहित गंगा' कहते हैं। पहाड़ों के ऊपर से कहीं भी उसमें निकल भागने का मार्ग नहीं है। पगडंडियाँ भी बड़ी-बड़ी चट्टानों के भीतर से जाती हैं। अनेक स्थानों पर बाड़ लगा दी गई है, जिसके बीच-बीच में बड़े तीखे शूल लटकाए गए हैं।"

मैं जो कुछ सुन रहा था, उससे ऐसा लगा जैसे मैं किसी डरावने स्वप्न के भयानक नगर को देख रहा होऊँ। मेरे लिए सबकुछ काल्पनिक, आतंकपूर्ण और भयावह था; पर इतना कुतूहलपूर्ण भी कि सुनता चला जा रहा था। यह भी भूल गया कि इतनी दूर से आए इन ऋषियों का अतिथि सत्कार भी करना चाहिए। सताए गए लोग यों भी समाज में स्वयं को उपेक्षित समझते हैं। स्वागत-सत्कार ही उनका पहला उपचार है और उसीको मैं विस्मरण कर गया।

मैं तुरंत उन्हें अपने कक्ष में ले गया और स्वयं उनके पद पखारे।

ऋषिवर हिचके—"अरे आप!"

"यह तो हमारा सौभाग्य है कि आप इतनी दूर से पधारे हैं।" मैंने कहा, "यों भी आप लोगों ने नरक की यातना झेली है और मार्ग में बड़ा कष्ट उठाया होगा। और फिर सज्जनों तथा साधुओं की सेवा करना हमारा कर्तव्य है।"

"यही तो स्वर्ग और नरक में अंतर है।" त्वष्टा बोले।

"जहाँ से आप आए हैं, वह नरक भले ही रहा हो।" मैंने कहा, "पर जहाँ आप पधारे हैं, वह स्वर्ग नहीं है।"

"जहाँ पर सत्ता का सर्वोच्च अधिकारी हमारे जैसे तुच्छ जीव के पाँव पखारे, मेरे लिए उससे बढ़कर दूसरा स्वर्ग क्या होगा!" उन्होंने कहा, "जहाँ सत्ता ब्राह्मणों—अर्थात् ज्ञान और नैतिकता के उपासकों के समक्ष झुकती है, स्वर्ग वहीं निवास करता है।"

मैं कुछ बोला नहीं, केवल मुसकराकर रह गया।

थोड़ी देर बाद मैंने उन्हें परिवारभोज पर आमंत्रित किया। इसमें मेरी चारों पत्नियाँ, पूज्य पिताजी-माताजी, अर्जुन-सुभद्रा आदि सभी थे। केवल नानाजी, भैया और भैया का परिवार नहीं था।

मैंने सबसे पहले अर्जुन का परिचय कराया। त्वष्टा ने कहा, "मैं इन्हें पहचानता हूँ। प्राग्ज्योतिषपुर में ही मैं इनसे मिल चुका हूँ। इन्होंने ही तो हमें यहाँ आने की प्रेरणा दी और कहा, 'इस आर्यावर्त्त में द्वारकाधीश के अतिरिक्त आपका कष्ट कोई नहीं हर सकता।' "

"इसका तात्पर्य है कि जो काम यह बड़ी सरलता से कर सकते थे, उसे इन्होंने मुझपर टाल दिया।" मैंने कहा, "आप जानते हैं! नरकासुर जैसे तो इनके गांडीव की टंकार से काँप उठते हैं।"

"पर इसमें इनका कोई दोष नहीं। हमारा दुर्भाग्य ही आड़े आया।" उन्होंने बताया—"ये तो लगभग तैयार थे; पर ये मणिपुर के राजा चित्रवाहन के अतिथि थे। इसके बाद क्या हुआ, इसे तो आप जानते ही हैं।"

ऐसे ढंग से ऋषि त्वष्टा ने कहा कि हम सबको हँसी आ गई। पर उन्होंने अपनी बातों का क्रम रोका नहीं। वे बोलते रहे—"महाराज चित्रवाहन से नरकासुर की अनाक्रमण संधि है। चित्रवाहन के राज्य की पूर्व सीमा नरकासुर राज्य से मिलती है। इसलिए यह संधि उनके हित में है। अन्यथा उनका जीना मुहाल हो जाता। फिर भी चित्रवाहन का जीवन बत्तीसों दाँतों के बीच फँसी जीभ की तरह है। जरा सा हिली नहीं कि कटी नहीं। इसपर भी बेचारा रोज ही परेशान रहता है। नरकासुर प्रतिदिन अनाक्रमण संधि तोड़ता रहता है।"

"वह कैसे?"

"बहुधा उसके लोग चित्रवाहन के राज्य की सीमा में घुस जाते हैं और बहुत सी गायों को हाँक ले जाते हैं।"

"कोई कुछ बोलता नहीं?" मैंने कहा। मेरा र उबल उठा; क्योंकि गायों के प्रति मेरा अद्भुत लगाव है। बचपन से ही वे मेरे जी के साथ हैं। मैं गायों की प्रकृति ही नहीं, उनकी भाषा भी समझने लगा हूँ। वंश क बाद यदि किसीको मेरे

जीवन के निकट आने का सबसे अधिक अवसर मिला है तो वे गायें ही हैं। गायों के इसी साहचर्य के कारण मैं 'गोपाल' भी कहा जाने लगा। गायें हमारी अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। आज वह हमारी संपन्नता की रीढ़ मानी जाती हैं। मैंने कहा, "जिस राज्य में गाय और ब्राह्मण वध्य हों, उस राज्य की अस्मिता अधिक दिनों तक नहीं रहती; भले ही वह रावण जैसा शक्तिशाली ही क्यों न हो!"

अब मैंने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा, "आश्चर्य है कि इस विषय में तुमने कुछ नहीं किया!"

"मैं तो तैयार ही था, पर महाराज ने मुझे रोक दिया। बोले, 'तुम तो आग लगाकर चले जाओगे, पर जलना तो मुझे पड़ेगा।' "

"और सदा के लिए तुममें आग बुझाने का साहस न हुआ।" मैंने कहा, "पर एक बात मेरी समझ में नहीं आई कि उस क्षेत्र में तो ज्यादातर मातृप्रधान परिवार हैं। वहाँ इतनी औरतों पर अपना स्वामित्व स्थापित करने में वह सफल कैसे हो गया?"

"यह उसके स्वभाव का एक अंग बन गया है।" त्वष्टा बोले, "इसीलिए तो वह उन महिलाओं की गिनती बताकर कहता है कि इतनी महिलाएँ नहीं वरन् इतना परिवार मेरा बंदी है।"

भोजन तो समाप्त हो गया, पर मेरी जिज्ञासा शांत हो नहीं पाई थी।

इसके बाद मैंने अपने सम्मान्य अतिथियों को अतिथिभवन में भेज दिया और स्वयं अपने परिवार के साथ अंतःपुर के मंत्रणाकक्ष में आया। मैंने अनुभव किया कि पिताजी सबसे अधिक चिंतित और गंभीर हैं। मैंने उनसे उनकी मनःस्थिति के संबंध में जानना चाहा।

वे उतनी ही गंभीरता से बोले, "तो तुम् नरकासुर का वध करने जाओगे?"

मैंने कहा, "जाने की इच्छा तो है, पर जैसा आप कहें।"

"ऐसी स्थिति में महाराज दशरथ का आदर्श ही मेरा आदर्श है।" पिताजी बोले, "पुत्र के प्रति अगाध मोह होने पर भी वे विश्वामित्र का आदेश टाल नहीं पाए थे।"

इस प्रकार मुझे पिताजी की ओर से भी आज्ञा मिल गई। मैं अपनी ओर से भी मानसिक रूप से तैयार होने लगा। मैंने सोचा, नरकासुर मूलतः राक्षस है। राक्षसों के पास कुछ शक्तियाँ तो यों ही हमसे अधिक होती हैं। फिर भी उसकी भौतिक शक्ति के संबंध में पूरी जानकारी होनी चाहिए। इस संदर्भ में मैं अर्जुन के साथ अतिथिगृह में पुनः त्वष्टा से मिला।

उन्होंने बताया—"नरकासुर का अमात्य मंडल नहीं है वरन् उसके पाँच राज्यपाल हैं—हयग्रीव, निशुंभ, पंचजन, विरुपाक्ष एवं मुर। मुर उसके सबसे निकट है। उसे उसका महामात्य भी कह सकते हैं। नरकासुर के दस पुत्र हैं। दसों उसके अंत:नगर की रक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त उस अंत:नगर की रक्षा का भार विरुपाक्ष और पंचजन पर है, जहाँ इतनी स्त्रियाँ बंदी बनाकर रखी गई हैं।"

अब मुझे कुछ-कुछ याद आया। नरकासुर से मेरा सामना हो चुका है। तब इस द्वारका का नाम दशार्ण नगरी था। उस समय यहाँ रेवती भाभी के पूज्य पिताजी ककुद्मिन का शासन था। उन्हींने यादवों की एक सभा बुलाई थी। कहीं से नरकासुर भी आ गया था। किसी बात पर मैंने उसका विरोध किया था, तब उसने मेरा बड़ा अपमान किया था। मैं सोचता चला गया और सारी स्थिति साफ होती चली गई।

अर्जुन से मुझे यह भी पता चला कि वह इंद्र को भी परेशान करता है। इंद्र अपनी प्रकृति से लाचार है। सुविधा और सत्ताभोगी है, इसलिए अपने से शक्तिशाली से कभी वैर नहीं करता। दुर्बल को दबाना और शक्तिशाली से मित्रता करना उसकी नीति है। अपमानित होकर भी निरंतर सुख भोगने की इच्छा बनाए रखने में इंद्र अद्वितीय है। मैं तो यही सोचता रह जाता हूँ कि वह कितना विचित्र है कि नरकासुर द्वारा अदिति से कुंडल छीन लिये जाने पर भी वह महज तमाशबीन बना रहा।

अब मुझे सारी बातें लगभग स्पष्ट हो गई थीं। इसमें संदेह नहीं कि शत्रु शक्तिशाली है।

हर अत्याचार शक्ति के दुरुपयोग का परिणाम होता है। शक्तिशाली-से-शक्तिशाली अत्याचारी अपने मद में चूर उस व्यक्ति की तरह होता है, जिसके लिए एक आघात काफी है; पर उस आघात के लिए हम विश्वास जुटा नहीं पाते और उसके आतंक को सहते रहते हैं। यह नहीं समझते कि यह आतंक ऊपरी घटाटोप है। धुएँ का बादल है। सोलह हजार स्त्रियों की एक-एक आहें भी यदि समवेत हो जाएँ तो ऐसी आँधी चलेगी, जिसमें ये बादल टिक नहीं पाएँगे। ऐसे उड़ जाएँगे कि काल के आकाश में इनका कोई चिह्न शेष नहीं रह जाएगा। आवश्यकता है साहस की, विश्वास की, एकजुटता की।

मैं ऐसी बातें करके रुक्मिणी को समझा रहा था; क्योंकि वह मेरे प्रयास का विरोध कर रही थी—"क्या यह आवश्यक है कि इस कार्य के लिए आप ही जाएँ?" वहीं सत्यभामा भी थी; पर वह अभी तक चुप थी। रुक्मिणी का दूसरा प्रश्न था—"क्या आपने सारे संसार की पीड़ा हरने का बीड़ा उठाया है?"

"सारे संसार का नहीं वरन् उसके साधुओं का, सज्जनों का, ऋषियों एवं विद्वानों का तथा उनका, जो मेरे आश्रित हैं और जो मेरी शरण में आते हैं।" मैंने कहा, "क्योंकि उनकी पीड़ा मेरी पीड़ा हो जाती है।"

रुक्मिणी की चिंता कम नहीं हुई। उसने कहा, "मैं तो जब से आपके संपर्क में आई हूँ, कभी भी आपको एक स्थान पर शांत और स्थिर नहीं देख सकी।"

मुझे हँसी आ गई—"जब से तुम्हारा संपर्क हुआ है तभी से नहीं; वरन् जब से मैं पैदा हुआ हूँ तभी से, कभी स्थिर नहीं रहा। जीवन बहता पानी रहा, परिस्थितियों की ढाल पर बहता रहा। पीड़ा और अशांति के गड्ढे में समाया। जहाँ तक संभव हुआ, हरियाली बिखेरी और फिर अगली ढाल की ओर बढ़ा।"

फिर उसी मुद्रा में मुख से निकला—"अब तुम्हीं समझो, संसार में अशांति रहे और मैं शांत रहूँ—यह कैसे संभव है?"

"इसका तात्पर्य है कि संसार में शांति रहे और मैं अशांत रहूँ!" उसने बड़ी गंभीरता से कहा।

"तू अशांत तो कभी रह ही नहीं सकती। तू ही कहा करती है न, आप यहाँ रहें या न रहें, पर मैं सदा आपके पास ही रहती हूँ।"

"हाँ, कहती तो हूँ।" इस बार उसके अधरों के बीच स्मित रेखा उभरी—"पहले तो ऐसा कुछ नहीं था; पर अब बस एक बात का भय बना रहता है कि जहाँ कुछ नहीं था वहाँ से आप दो-दो उठा लाए।" इतना कहकर वह सत्यभामा की ओर देखकर मुसकराई और बोलती रही—"गए थे स्यमंतक मणि की खोज में और···और ले आए दो और को। मेरा हिस्सा बाँटने के लिए। इस बार तो वहाँ जा रहे हैं, जहाँ सोलह-सोलह हजार आपकी प्रतीक्षा में हैं। ऐसे में मेरा क्या होगा?"

हम सब हँस पड़े। मैंने उसी मुद्रा में कहा, "तुम्हारा वही होगा, जो अब तक होता रहा।"

□

बात यह हुई कि ऋषि त्वष्टा की कन्या कशेरू को भी नरकासुर ने पकड़कर अपने तथाकथित अंत:नगर में डाल दिया था। ऋषिवर को वह बड़ी प्रिय थी। वे उसके अभाव में एकदम विचलित हो उठे। उन्होंने अपने स्तर से अनेक प्रयत्न किए। सब व्यर्थ हुए। बाद में जब अर्जुन चित्रवाहन के यहाँ पहुँचा तो उन्होंने पांडवों की ख्याति और द्रौपदी स्वयंवर आदि की चर्चा सुनी ही थी, वे अर्जुन से मिले। जैसाकि आप जानते हैं कि अर्जुन तैयार भी हुआ; पर चित्रवाहन के अनुनय पर स्वयं उनकी मदद करने में असमर्थता दिखाई। पर अर्जुन ने उन्हें मेरे बारे में

बताया। तब वे यह नहीं जानते थे कि नरकासुर को मैं भी नहीं जानता। अतएव जिस दिन अर्जुन वहाँ से चला उसी दिन त्वष्टाजी भी अपने आश्रम से द्वारका के लिए चल पड़े। चलते समय अर्जुन का यह निश्चय नहीं था कि वह द्वारका ही आएगा। यह तो पुष्कर तक चले आने के बाद उसने यहाँ आने के लिए सोचा।

ऋषिवर का कहना था कि अर्जुन अपने वेगवान वाहन पर था, इसलिए इतना पहले आ गया। हम लोग तो जैसे-तैसे, रोते-गाते इतनी दूर आए।

कितना विचित्र है, यदि त्वष्टा को पुत्री-वियोग की असह्य पीड़ा न होती तो वे गुहार लेकर मेरे यहाँ न पहुँचते। इतने लोगों की माँ, बहन और पत्नियों का उसने अपहरण किया, तब तक उनकी सज्जनता सबकुछ सहती रही, अत्याचार के प्रति आँखें मूँदे रही। अनाचार होता रहा और ऋषिवर अन्याय से समझौता करते रहे। मुझे यह बात बहुत अच्छी नहीं लगी।

मैंने उनसे स्पष्ट कहा, "जब आचार्य सुविधाभोगी हो जाता है तब समाज के नेतृत्व की क्षमता उसके हाथ से छूट जाती है। उस समय ऐसी ही स्थिति होती है। अत्याचार की विषाक्त और कँटीली झाड़ियों से धरती पटने लगती है।"

आचार्य कुछ बोले नहीं; पर मेरे कथन को उन्होंने बड़ी गहराई से अनुभव किया। अपराधबोध की पीड़ा उनकी आकृति पर स्पष्ट दिखने लगी। मुझे भी लगा कि द्वार पर आए किसी व्यक्ति को इतना नीचा नहीं दिखाना चाहिए। मैंने तुरंत अपनी मुद्रा बदली और आदरभाव से उनके सत्कार में लगा।

औपचारिकता के निर्वाह के लिए मैंने उनकी भेंट भैया से भी कराई। उनके आने का प्रयोजन भी मैंने आधा-तीहा बताया; क्योंकि उन लोगों के सामने मैं भैया से गंभीर मंत्रणा करना नहीं चाहता था।

फिर बहुत कुछ दान-दक्षिणा देकर मैंने ससम्मान बिदा करते हुए उनसे कहा, "आप चलें और मैं उचित समय पर आता हूँ। जब तक न आऊँ, आप किसीसे कुछ चर्चा मत कीजिएगा।" फिर मैंने पूछा, "इस बीच कशेरू पर किसी प्रकार के संकट की आशंका तो नहीं है?"

"होनी तो नहीं चाहिए।" उन्होंने यह भी बताया—"जो स्त्री दासीभाव से शरणागत हो जाती है, उसकी ओर वह आँखें उठाकर देखता भी नहीं; उसी अंत:नगरी में उसे डाल देता है। यह उसकी विचित्र आदत है।"

उसी दिन रात्रि को मैंने एक स्वप्न देखा। स्वप्न विचित्र था और भयानक भी। मैंने देखा, मैं वृंदावन में बहुत सारी गायें चरा रहा हूँ और बड़ी मस्ती से वंशी

बजा रहा हूँ। ज्यों-ज्यों वंशी की धुन पर मस्त होता जा रहा हूँ त्यों-त्यों गायों की संख्या बढ़ती जा रही है। मैं एक शिलाखंड पर अपनी वंशी के साथ तन्मय हूँ, एकदम सुर-संसार में डूबा हुआ। थोड़ी देर बाद एक धमाका-सा होता है। चारों ओर धुआँ-सा उठता है और फिर घायल होकर गायें भूमि पर गिर जाती हैं।

फिर उस धुएँ से अनेक पिशाच निकलते हैं। वे उन गायों की खालें उतारने लगते हैं। भयंकर चीत्कार होती है। फिर भी मैं अपनी वंशी के रव में डूबा रहता हूँ।

अचानक मुझे उस चीत्कार के बीच से एक करुणार्द्र स्वर सुनाई देता है— 'तुम अब भी वंशी बजा रहे हो! तुम्हें कुछ दिखाई नहीं देता? तुम गोपाल हो न?'

मैं जाग उठता हूँ; जैसे मेरे गोपाल को किसीने जगाया हो। मैं विचलित हो उठता हूँ। बाहर आकर देखता हूँ, भोर का तारा भी मुझपर मुसकरा रहा है। उसी क्षण मैंने यथाशीघ्र प्राग्ज्योतिषपुर चल पड़ने का निश्चय कर लिया।

□

प्रात:कालीन संध्या-पूजन से निवृत्त हुआ। और लोगों से तो मैंने अनुमति ले ही ली थी, केवल भैया से बातें करनी थीं। सवेरे-सवेरे मैं उनके यहाँ पहुँचा।

वे जलपान पर थे। देखते ही बोले, ''तुम बड़े व्यग्र मालूम होते हो।''

मैंने सारा संदर्भ बताया। अपना स्वप्न सुनाया और अंत में कहा, ''व्यग्र होने की तो बात ही है। आज मेरी प्रजा का संहार हो रहा है और मैं चैन की वंशी बजा रहा हूँ।''

उन्होंने मेरी बात समझी नहीं; फिर भी मेरी व्यग्रता को बड़े प्रेम से थपथपाया। जलपान आगे बढ़ाया और पूछा, ''किस प्रजा की बातें कर रहे हो?''

''यह प्रजा, जिसे आप प्रजा कहते हैं, यह तो राजा की प्रजा है। जब मैं राजा नहीं होऊँगा, यह प्रजा नहीं रहेगी; पर मेरी प्रजा वह है, जो बचपन से मुझे राजा स्वीकार करती आ रही है। जिसपर मैं केवल अपनी वंशी की धुन से शासन करता रहा हूँ। वे हैं गायें और मैं हूँ गोपाल।''

अब सारा प्रसंग उनके सामने स्पष्ट था। इसके पूर्व ही वे यहाँ की सारी बातें सुन चुके थे। ऐसे अवसरों पर कही गईं उन्होंने अपनी पुरानी बातें दुहराईं— ''तुम अकेले क्यों जाओगे? मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।''

''मैं तो आपको साथ ही लेकर चलता, पर द्वारका को अब अकेली छोड़ना ठीक नहीं।''

भैया की गंभीरता कुछ सोचने लगी। उनकी प्रकृति थी व्यर्थ के झमेले से

भागने की और मेरी प्रकृति थी हर प्रकार के शोषण, दोहन, उत्पीड़न के विरुद्ध खड़े होने की। इस दृष्टि से हम दोनों धरती और आकाश थे; श्वेत और श्याम थे।

उनका कहना था—"इतनी दूर, आर्यावर्त्त के सुदूर पूर्व की सीमा पर जाकर आग से खेलना न तो राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक है और न मानवीय दृष्टि से। जब नरकासुर इंद्र का ऐरावत जैसा हाथी और उच्चैःश्रवा जैसा अश्व तक उठा ले जाता है और वह कुछ नहीं बोलता, तब तुम क्यों इस झमेले में पड़ते हो?"

पर मेरा सोचना उनसे भिन्न था। मैंने उन्हें समझाया—"अत्याचार स्वयं अपना विरोध बोता चलता है; पर उसकी आँखों पर अहं का ऐसा परदा पड़ा रहता है कि वह उन्हें देख नहीं पाता। बस उस परदे को हटाने भर की देर है। उसके सारे विरोध प्रेत की तरह अप्रत्याशित रूप से नाचने लगेंगे। मुझे कुछ करना नहीं पड़ेगा।" युद्धस्थल पर मोहग्रस्त अर्जुन से जो मैंने कहा, लगभग वैसी ही बात इस समय मैंने भैया से कही थी—"आप जिन्हें जीतने के लिए मुझे जाता देख रहे हैं, वे पहले से ही जीते जा चुके हैं। जिनका वध करना आप झंझट का काम समझते हैं, वे लगभग मारे जा चुके हैं—अपने कर्मों द्वारा। मुझे तो निमित्त मात्र बनना है। यह 'निमित्त मात्र' बनना मानवता के लिए भी उपयोगी है, जीवधर्म के लिए भी आवश्यक है और आर्यावर्त्त की राजनीति के लिए भी।"

भैया की गंभीरता के बीच से अचानक हँसी फूटी। बोले, "बातों में तो तुम्हें कोई जीत नहीं सकता, कन्हैया, तुम धूल में भी रस्सी बँट देते हो। अब तुम्हीं बताओ, यदि तुम नरकासुर का वध कर ही देते हो तो इससे आर्यावर्त्त की राजनीति का क्या लेना-देना?"

"अरे, आप भी कैसी बातें करते हैं!" मेरी मुद्रा भी काफी हलकी हुई—"देखिए, आर्यावर्त्त के सुदूर पश्चिम में तो हम स्वयं हैं। यदि अब सुदूर पूर्व के अधिपति का भी हम वध कर देते हैं तो आर्यावर्त्त पर हमारी ऐसी धाक जमेगी कि हमें फिर अश्वमेध या राजसूय यज्ञ की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

भैया सोचने लगे।

"हमें यह समझना चाहिए कि कंस मामा के वधवाले पराक्रम की चर्चा अब पुरानी पड़ गई है।"

भैया ने मेरे सोच को स्वीकारा; पर वे अकेले मेरे जाने के पक्ष में नहीं थे। वे चाहते थे कि या तो सेना साथ ले जाऊँ या दो-एक विश्वस्त साथी।

जबकि मैं सेना ले जाने के पक्ष में बिलकुल नहीं था। सेना ले जाने से मेरे आने की सूचना नरकासुर को मेरे पहुँचने के पहले पहुँच जाती और वह सजग हो

जाता। दूसरे, मेरी मंशा भी स्पष्ट हो जाती। इससे मेरे कुछ कर सकने के पहले ही वह आक्रामक हो सकता था—और मैं यह स्थिति आने देना नहीं चाहता था। मैं अपनी अप्रत्याशित उपस्थिति से उसे चकित कर देना चाहता था। वह कुछ सोचे-समझे और करने के लिए प्रयत्नशील हो, इसके पहले ही मैं उसपर बाज की तरह झपट पड़ना चाहता था।

बहुत कुछ आगा-पीछा करने और सोचने-समझने के बाद भैया ने अनुमति दे दी; पर उनका आग्रह इतना ही था कि मैं अपने साथ दो-चार लोगों को लेता जाऊँ, जो आवश्यकता के समय मेरी रक्षा कर सकें।

मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि छंदक तो मेरे साथ रहेगा ही, आप कहते हैं तो रक्ताक्ष और कुशाग्र को भी साथ रख लूँगा।

"यह कुशाग्र कौन है?" उन्होंने पूछा।

"अरे, आप कुशाग्र को ही भूल गए!" मैंने कहा, "यह सत्राजित् का नितांत विश्वस्त परिचर था। मेरे विरुद्ध मुनादी करता द्वारका तक चला आया था। बाद में इसने मेरी सेवा स्वीकार की।"

"हाँ-हाँ, याद आया।" भैया बोले और फिर राजी हो गए।

अब मैंने छंदक से एकांत में मंत्रणा की। उसका कहना था—"अर्जुन को भी क्यों नहीं साथ लिया जाए! सारा मार्ग उसका जाना-बूझा है। इसके अतिरिक्त भी वह वहाँ का बहुत कुछ जानता है, जो हम नहीं जानते।"

"सो तो ठीक है। मैं उसको ले चलना चाहता भी था; पर अपने श्वसुर की जिस विवशता के कारण वह वहाँ रहकर भी कुछ नहीं कर पाया, वही विवशता फिर आकर खड़ी हो जाएगी।" मैंने छंदक से स्पष्ट कहा, "अब बहुत उधेड़बुन में नहीं पड़ना है और न मेरे पास इसके लिए समय है। गर्गाचार्य के बताए मुहूर्त के अनुसार अब केवल दो दिन का समय प्रस्थान के लिए मेरे पास है। बस आज-कल में हमें यहाँ से चल पड़ना चाहिए। तुम्हें केवल इसपर विचार करना है कि इतना लंबा और कठिन मार्ग हम कम-से-कम समय में कैसे तय करें!"

"इसके लिए तो हमें इंद्र का गरुड़ मिल जाता तो मार्ग और शीघ्र पहुँचने आदि की सारी समस्या हल हो जाती।" छंदक के मस्तिष्क ने काम किया।

"पर वह अपना निजी वाहन देगा?"

"क्यों नहीं देगा!" छंदक बोला, "वह नरकासुर से कम अपमानित थोड़े ही हुआ है!"

"पर न मैं उससे कहने जाऊँगा और न तुमसे कहलाऊँगा।" मैंने छंदक से

कहा, "तुम जाओ और उसे सारा प्रकरण सुनाओ। मेरी मूल समस्या भी उसके सामने रखना। देखो, वह क्या कहता है!"

इधर मैं शेष तैयारी में लगा। अचानक मेरे मन में आया कि सोलह हजार नारियों के उद्धार की समस्या है। बहुतों में तो मुक्त होने की शायद इच्छा ही शेष न रह गई हो। यातना भोगते-भोगते वे उसे जीने लगी होंगी। इसके लिए उनकी मरी हुई इच्छा शक्ति को जगाना होगा। हो सकता है, उनके बीच गुप्तचरी भी करनी पड़े। इस काम के लिए पहला व्यक्तित्व तो सुभद्रा का ही मेरे दृष्टिपथ में आया। उसके पराक्रम, योग्यता और कौशल की परीक्षा अभी-अभी हो चुकी थी; पर वह अब अर्जुन की हो गई थी। जब मैं अर्जुन को नहीं ले जा रहा हूँ तब उसे ले जाना क्या उचित होगा?

इस क्रम में दूसरा नाम रेवती भाभी का था। हर दृष्टि से उपयुक्त। शायद सुभद्रा से भी अधिक उपयुक्त। इसके लिए भैया से अनुमति लेनी होती। यह उतनी बड़ी समस्या नहीं थी, जितनी बड़ी समस्या उनके लिए मुझे अपनी पत्नियों से अनुमति लेने की थी। क्या समझेंगी वे कि हम चार में से एक भी उनके उपयुक्त नहीं थीं।

अतएव मैंने अपनी पत्नियों से विचार किया। रुक्मिणी और मित्रविंदा तो एक बँधा-बँधाया जीवन जीने की आदी हो गई थीं। दोनों के बाल-बच्चे थे। उनके सामने पत्नीत्व से अधिक मातृत्व के निर्वाह की समस्या थी। इसीलिए मैंने उन दोनों में से किसी पर भी चलने के लिए दबाव नहीं दिया।

जांबवती से तो इस कार्य की आशा भी नहीं की जा सकती थी। वह तो पर्वतीय सौंदर्य वन का ताजा पुष्प थी। न तो उसकी सुरभि बासी पड़ी थी, न सौंदर्य और न आरण्यक अल्हड़ जीवन। वह स्वयं मेरे लिए समस्या बन जाती, वह मेरी समस्या का समाधान क्या करती!

मैंने किसी तरह से उसे भी काटा। ले-देकर अब सत्यभामा ही रह गई थी। उसमें उन गुणों की कमी नहीं थी। इस समय मुझे वह अपेक्षित भी थी। सुभद्रा के साहचर्य ने और उसकी स्वयं की परिस्थितियों ने उसे ठोंक-ठोंककर लोहा बना दिया था। वह मेरे साथ चलने के लिए बड़े सहजभाव से तैयार भी हो गई।

छंदक का कहना ठीक ही निकला। इंद्र बड़ा प्रसन्न हुआ, जब उसने सारे प्रकरण के साथ यह सुना कि अब नरकासुर को ठीक करने का संकल्प मैंने किया है। उसने कहा कि पृथ्वी पर तो क्या, अब नरकासुर को नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा। उसने बड़ी प्रसन्नता से गरुड़ तो दिया ही, साथ ही यह भी कहा, 'इसके

अतिरिक्त आपको जो ले जाना हो, उसे ले जाइए; क्योंकि यह पवित्र कार्य है। हजारों नारियों को उसने यातना शिविरों में डाल दिया है और इस अत्याचार का विरोध करनेवाले ब्राह्मणों व बुद्धिजीवियों को उसने बंदी बनाया है।'

"उसने यह नहीं पूछा कि इस पवित्र कार्य में मैं भी चल सकता हूँ?"

"उसमें इतना साहस कहाँ!" छंदक ने कहा, "वह तो इतना हतप्रभ और विकृत दिखाई दिया कि क्या बताऊँ! कभी इंद्र के सौंदर्य की चर्चा होती थी, आज तो इतना विद्रूप दिखाई दे रहा था कि पहले तो मैं उसे पहचान ही नहीं पाया। वह अपना और अपने पूर्वजों के पापों का फल भोग रहा है। उसके एक पूर्वज ने चंद्रमा के साथ मिलकर गौतम ऋषि के साथ जो घात किया था, आधी रात को चुपचाप उनके आश्रम में घुस गया था, उसके बाद ही उसका पतन हो गया। उसका प्रकृत वेश नष्ट हो गया। यदि उसमें तुरंत वेश बदलने की क्षमता न होती तो वह अब हममें से किसीके सामने आने लायक नहीं है।" इसके बाद वह हँसा—"जो मुखौटे के माध्यम से ही अपना मुख दिखा सकता है, वह क्या आपके साथ चल सकता है!"

□

पहले तो इच्छा हुई कि अर्जुन की ससुराल में विश्राम लूँ; पर चित्रवाहन की प्रकृति और नरकासुर से उसके संबंधों का स्मरण कर हिचकिचाया। फिर अचानक पहुँचकर मैं नरकासुर को जो आघात देना चाहता था, वह बात भी न बनती। अतएव मेरा गरुड़ सीधे नरकासुर की राजधानी मणलूर (मणिपुर) के पर्वत शिखर पर उतरा।

भगवान् की कृपा थी कि सूर्योदय हो रहा था। रात्रि में राक्षसों की शक्ति कई गुना अधिक हो जाती है। अतएव इस संकट से मैं बड़े सहजभाव से मुक्त हुआ।

यहाँ का प्रभात बड़ा आकर्षक होता है। पर्वत शिखर से निकलता सद्यः अरुणाभ का वर्तुल आर्यावर्त्त में होनेवाले सूर्योदय की प्रथम सूचना देता है। भट्ठी में तपते हुए लोहे-सा रक्तवर्णी हुआ आकाश उस मानवी आक्रोश के रंग की अभिव्यक्ति देता है, जो इस क्षेत्र में पहुँचकर लाचार-सा लगता है।

गरुड़ से उतरते ही वहाँ के कई अधिकारियों ने हमें घेर लिया। मैं मुसकराता हुआ चुपचाप खड़ा रहा। वे बड़ी सावधानी से मेरी ओर बढ़े और आकर हम लोगों के हाथों में हथकड़ियाँ डालने लगे।

मैंने मुसकराते हुए पूछा, "क्या आप लोगों की संस्कृति अतिथियों को भी

हथकड़ी लगाकर महाराज के पास ले जाती है? हम तो अपने अतिथि को देवता समझते हैं।''

''पर हम देवता नहीं, राक्षस हैं।'' उनमें से एक बोला। शायद यह उन अधिकारियों में प्रधान था।

''यदि आपके यहाँ ऐसा ही होता हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर यह तो सोचिए कि आप ऐसा क्यों करना चाहते हैं?''

''इसलिए कि आप कहीं भाग न जाएँ।''

मैंने हँसते हुए बड़ी सहजता से कहा, ''यदि हमें भागना होता तो हम यहाँ आते क्यों?''

मैं हँसता रहा और वह बड़े ध्यान से मुझे देखता रहा। फिर उसने अपने सहयोगियों की ओर देखा। वे सभी आश्चर्यचकित-से हमें देख रहे थे।

''यह गरुड़ तो इंद्र का है।'' उसने कहा।

मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

''तो फिर आप लोग इंद्र के भेजे हैं?''

''नहीं।''

''फिर कौन हैं?''

''इसका रहस्य तो महाराज के यहाँ पहुँचने पर ही खुलेगा।'' मैंने कहा।

अब वे और चक्कर में पड़े।

''पहले मुझे अपने महाराज के यहाँ ले चलो।''

□

नरमुंडों से बने सिंहासन पर बैठा नरकासुर ऐसा लग रहा था जैसे मनुष्य का परम भय घनीभूत होकर साकार हो गया हो। कुछ समय तक हमें विस्फारित नेत्रों से वह देखता ही रह गया। फिर अट्टहास करते हुए बोला, ''आर्यावर्त्त का भगवान् यहाँ कैसे?''

''मुझे तो यहाँ कोई भगवान् दिखाई नहीं पड़ रहा है।'' उसका व्यंग्य समझकर भी नासमझ बनते हुए मैं बोला।

''पर मुझे तो दिखाई पड़ रहा है।''

''तब तो आप भाग्यवान् हैं।'' मैंने कहा, ''सुना है, जब राक्षसों को भगवान् दिखाई देने लगता है तब उनकी मुक्ति के क्षण निकट आ जाते हैं।''

''तो क्या मेरी मुक्ति होने वाली है?'' वह अट्टहास करते हुए बोला।

''यदि सचमुच भगवान् दिखाई पड़ रहा होगा तो ऐसा ही होगा।'' मैंने

कहा और वह मेरी बात पर और भी जोर से हँसा। काले बादलों से बने फूटे घड़े से निकलता उसका अट्टहास काफी तरल और भयावह था।

जब उसकी हास्यधारा थमी तब मैंने अपने साथियों का परिचय कराया और अंत में कहा, ''यह सत्यभामा है, मेरी पत्नी। आपके यहाँ आने के कई कारणों में से यह भी एक है।''

सत्यभामा की ओर अचरज से देखते हुए वह बोला, ''अच्छा! तो क्या चाहती है तुम्हारी पत्नी?''

''यह आपका अंत:नगर देखना चाहती है।''

''क्यों?''

''क्योंकि इसे आश्चर्य है कि सोलह हजार से अधिक नारियाँ एक स्थान पर सकुशल कैसे रहती हैं। हमारे यहाँ तो दो नारियाँ भी एक स्थान पर सकुशल रह नहीं पातीं।'' इतना कहते-कहते मुझे हँसी आ गई। मेरा व्यंग्य संपूर्ण नारी जाति पर था; पर वह समझ नहीं पाया।

फिर भी मेरी हँसी में उसने अपनी हँसी मिलाई। 'ओ हो, हो' कर अनायास हँसता रहा और अंत:नगर में जाने की सत्यभामा को अनुमति दे दी। एक अधिकारी को सत्यभामा के साथ लगाया गया। मैंने छंदक को संकेत किया। वह भी उसके साथ चला।

''पर तुम्हारा यह व्यक्ति वहाँ नहीं जा सकता।'' उसने कहा।

''मेरी पत्नी भी किसी पर पुरुष के साथ वहाँ जाना पसंद नहीं करेगी।''

अब समस्या जटिल हो गई। वह अधिकारी भी सत्यभामा के साथ कैसे जाए? एक मध्यम मार्ग निकाला गया। दोनों व्यक्ति सत्यभामा को अंत:नगर में प्रवेश कराकर लौट आएँगे।

मैं यही चाहता था। मैंने चलने के पूर्व सत्यभामा की अच्छी तैयारी की थी। सुभद्रा ने इस तैयारी में सहयोग किया था। इस तरह वह युद्धक वेश में उस सुभद्रा से अच्छी लग रही थी, जो अर्जुन को लेकर पूरे रंगस्थल को चीरती निकल गई थी। फिर उसे क्या करना है, इसे अच्छी तरह समझा दिया गया था।

उधर सत्यभामा अंत:नगर की ओर चली और इधर हमें नरकासुर के राजभवन के पार्श्व के भवन में ठहराया गया, जिसके चारों ओर राक्षसों का सजग पहरा था।

उन प्रहरियों के व्यक्त किए गए सम्मान के द्वारा न तो यह स्थान बंदीगृह लग रहा था और न निरंतर उनकी सजगता के कारण अतिथिगृह। शीघ्र ही समझ

में आया कि हो सकता है, राक्षस संस्कृति में अतिथिगृह और बंदीगृह के बीच की सीमा रेखा बड़ी क्षीण हो।

इस बीच मैंने छंदक को नरकासुर की पत्नी भूदेवी और उसके पुत्र भगदत्त को समझाने के लिए लगाया। उसकी पत्नी देववाणी थी। देवों की मानसिकता उसकी मानसिकता थी। मैंने छंदक से कहा, ''तुम नारी जाति की ईर्ष्या उसके मन में जगाओ। मेरा उल्लेख करते हुए कहो कि द्वारकाधीश आपके संतोष और सहिष्णुता की बड़ी प्रशंसा करते हैं कि एक उपपत्नी (सौत) को सहना तो लोगों के लिए असह्य हो जाता है, वह सोलह हजार उपपत्नियों को कैसे सह रही है। वह धन्य है!''

छंदक बड़ा प्रसन्न हुआ। मैंने अंधकार में उसे एक ऐसे मार्ग की ओर संकेत किया, जो सीधे प्रकाश की तरफ ले जाता था। नारी चाहे कहीं भी हो, राजमहिषी हो या क्रीत दासी—वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से कभी मुक्त नहीं होती। उसकी दुर्बलताएँ उसे कभी नहीं छोड़तीं। छंदक को उसी दुर्बलता से काम लेना था। उसे अपनी सफलता पर विश्वास हो गया।

फिर उसने भगदत्त के संबंध में पूछा, ''उसके लिए भी कोई रास्ता बताइए।''

मैंने कहा, ''उसका मार्ग भी उसकी माँ की बगल से जाता है। वह देवी माँ और राक्षस पिता का पुत्र है। उससे एकांत में बात करो। उसके देवत्व को जगाओ और बताओ कि राक्षसों का राज्य कभी चिरस्थायी नहीं रहा है। अत्याचार, हिंसा और अनाचार बहुत दिनों तक नहीं फलता। अब तुम्हारे पिता का अंत निकट है। तुम उनके अंत के राक्षसी भागीदार होना चाहते हो या पिता के राज्य के दैवी उत्तराधिकारी!''

छंदक भगदत्त की प्रकृति और निजी समस्याओं से पूर्व परिचित था। वह उसके विषय में अपनी सफलता उतनी असंदिग्ध नहीं समझता था जितनी भूदेवी के संबंध में। फिर भी वह एक आज्ञाकारी सहयोगी की तरह काम में लग गया।

उसी दिन मध्याह्न के भोजन के बाद मेरी बुलाहट राजदरबार में हुई। नरमुंडों के सिंहासन पर बैठे-बैठे नरकासुर ने मेरा स्वागत किया। जिस मंचक पर उसने मेरे बैठने की व्यवस्था की थी, उसमें नरमुंड लगे हुए थे। मैंने उसपर बैठने में असमर्थता व्यक्त की।

''यह तो राक्षसों का आसन है।'' मैंने कहा।

''तो राक्षसों के यहाँ तुम मनुष्यों के आसन की उम्मीद से आए थे!''

''उम्मीद तो मुझे नहीं थी, पर सोचा यही था; यद्यपि यह जानते हुए कि

तुम्हारे यहाँ कोई मनुष्य आता नहीं होगा।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''अतिथि का स्वागत उसकी मन:स्थिति, रुचि और संस्कृति के अनुसार होना चाहिए।''

''पर हमारे यहाँ यह प्रथा नहीं है।''

''इसीलिए तो यहाँ आया हूँ कि यहाँ भी मानवी प्रथा की स्थापना की जाए।'' मैंने कहा अवश्य, पर पहले उसने मेरी बात समझी नहीं।

थोड़ी देर बाद उसने गंभीर हो पूछा, ''तुमने क्या कहा?''

अब मैंने एकदम अपना स्वर और अपनी भाषा बदल दी—''मैंने जो कुछ कहा, उसे तो जाने दो। अब यह बताओ कि तुमने इतने लोगों की हत्या की, इतने निरपराधियों को मारा, अब भी तुम्हारी भूख शांत नहीं हुई?''

''यदि शांत हो गई होती तो मेरी असि म्यान में चली गई होती।'' मैंने जितना उसे उत्तेजित करना चाहा वह उतना हुआ नहीं।

''तो कब तक तुम ऐसा करते रहोगे?''

''जब तक मेरा भवन नरमुंडों से भर नहीं जाएगा।''

''और भवन को नरमुंडों से भर जाने के बाद क्या करोगे?''

''तब तो मैं शांति की साँस लूँगा।'' उसने परम प्रसन्न होकर कहा, ''आराम करूँगा।''

''आराम ही करना है तो तुम अभी से क्यों नहीं करते? इतना रक्तपात, इतनी हत्याएँ और इतनी निरपराध स्त्रियों को यातना शिविरों में डालना एकमात्र आराम करने के लिए है? जरा सोचो तो, इतने नरमुंडों से जब कभी समवेत चीख निकलनी आरंभ होगी तब क्या तुम आराम कर पाओगे?''

''पागल हुए हो क्या! इन नरमुंडों से कभी चीख भी निकल सकती है! कहीं मरा हुआ साँप भी फुफकारता है!''

''सामान्यतया तो नहीं फुफकारता; पर जब अत्याचार बढ़ जाता है तब मरा हुआ साँप क्या, जली हुई रस्सी भी फुफकारने लगती है।'' मैंने अपना स्वर तारसप्तक तक उठाया। मैंने वैसी ही प्रभावकारी मुद्रा बनाई जैसी कभी अपने मामा कंस के वध के समय बनाई थी—''असुरराज, जब तुम्हारा अत्याचार ही तुम्हें निगलने के लिए अपनी जिह्वा लपलपाने लगेगा, तब कोई तुम्हारी सहायता के लिए नहीं खड़ा होगा। ये सारे तुम्हारे सहायक और सेवक दूर खड़े होकर तमाशा देखेंगे, जब तुम्हारे कुकर्मों के कुत्ते तुम्हें नोचने लगेंगे। तब तुम एकदम असहाय, निरीह और एकाकी रहोगे।''

''ऐसा कभी नहीं होगा!'' वह चीखा।

"ऐसा ही होगा।" मैंने कहा।

मैंने देखा कि उसके मन में भय का जन्म होने लगा, जिसकी मुझे अपेक्षा थी। मैंने उसे और हवा दी; क्योंकि मनुष्य जब अपने से डरने लगता है तब उसके विनाश के लिए किसी और के डर की आवश्यकता नहीं रहती।

मैंने कहा, "अत्याचार के शिखर पर जीव मदांध हो जाता है। तब उसे एक हलका झोंका भी पराभव की अतल गहराई में गिरा सकता है। तुम्हारे विरुद्ध तो एक झंझावात उठने वाला है। सोलह सहस्र नारियों और उनके परिवारों की आहों का झंझावात। राजभवन में जुटाए गए नरमुंडों के ढेर-के-ढेर अब अंगारों में बदलने वाले हैं। तुम्हारा विनाश तुम्हारे सिर पर नाच रहा है। केवल एक स्पर्श भर की देर है।"

उधर छंदक ने अपना काम कर दिया था। उसने नरकासुर के पारिवारिक संबंधों को भीतर-ही-भीतर छलनी कर दिया था। उसके पुत्र भगदत्त और पत्नी भूदेवी को अपने प्रभाव में ले लिया था। अभी हमारा संवाद चल ही रहा था कि छंदक ने आकर जोर का अट्टहास किया।

नरकासुर विचलित हो गया। उसका अहं भू-लुंठित हो चुका था।

मैं प्रहार पर प्रहार करता चला गया। एक से बढ़कर एक वाग्बाण मारता गया—"यदि तुम्हें विश्वास न हो तो तुम अपने सहकर्मियों और परिजनों से पूछो, क्या वे तुम्हारे कुकर्मों का फल भोगने के लिए तैयार हैं!"

"तो तुम क्या उतनी दूर से यही सब कहने के लिए आए हो?"

"तो इसमें आश्चर्य क्या है! रावण को समझाने के लिए राम को इससे लंबी दूरी पार करनी पड़ी थी।"

"रावण ने राम की सीता हरी थी। मैंने तुम्हारा क्या किया है?"

"ये सोलह हजार स्त्रियाँ किसकी हैं?" मैंने अपनी आवाज को ऊँचा किया—"तो तुम कहोगे कि बहुत सारे मनुष्यों की। तो सुनो, ध्यान से सुनो, उन मनुष्यों की पीड़ा की समवेत चीख मैं हूँ। उनकी आहत छटपटाहट की समग्रता की ऊर्जा मैं हूँ।"

"तू तो मेरे मित्र का भानजा है।" (नरकासुर कंस का मित्र था) उसने मुझे मिलाने की नीयत से कहा।

इसी बीच छंदक को पता नहीं क्या सूझा कि वह उसकी पत्नी भूदेवी और पुत्र भगदत्त को बुला लाया।

मैं उन्हें देखते ही गरजा—"लो, आ गए तुम्हारे आत्मीय। पूछना हो तो पूछ

लो, ये तुम्हारे कुकर्मों के भागीदार होना चाहेंगे!''

''तुम सब हमारे वैभव के भोक्ता तो हो ही। फिर क्या हमारे कर्मों के भोक्ता न होगे?'' वह चीखा।

पर दोनों कुछ बोल नहीं पाए। उनकी सकपकाई आँखें कभी मेरी ओर और कभी उसकी ओर देखती रह गईं।

मैंने मौका अच्छा देखा। बोला, ''देखो, तुम कितने निरीह, कितने एकाकी और अकिंचन हो! रावण की मृत्यु का कारण भी सीता बनी। यहाँ भी एक सीता है—तुम्हारी पत्नी। दोनों भूदेवी थीं, दोनों भूपुत्री हैं। वह सीता निरपराधी साधुओं के रक्त की ऊर्जा का विग्रह थी और यह सीता भी सोलह हजार नारियों की निरपराध चीखों का प्रत्यय।'' इतना कहकर मैंने भूदेवी को प्रणाम किया और कहा, ''मैं इस सीता से आशीर्वाद लेते हुए तुम्हारा अंत करता हूँ।''

फिर मैंने उसे सँभलने का कोई अवसर दिए बिना ही उसपर चक्र चला दिया और पल भर में उसका सिर धड़ से अलग हो गया। रक्त की धारा बह निकली। नरमुंडों के सिंहासन के सामने ही नरकासुर का रुंड और मुंड—दोनों भू-लुंठित हो गए।

भूदेवी चकित। भगदत्त स्तंभित। सारे दरबारी स्तब्ध। मुर तो ऐसा भयातुर कि भागने को हुआ।

मैंने उसे रोकते हुए कहा, ''तुम कहाँ भागे जा रहे हो? तुम नरकासुर के महामात्य थे न! अब तुम भगदत्त के महामात्य होगे। सारी व्यवस्था ज्यों-की-त्यों होगी; पर अब राक्षसत्व नहीं होगा।''

इतना कहते हुए मैंने तुरंत उस परिवार का प्राचीन राजसिंहासन मँगवाया और बोला, ''जैसा इस पुराने स्वर्ण सिंहासन का दिन बदला वैसे ही इस राज्य का भी दिन बदला।'' और उसपर भगदत्त को बैठाया। नरकासुर के रक्त से ही उसका राजतिलक किया। राजभवन के परकोटे से भेरी (नगाड़ा), तूर्य और जय मंगल (महाभारत काल का एक वाद्य यंत्र) बजाए जाने लगे।

पूर्व योजना के अनुसार मैंने रक्ताक्ष और कुशाग्र को भी अपने साथ नहीं रखा। उन्हें भी नगर में इस स्थिति का सामना करने योग्य वातावरण बनाने में लगा दिया था। इन वाद्य यंत्रों की ध्वनि सुनकर वे समझ गए कि नरकासुर मारा गया। देखते-देखते पूरे नगर में इसकी चर्चा रेंग गई कि पुराना राजा चला गया, नया राजा आ गया। असुर राज समाप्त हुआ और दैवी राज की स्थापना हो गई।

उधर अंत:नगर में यह सब करने के लिए सत्यभामा तैयार थी ही। उसने

विरुपाक्ष और पंचजन नगर रक्षकों से कहा, ''जय मंगल बज रहा है। नरकासुर मारा गया। सत्ता बदल गई। शासन बदल गया।''

दोनों घबराए हुए राजभवन की ओर दौड़े। अंत:नगर की सारी सुरक्षा व्यवस्था ध्वस्त हो गई। वहाँ बंदी सोलह सहस्र नारियों के उत्साह का ठिकाना न रहा। अत्याचार, उत्पीड़न और दलन से उनका दबा प्रतिशोध अचानक भभक पड़ा। जो जिस स्थिति में थी उसी स्थिति में, जो अस्त्र मिला उसीको लेकर चल पड़ीं। किसीके हाथ में कुठार, किसीके हाथ में कुंत, किसीके हाथ में यष्टि—और नहीं कुछ मिला तो किसी वृक्ष की छोटी-मोटी डाल ही सही। सबके हाथों में कुछ-न-कुछ था। वे सत्यभामा के नेतृत्व में आगे बढ़ीं।

कोलाहल हो गया—जैसे धरती काँपी हो, जैसे ज्वालामुखी फूटा हो और चारों ओर क्रांति का लावा बिखर गया हो।

सोलह हजार दबी-कुचली महिलाएँ अब आग हो गई थीं। उन्होंने अपने आक्रोश का धुआँ उगलते हुए राजभवन को घेर लिया; पर कहीं कोई शत्रु तो था नहीं। तुरंत उनका प्रतिशोध मेरी प्रशंसा में बदल गया। वे उत्साह में मेरा जय-जयकार करने लगीं। स्वतंत्रता के उल्लास में वे कुछ भी करने को आतुर थीं। यह देखकर राक्षस भीगी बिल्ली की तरह भागने और दुबकने लगे। वातावरण इतना गरम, माहौल इतना उबलता हुआ कि एक-एक क्षण का विलंब भारी पड़ सकता था। मैंने सोचा, जो भी करना हो, करते चलो। जनता को जरा भी सोचने का मौका न मिले। फिर प्रतिक्रियाएँ उभरने लगेंगी। ऐसे वध-कांडों के बाद सहानुभूति की एक लहर आती अवश्य है, भले ही वह हलकी-फुलकी हो; पर उन्हें आने देना नहीं चाहिए।

मैंने तुरंत नरकासुर की अंत्येष्टि की व्यवस्था करवाई। इस अवसर पर पूरे जन-समुद्र को संबोधित करते हुए मैंने कहा, ''जानेवाला तो चला गया। अब उससे हमारी शत्रुता क्या!'' मैंने लोगों को समझाया—''आप सब अब न किसीकी प्रशंसा करें और न किसीकी निंदा। यह सब नियति का परिणाम है, जिसमें हम मात्र निमित्त बनते हैं। हम कर्ता नहीं हैं। इसीसे हमारा जय-जयकार करना व्यर्थ है। यह समय है दिवंगत आत्मा की शांति के लिए भगवान् से प्रार्थना करने का।''

हंगामा थमा। अंत्येष्टि आरंभ हुई। राजा मरा था। राजकीय परंपराओं और प्रथाओं का अनुपालन अनिवार्य था। देर होना स्वाभाविक था। फिर भी मैं यथाशीघ्र काम आगे बढ़ाता गया। जब नरकासुर की चिता में आग लगाई गई, मैंने आकाश

की ओर देखा। सूर्यास्त हो रहा था। नरकासुर के रक्त की लाली पश्चिमी क्षितिज पर फैल चुकी थी।

□

मुझे नरकासुर के वध का समाचार यथाशीघ्र द्वारका भेजना था। चलते समय मैंने माताजी, भैया और रुक्मिणी से यही वादा किया था। परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि छंदक, रक्ताक्ष एवं कुशाग्र में से मैं किसीको मुक्त कर सकूँ; क्योंकि मैं अब भी चारों ओर से राक्षसों और उनकी अवाक् व स्तब्ध पाशविकता से घिरा था। मैंने उन्हें दूर करने की चेष्टा भी नहीं की। यथावत् उन्हें बनाए रखा। उस स्वाभाविक स्तब्धता को दूर करने का तात्पर्य था, एक सचेतन अशांति को आमंत्रित करना। वह पश्चात्तापमूलक होती और मेरे लिए समस्या बन जाती। उस दुःख भरे सन्नाटे का लाभ उठाते हुए उनका विश्वास जीतने के लिए मैं उनपर और अधिक विश्वास करने लगा। मैंने डाकू को ही कोषाध्यक्ष बनाने की नीति का अनुसरण किया, जिससे कोष तो रहता ही है, साथ ही डाकू की डाकुता भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है।

मैंने छंदक को अर्जुन के श्वसुर चित्रवाहन के यहाँ भेजा। इस असुर राज से वह इतना दबा व डरा था कि इतनी बड़ी घटना हो गई, वह आँखें बंद किए पड़ा रहा और मरे हुए साँप को जीवित ही देखता रहा। सोचता रहा कि राजा के बदलने से क्या होता है, सारी व्यवस्था तो वही रहेगी।

मैंने छंदक से कहा, "उसे मेरे पास अपने साथ ही लिवाते आओ।"

यह बात अंत्येष्टि के दूसरे प्रभात की है। मैंने सोचा था कि मध्याह्न तक वह आ जाएगा; पर वह रात्रि के प्रथम प्रहर में आया—और वह भी एकदम छिपकर; जैसे कोई देख लेगा तो अनर्थ हो जाएगा।

उसने आते ही कहा, "नरकासुर का वध तो हो गया। अब क्या होगा?"

"अब तुम्हारा राज्य निर्भय होगा।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "तुम केवल शांति चाहते थे न! इसी शांति के लिए तुमने नरकासुर से मित्रता की थी! कितनी विचित्र थी तुम्हारी शांति—अशांति के घेरे में दुबकी हुई! अब वह घेरा टूट गया। फलतः तुम्हारी शांति की इच्छा को और फैल जाना चाहिए तथा उसे यहाँ तक लहराना चाहिए।"

वह मेरी बात समझ नहीं पाया वरन् उसने बड़े आतंकित स्वर में पूछा, "बोलिए, क्या आज्ञा है? आपने मुझे क्यों बुलाया है?"

"तुम तो ऐसे छिपकर आए हो और डरे-डरे-से लगते हो जैसे मुझसे

मिलकर कोई अपराध कर रहे हो।''

''मित्र के हत्यारे से मिलना क्या अपराध नहीं है ?'' उसके कथन में बाल-सुलभ ईमानदारी थी।

''ओ, अब समझ में आया!'' मैंने हँसते हुए कहा, ''यदि ऐसा सोचते हो तो सुनो। मैंने तुम्हारे मित्र की हत्या नहीं की है वरन् उसे मुक्ति दिलाई है—एक आपराधिक जीवन से, गहन अशांति से। अब वह शाश्वत शांति में चला गया है।''

मैंने इतने प्रभावशाली ढंग से कहा कि वह एक खिसियानी हँसी हँसने लगा। फिर बोला, ''अच्छा बताइए, अब मेरे लिए क्या आज्ञा है ?''

''मैंने तुम्हें किसी प्रकार की आज्ञा देने के लिए नहीं बुलाया है, वरन् तुम्हारे कर्तव्यबोध का स्मरण कराने के लिए बुलाया है। पहले तो तुम भगदत्त से मिलो। उसके पितृ-वियोग के लिए संवेदना व्यक्त करो। इस संकट की घड़ी में उसे हर प्रकार का आश्वासन दो और कल संध्या को होनेवाले उसके राज्याभिषेक में उपस्थित होओ।''

मेरी बात सुनकर वह चलने को हुआ। बोला, ''कल दो-तीन घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते चला आऊँगा।''

''आना तो सही समय पर और सही तरीके से। इस तरह बुझे-बुझे और आतंकित-से मत आना; वैसे आना जैसे कोई सम्मानित राजा किसी सम्मानित राजा के यहाँ आता है। और यह समझकर आना कि नरकासुर का ही नहीं अंत हुआ वरन् उसके साथ-साथ एक राक्षसी व्यवस्था का भी अंत हो चुका है।''

''ऐसा!'' उसका मुख जो खुला तो खुला ही रह गया; जैसे उसे विश्वास ही न हो।

मैंने छंदक से कहा, ''अपने अतिथि का कुछ दूर तक साथ देते हुए उसे विश्वास दिलाओ कि यहाँ सबकुछ बदल गया है।''

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे मैं भगदत्त और उसकी माता भूदेवी से मिला। मुर और उसके पुत्र उसे घेरे बैठे थे। मेरे पहुँचते ही सब हड़बड़ाकर खड़े हो गए। मेरे लिए ससम्मान बैठने की व्यवस्था की गई।

मैंने कहा, ''मैं आपके दुःख से दुःखी हूँ—और इसलिए भी दुःखी हूँ कि मैं ही आपके दुःख का कारण बना। और सही कहूँ तो भवितव्यता यह सब पहले ही निश्चित कर चुकी थी। यह 'होनी' न तो मेरे वश में थी, न आपके और न किसीके। हम सब तो एक अदृश्य सत्ता के हाथ के खिलौने हैं। उसकी इच्छा के अनुसार ही हमें जीना है, चाहे हम हँसकर जीएँ या रोकर।''

इसपर उनकी प्रतिक्रिया भी करुणार्द्र ही रही।

मैंने उन्हें समझाया—"स्थितियाँ आपसे छिपी नहीं हैं। महाराज ने बहुतों से विरोध लिया था। वे विरोधी बाहर के भी हो सकते हैं और भीतर के भी।"

इतना सुनना था कि मुर ने विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखा; जैसे वह पूछ रहा हो कि भीतर से आपका तात्पर्य क्या है?

मैं उसकी परवाह किए बिना बोलता रहा—"उन विरोधियों में सुगबुगाहट होना स्वाभाविक है। इसलिए हमें सचेष्ट व सावधान होना चाहिए और आगे का कार्यक्रम बनाना चाहिए।"

"अभी तो हम शोक से उबर नहीं पाए हैं, आगे का कार्यक्रम क्या होगा?" राजमाता भूदेवी बोलीं।

"हमें अपने राजसिंहासन को खाली नहीं रखना चाहिए।"

"आपने तो भगदत्त का उसके पिता के रक्त से तिलक कर दिया है।"

"वह तिलक तो तात्कालिक था। मेरे द्वारा उत्तराधिकारी की घोषणा मात्र थी।" मैंने कहा, "अभी उस घोषणा पर जनता की मुहर लगनी शेष है। जब तक उस राजतिलक में जनता की भागीदारी नहीं होगी तब तक उसके मन में यह बात नहीं होगी कि यह हमारा राजा है। हमने इसे स्वीकार किया है। इसके पुण्य-पाप के साथ हमारा और हमारे पुण्य-पाप के साथ इसका पुण्य-पाप जुड़ा है; क्योंकि वास्तविक शक्ति तो जनता में है। राजा तो उस शक्ति का केवल संरक्षक होता है।"

"राजा राजशक्ति का संरक्षक है या उसका मूल उत्स है?" मुर बोला।

"राक्षसी राज की बात मत करो। अब यह दैवी राज है।" मैंने मुर को एकदम डाँट-सा दिया और तुरंत कार्यक्रम दिया—"आज संध्या राजभवन के विशाल प्रांगण में राज्याभिषेक की व्यवस्था की जाए। सूचना अविलंब नगर में प्रसारित कर दी जाए।"

राजमाता ने उसी समय महामात्य मुर को आदेश दिया कि पूरी राजधानी में सूचना प्रसारित की जाए और राजभवन के प्रांगण में संध्या के कार्यक्रम की व्यवस्था हो।

इस प्रकार सारा कार्यक्रम मुर को सौंपा गया; पर मैं इसके पूर्व ही सारी योजना छंदक, रक्ताक्ष और कुशाग्र को समझाकर मिलने आया था। वे अपने कार्य में लग गए थे।

मैं अभी उन लोगों के साथ बैठा ही था कि मुझे सूचना मिली कि राजभवन के सामने की सारी पहाड़ी उन स्त्रियों से भर गई है, जो अंत:नगर से मुक्त की गई

हैं। जब मैं आया था तब भी मुझे बहुत सारी स्त्रियाँ झुंड में आती दिखाई दी थीं। कुछ ने मुझे निकट आकर अभिवादन करने की चेष्टा भी की थी; पर मैं इतनी जल्दी में था कि सबके अभिवादन का उत्तर हवा में हाथ हिलाकर देता और बढ़ता चला आया था।

मैं उनसे मिलने दक्षिण की ओर के विशेष मार्ग से निकला। इस मार्ग का उपयोग महाराज बहुधा उस समय करते थे, जब उन्हें राजभवन से सीधे जनता के बीच आना होता था। सुरक्षा की दृष्टि से इसमें काफी ऊँचाई पर गवाक्ष बने थे। उसीसे प्रकाश उस लंबे गलियारे में आता था। कई गवाक्ष छोड़-छोड़कर इन्हीं गवाक्षों के नीचे वातायनों की भी व्यवस्था थी। उन्हींमें से एक से मैंने देखा कि चित्रवाहन रथ पर सवार अपनी पूरी वेशभूषा में बड़े शानदार ढंग से चला आ रहा है। उसके साथ कुछ और लोग भी हैं। शायद उसके अमात्य मंडल के सदस्य हों।

बाहर आकर देखा, चढ़ते सूर्य की स्वर्णिम धूप में सारी पहाड़ी नहा चुकी है। खुले आकाश की ऐसी कृपा इस प्रदेश पर बहुत कम होती है। बहुधा वर्षा ही होती रहती है। कल रात भी अच्छी बारिश हुई थी।

मुझे देखते ही सारी स्त्रियाँ मेरी ओर दौड़ीं। मैं उछलकर पहाड़ी की सबसे ऊँची शिला पर चढ़ गया और मुसकराते हुए सबका अभिवादन स्वीकार किया। वे बराबर जय-जयकार करती रहीं—''माता की जय! मुक्तिदाता की जय! द्वारकाधीश की जय!''

मैं मुसकराता रहा। बार-बार उन्हें चुप होने का संकेत करता रहा; पर वे माननेवाली कहाँ थीं। बराबर उनकी ध्वनि तेज होती चली जा रही थी और आस-पास की पहाड़ियों से चोटें खाकर उन ध्वनियों की गूँज-अनुगूँज ऐसी टकरा रही थीं कि उनकी अर्थवत्ता खो जा रही थी; पर उनका अस्तित्व कई गुना अधिक होकर आकाश फाड़े जा रहा था।

जब उन्हें चुप कराने का मुझे कोई उपाय दिखाई नहीं दिया, तब मैंने कटि में खोंसी अपनी वंशी निकाली और लगा 'भैरवी' बजाने। एक तो प्रभात का समय, दूसरे राजभवन पर छाया मृत्यु का सन्नाटा। इन दोनों स्थितियों के लिए भैरवी का स्वरबंध अनुकूल था। करुणार्द्र निस्तब्धता को दिवस की आरंभिक ऊष्मा से जोड़ता यह राग एक ओर विराग और दूसरी ओर अनुराग समन्वित करता ऐंद्रजालिक प्रभाव छोड़ने लगा। मना करने पर भी न माननेवाली उन स्त्रियों के होंठ जैसे सिल गए और कान¨!

युद्ध, कलह, तनाव और वितृष्णा के बीच मेरी वंशी का स्वर एक शांत,

शीतल वायु का झोंका था; जैसे संतप्त लू के बीच मलयानिल। वे स्त्रियाँ उसमें लगभग खो गईं और जब वंशी का बजना बंद हुआ तब लगा मानो स्वरों का एक अद्भुत सपना टूट गया।

उन्होंने मेरी वंशी की चर्चा तो सुनी थी, पर उसका प्रभाव आज ही देखा कि आखिर राधा वंशी से इतना डाह क्यों करती है!

वंशी की धुन का नशा जब धीरे-धीरे उतरा तब अधिकांश स्त्रियों ने अपनी समस्या एक साथ रखी—"अब हम क्या करें?"

"जो आपकी इच्छा हो।" मैंने मुसकराते हुए कहा।

"अब तो कोई इच्छा ही नहीं रही।" उन्होंने कहा, "जब हम नरकासुर की बंदिनी थीं तब स्वतंत्र होने की इच्छा थी; पर जब स्वतंत्र हो गईं तो जैसे कोई इच्छा ही नहीं रही। कहाँ जाएँ? क्या करें? बंदिनी अवस्था में कोई तो हमारा था—भले ही वह राक्षस ही रहा हो; पर अब तो कोई हमारा नहीं है।"

"जिसका कोई नहीं होता, उसका मैं होता हूँ।" यह मेरा 'मैं' महा चेतना की उस समग्रता का एक अंश था, जिसने युद्धस्थल में मोहग्रस्त अर्जुन से कहा था—'मामेकं शरणं व्रज'।

मेरा इतना कहना था कि उन महिलाओं के बीच एक संक्रामक खिलखिलाहट हर अधर का स्पर्श करती निकल गई। फिर उनमें से एक ऊँचा स्वर मेरी ओर फेंका गया—"हम इतने हैं और आप एक!"

"तो इससे क्या हुआ?" मैंने बड़े सहजभाव से कहा, "सृष्टि के मूल में भी तो यही है। यह सृष्टि एक का ही विस्तार है और अंत में उसकी समग्रता का समर्पण भी एक में ही होता है—एकोऽहं में बहुस्यामि।"

"तो आज से हम आपको अपना स्वामी समझते हैं।" सबने एक स्वर से कहा, "पर हम आपको किस भाव से देखें—पति भाव से, पालक भाव से या स्वत्वाधिकारी भाव से?"

"जो मुझे जिस भाव से देखता है, मैं उसे उसी भाव में दिखाई देता हूँ।"

मेरा हर शब्द उनपर चमत्कारी प्रभाव डाल रहा था। उनके विस्फारित नेत्रों से तो ऐसा लग रहा था कि वे वह देख रही हैं, जिसकी उन्हें कल्पना तक नहीं थी। वे वह सुन रही थीं, जिसके सुनने की बात उन्होंने कभी सोची भी नहीं थी।

"तब तो हम सब आपके साथ द्वारका चलेंगी।"

"जहाँ आपकी इच्छा हो वहाँ जाइए, वहाँ रहिए या कहीं रहिए।" मैंने कहा, "यदि आप मुझे समर्पित हैं तो जहाँ रहेंगी वहीं आपकी द्वारका हो जाएगी।"

फिर तो वे करतलध्वनि कर नाचने लगीं।

मैंने उन्हें रोका—"यह आपके नृत्य का समय नहीं है। आपके नृत्य का समय तो आज संध्या को होगा, जब भगदत्त का राजतिलक होगा।"

सबने स्थिति की गंभीरता समझी। मौन हो गईं और धीरे-धीरे हटने-बढ़ने लगीं।

□

मध्याह्न से ही राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी। राजभवन परिसर के विशाल प्रांगण में जनता के समक्ष यह समारोह संपन्न होना था। मैंने सोचा, इस बार राजतिलक पहाड़ी के सबसे वृद्ध व्यक्ति से क्यों नहीं कराया जाए। क्योंकि नरकासुर के वध में उसके परिवार ने जिस प्रकार की भूमिका निभाई थी, भले ही भयवश, आतंकवश या किसी प्रकार की परिस्थितिवश ऐसा किया गया हो; उसको देखते हुए मेरा कर्तव्यबोध ऐसा कुछ करने के लिए मुझे विवश कर रहा था, जिससे भगदत्त की राजव्यवस्था दृढ़तम हो जाए। अतएव मैं सीधे राजमाता से मिला। मैंने उन्हें अपनी मंशा समझाई।

"इससे क्या होगा?" उन्होंने पूछा।

"इससे यह होगा कि प्रजा समझेगी कि राजा को हमने बनाया है, इसलिए उसकी सुरक्षा का दायित्व भी हमपर है। प्रजा में ऐसा विश्वास पैदा करना आवश्यक है; क्योंकि आप किसी ओर से भी सुरक्षित नहीं हैं। हर पड़ोसी राजा आप पर आक्रमण कर सकता है; क्योंकि नरकासुर के संबंध किसीसे अच्छे नहीं थे। कहीं से भी प्रतिशोध की आग भड़क सकती है।"

"आप कहते हैं तो बात ठीक लगती है; पर ऐसी संभावना दिखाई नहीं देती।" इसी क्रम में राजमाता ने चित्रवाहन की चर्चा की और कहा, "वह आया है संवेदना व्यक्त करने; पर उसने हर प्रकार की सहायता का आश्वासन भी दिया है।"

मैं यह कहने की स्थिति में तो नहीं था कि यह सारा नाटक मेरा रचा हुआ है, पर इतना अवश्य कहा, "लगता है, चित्रवाहन काफी समझदार व्यक्ति हैं। वे जानते हैं कि पड़ोसियों के साथ कैसे रहना चाहिए।"

वह कुछ बोलीं नहीं। मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और पहाड़ी के सबसे वृद्ध व्यक्ति की खोज शुरू हो गई।

मैं अपने कक्ष में आया। यह लड़ाई इतनी आसानी से जीत लूँगा, इसका मुझे विश्वास नहीं था। इसलिए परम संतुष्ट था। लगा, सबकुछ मेरे अनुकूल हो

गया। कहीं से भी मेरा विरोध नहीं। पर आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि नगर के सबसे वृद्ध से राजतिलक कराने का विरोध छंदक ने ही किया।

उसने कहा, ''यह परंपरा शास्त्रसम्मत है नहीं। इसका परिणाम यह होगा कि प्रजा यह समझेगी कि राजा हमने बनाया है, तो हम उसे हटा भी सकते हैं।''

''तो समझे, इससे हानि क्या है? वरन् प्रजा की यह समझ राजा को निरंकुश होने नहीं देगी। वह कुछ भी ऐसा नहीं करेगा, जिससे प्रजा का अहित हो।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''एक बात जानते हो कि नहीं, देवताओं ने मनुष्य से अधिक पाप किए हैं। जानते हो क्यों?''

वह मौन हो मेरा मुख देखता रह गया।

''इसलिए कि उन्हें मृत्यु का भय नहीं था।'' मैंने हँसते हुए कहा, ''मृत्यु का भय मनुष्य को अनेक पापों से दूर रखता है। पूर्ण निर्भयता के शिखर पर ही राक्षसत्व का उदय होता है। तुमने देखा होगा कि सारे राक्षस दैवी वरदान ने ही बनाए हैं। और रह गई किसी व्यवस्था के शास्त्रसम्मत होने की बात, तो इसकी चिंता मत करो वरन् नई व्यवस्थाओं को जन्म दो। समय पाकर वही शास्त्रसम्मत हो जाएँगी। पहले व्यवस्था आई तब शास्त्र आया। शास्त्र तो पूर्ववर्ती व्यवस्था का आलेख है, जो बाद में परवर्ती व्यवस्था का मार्ग बनता जाता है।''

छंदक सोचता रहा।

मैं बोलता गया—''मुझे यहाँ केवल नरकासुर का ही वध नहीं करना था; पर उन सामाजिक व्यवस्थाओं का समूल उच्छेद करना था, जिन्होंने त्वष्टा जैसे ऋषि को मेरे यहाँ भेजा है।''

छंदक का गंभीर मौन इस वार्त्तालाप का पूर्ण विराम बना।

वह घड़ी भी आई, जब राजतिलक होना था। मणलूर नगर के सारे लोग राजभवन के परिसर और आसपास की पहाड़ियों पर इकट्ठे हो गए थे। मुर ने स्वयं कहा कि इतनी भीड़ मैंने कभी देखी नहीं थी।

''यह इस अंचल की वास्तविक स्वतंत्रता की अनुभूति का उत्सव है। एक भयानक स्वप्न के अंत का प्रभात है।'' मैंने कहा, ''आज जनता पहली बार उस स्वतंत्रता का अनुभव कर रही है, जिसके पाने की कल्पना उसने अपने जीवन में तो नहीं की होगी।''

मैंने उस उत्सव का पुरोधा भी त्वष्टा को बनाया। वे बड़े प्रसन्न थे। रोम-रोम से मेरे आभारी थे। उन्होंने अपनी पुत्री कशेरू से भी मेरा परिचय कराया, जिसे मूर्च्छित कर नरकासुर ने उसका अपहरण किया था; पर मैंने बहुत अधिक

ध्यान नहीं दिया।

कार्यक्रम का संचालन मुझे ही करना था। मैं अपने साथियों के साथ ठीक समय से अपने स्थान पर पहुँच गया। त्वष्टा के सहयोगी ब्राह्मणों ने मेरा स्वस्तिवाचन आरंभ किया। इसके बाद वह वृद्ध लाया गया, जिसे आज राजतिलक करना था। आते ही सबसे पहले उसने मेरा चरण स्पर्श करना चाहा।

मैंने तुरंत उठकर उसे वक्ष से लगाया और अपनी बगल में बैठाते हुए बोला, "आज तो आप हम लोगों के वरेण्य हैं, पूज्य हैं।"

अब मैंने पूरी प्रजा को संबोधित किया। मेरे संबोधन में कही गई बातों का सारांश इस प्रकार है—"काली रात का अँधेरा समाप्त हुआ। नया सूर्योदय हो रहा है। इस सूर्योदय को क्षितिज पर आप ही स्थापित कर रहे हैं। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि राजकुमार भगदत्त का राजतिलक राजपरिवार के किसी सदस्य के हाथों नहीं, एक पर्वतपुत्र वयोवृद्ध के हाथों हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि यह राजा आपका है और आपके लिए है। इसकी रक्षा करना आपका कर्तव्य ही नहीं, आपका धर्म है। जहाँ राजा प्रजा की रक्षा करना और प्रजा राजा की रक्षा करना अपना धर्म समझती है, वहीं स्वर्ग का राज्य स्थापित होता है। अब तक यहाँ 'नरक' का राज्य था, जहाँ प्रजा क्रीत दास थी और राजा ईश्वर का अवतार। अब स्वर्ग का राज्य है, जिसकी प्रजा अनुशासित राजधर्म के अधीन होगी और राजा प्रजा की निर्मिति।"

मुझे ठीक से याद है कि मेरा अंतिम वाक्य था—"भयानक राक्षसी सपनों के बाद एक खुले आकाश का सुनहरा संसार आपको मिल रहा है। आप सब उसका स्वागत कीजिए।"

अजीब कोलाहल हुआ। बाद में पता चला कि इस प्रकार से प्रसन्नता व्यक्त करना यहाँ की परंपरा है। करतलध्वनि से मेरी इस घोषणा का स्वागत किया गया। मैंने इस भाषण में त्वष्टा जैसे सुविधाभोगी आचार्यों को भी नहीं छोड़ा। मैंने कहा, "नरकासुर एक दिन में नहीं पैदा होते। उनके निर्माण में युग लग जाते हैं। परिस्थितियाँ, देवताओं का आशीर्वाद और वरदान ऐसे असुरों के निर्माण में तो सहायक होते ही हैं, साथ ही त्वष्टा जैसे आचार्यों का अत्याचार सहते हुए जीवित रहने का मोह भी कम सहायक नहीं होता। आप जानते हैं, मैं आपकी सेवा में कब आया? जब आचार्य त्वष्टा की अपनी बेटी का अपहरण हुआ। देश की जब तक इतनी बेटियों का अपहरण हुआ तब तक आचार्य कुल पर जीवन की मोहनिद्रा छाई रही। वह जरा भी विचलित नहीं हुआ। यह स्वार्थपरता समाज में तो हो सकती है;

पर जब आश्रमों को यह ग्रसती है तब नरकासुर जैसे राक्षसों का जन्म होता है।''

उस समय मेरी प्रशंसा में ऐसा कोलाहल हुआ कि क्या बताऊँ। लोग नाच उठे। छंदक का यह भी कहना था कि उस समय मेरी वाणी से अधिक मेरी मुद्रा आग उगल रही थी। इसके बाद मेरी भी दृष्टि आचार्य त्वष्टा की ओर कुछ गई। वह डूबती संध्या के पहले ही चुल्लू भर पानी में डूब चुका था।

□

छह
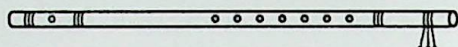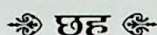
नरकासुर के वध से पूरे आर्यावर्त्त में मेरी धाक जम गई। मेरा ईश्वरत्व अब और अधिक प्रभावशाली हो गया। लोग मुझमें किसी दैवी शक्ति के दर्शन करने लगे। यहाँ तक कि इस घटना को सुनने के बाद जरासंध की पहली प्रतिक्रिया थी कि आज दूसरा कंस मारा गया। फिर नरकासुर के अंत:नगर में बंदी सोलह सहस्र स्त्रियों में से अधिकांश ने द्वारका चलने का निश्चय किया था। उन्हें जो भी वाहन उपलब्ध हुआ, उसी पर चढ़ चलीं—और नहीं तो उनमें से बहुतों ने पैदल ही यात्रा आरंभ की—मार्ग में मेरा गुणगान करती हुईं।

मैं गरुड़ से लौट रहा था। अनेक लोग उसकी तेज गति देखने के लिए हमारे मार्ग के दोनों ओर एकत्र हो जा रहे थे। इच्छा तो हुई कि हम गिरिव्रज (मगध की राजधानी) से होते चलें; पर मगध राज्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही मेरा विचार बदल गया। बल्कि छंदक ने मेरा मजाक भी उड़ाया—"लगता है, जरासंध से अभी भी आप डरते हैं।"

"डरता तो नहीं हूँ, पर अभी उसका सामना करना नहीं चाहता।" मैंने कहा, "कहीं-न-कहीं हमारे मन में अभी विजय का उन्माद है—और उन्माद की स्थिति में अपने स्थायी शत्रु से नहीं मिलना चाहिए।"

"पर कहीं-न-कहीं अपने वाहन को विश्राम देना चाहिए।" हँसते हुए छंदक ने कहा।

"आगे काशी राज्य में विश्राम लेंगे। सुशर्मा से भी भेंट हो जाएगी और गिरिव्रज की सारी सूचनाएँ भी मिल जाएँगी।" मैंने कहा।

और मगध राज्य से आते हुए भी हम उसकी राजधानी में नहीं गए; फिर भी आकाश को छूता हुआ काँपती धरती का थरथराता सन्नाटा वहाँ के आतंक की सूचना दे रहा था। स्पष्ट लगा कि आवाँ की तरह मगध भीतर-ही-भीतर तप रहा है।

"तपना तो स्वाभाविक है। उसका मित्र नरकासुर मारा गया।" छंदक ने कहा।

मैं कुछ बोला नहीं। हम संध्या तक काशी राज्य की सीमा में आ गए थे। आशुतोष की नगरी में पैर धरते-धरते सूर्य गंगा के उस पार की रेती में डूब चुका था। गंगा में बहता तपा लाल लौह ठंडा पड़कर लोहित हो चुका था।

मेरे आने की सूचना विद्युत् गति से चारों ओर फैल गई। महाराज स्वयं राजपथ तक मेरी अगवानी में आ गए थे। संतों, महंतों, विद्वानों और वानप्रस्थियों के नगर में आकर सचमुच मुझे बड़ी शांति मिली। मेरा मन तो इन महान् आत्माओं के सान्निध्य में कुछ दिनों तक रहने का था; पर दो स्थितियाँ मेरी इस इच्छा के विपरीत पड़ रही थीं—एक तो मुझे इंद्र को गरुड़ यथाशीघ्र लौटाना था और दूसरे काशिराज मेरे कृपाकांक्षी तो थे, पर लंबी अवधि तक मेरे आतिथ्य के आकांक्षी नहीं लगे।

सुशर्मा भी बड़े प्रेम से मिला; पर बात करते-करते उसने कई बार कहा कि चलिए, मैं द्वारका आ रहा हूँ, वहीं जमकर बातें होंगी। इसका तात्पर्य स्पष्ट था कि राजपरिवार में लोग मुझे अधिक दिनों तक रखना नहीं चाहते थे; पर जनता में स्थिति दूसरी थी। गरुड़ से भी तेज गति से नरकासुर के वध का समाचार यहाँ पहुँच चुका था। सवेरे-सवेरे राजभवन के प्रांगण में मुझे बधाई देने प्रजावर्ग उपस्थित होने लगा। उनमें महिलाएँ अधिक थीं। मैंने नरकासुर के अंत:नगर से सोलह हजार नारियों को मुक्ति दिलाई थी। मैं उनका त्राता था। वे मेरे दर्शन मात्र के लिए विह्वल थीं।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि जब भीड़ बहुत बढ़ने लगी तब राजभवन परिसर का मुख्य द्वार बंद करा दिया गया और सूचना प्रसारित करा दी गई कि मैं यात्रा में काफी थका हूँ, किसीसे मिलना नहीं चाहता; जबकि मेरी ओर से ऐसी कोई बात नहीं थी।

यह मुझे अच्छा नहीं लगा। फिर भी मैंने काशिराज से कारण जानने की चेष्टा नहीं की। अमात्य मंडल के एक सदस्य ने बताया—"आजकल महाराज जरासंध से काफी आतंकित हैं। अभी तक उसका लक्ष्य पूरा नहीं हुआ और मकर संक्रांति आ रही है।" बात मेरी समझ में कुछ नहीं आई। लेकिन वह बोलता जा रहा था—"अपने लक्ष्य को पूरा करने के लिए जरासंध कुछ भी कर सकता है। कई बार उसके दूत आए थे। उन्होंने महाराज से स्पष्ट कहा कि मगधराज के आखेट की व्यवस्था करें या उनका आखेट बनने के लिए तैयार रहें।"

पर मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। मेरे चेहरे की भावशून्यता से वह अमात्य समझ गया कि मैं उसे समझ नहीं पा रहा हूँ।

''लगता है, आपको मगध की वर्तमान स्थिति का पता नहीं है।''

मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

''तब आप इस विषय में महाराज से ही जानकारी लें।'' वह जरासंध की गुप्तचर व्यवस्था से आतंकित लगा। उसका सोचना था कि इस विषय में व्यर्थ हम क्यों पड़ें।

''आजकल जिधर देखें उधर मगध के कान उड़ रहे हैं। अच्छा हो, आप महाराज से ही बातें करें।''

मेरी जिज्ञासा ने तुरंत मुझे सुशर्मा से मिलाया।

उसने बताया—''मकर संक्रांति को जरासंध एक नरमेध यज्ञ करने वाला है। वह महारुद्र के समक्ष एक सौ एक नरेशों की बलि देगा। इस उद्देश्य से उसने लगभग नब्बे राजाओं को बंदीगृह में डाल दिया है।''

''यह क्या सूझी जरासंध को! किसीने उसका प्रतिरोध नहीं किया?'' मैंने आश्चर्य व्यक्त किया।

''व्यक्तिगत स्तर पर तो सभी ने प्रतिरोध किया था।'' सुशर्मा बोला, ''ज्यों-ज्यों वह नरेशों को परास्त करता गया, उसका उत्साह और आतंक बढ़ता गया।''

''फिर यह प्रतिरोध सामूहिक क्यों नहीं हुआ?'' मैंने कहा, ''यदि इतने राजा उसका एकजुट होकर सामूहिक विरोध करते तो वह क्या, उसका अस्तित्व तक संकट में पड़ जाता।''

''यही तो आज आर्यावर्त्त का सबसे बड़ा संकट है।'' सुशर्मा बोला, ''धरती बँटी है। सत्ता बँटी हुई है। उसके स्वत्वाधिकारी बँटे हुए हैं। उनका स्वार्थ बँटा हुआ है। तब भला ये एक कैसे हो सकते हैं! ये तो दूसरों के पराजित होने की प्रतीक्षा करते हैं। जब वह मार खाता है तब प्रसन्न होते हैं; पर यह नहीं सोचते कि आज उसकी बारी है, कल हमारी भी आ सकती है।''

सुशर्मा बोलता ही रहा, तभी उसके पिता (काशिराज) के यहाँ से उसके लिए बुलाहट आई। वह जाने को हुआ।

मैंने कहा, ''पर मैं तो अभी तुम्हें सुनना चाहता था।''

''मैं भी सारी स्थिति बता नहीं पाया।'' सुशर्मा बोला। उसने प्रतिहारी से कहा कि तुम चलो मैं आता हूँ। फिर उसने चारों ओर देखा, कोई और तो मेरी बातें

सुनने को यहाँ नहीं है। उसने बड़ी सावधानी से कहा, ''आप अनुभव कर रहे हैं कि पिताजी कितने आतंकित हैं! आपका आना भी उन्हें अच्छा नहीं लग रहा है।''

''आखिर क्यों?''

''क्योंकि आप जरासंध के स्थायी और सर्वविदित शत्रु हैं। आपसे मिलना उससे प्रत्यक्ष शत्रुता मोल लेनी है।''

''पर हमारी-तुम्हारी मित्रता तो आज की नहीं, बहुत पुरानी है।'' मैंने कहा।

''इससे क्या होता है!''

''उसका कोई महत्त्व नहीं?''

''महत्त्व अपनी जगह है।'' उसने बड़ी सफाई से कहा, ''पर हमारा हित तो आपसे दूरी बनाए रखने में ही है।''

''यदि ऐसी बात है तो हमें अब तुम्हारे यहाँ जल भी नहीं ग्रहण करना चाहिए।'' मैं आवेश में आ गया—''क्या मानवीय मूल्यों पर आज के आर्यावर्त्त में कोई महत्त्व नहीं? प्रेम, सौहार्द, मित्रता, शिष्टाचार आदि आज इतिहास की वस्तु हो गए? मनुष्य मनुष्य से इतना कट गया? यदि यही स्थिति है तो मैं थोड़ी देर में ही यहाँ से चला जाऊँगा।''

''क्या पिताजी से नहीं मिलेंगे?''

''क्या करूँगा उनसे मिलकर? जब हमारी दूरी उनके लिए हितकर है तो अब उनसे हमारी दूरी ही मिलेगी।'' मैंने कहा।

सुशर्मा मेरा मुख देखता रह गया।

''लगता है, आप नाराज हो गए।'' वह बोला, ''मैं तो वस्तुस्थिति बता रहा था।''

''यदि यही वस्तुस्थिति है तो आप लोगों को एकजुट होकर जरासंध से कहना चाहिए कि यदि आपका भगवान् नरबलि से ही प्रसन्न होता है तो आप सबसे पहले अपने बेटे की बलि दीजिए। इससे भगवान् और भी प्रसन्न होगा।''

''तो वह यह भी कर देगा।'' सुशर्मा बोला, ''इस समय जरासंध रुद्र को प्रसन्न करने के लिए कुछ भी कर सकता है। यह आशंका आज उसके परिवार में भी है।''

फिर उसने मुझसे आज की रात यहीं बिताने का आग्रह किया और कहा, ''यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लें तो मैं जरासंध के परिवार की मानसिकता से आपका परिचय करा दूँ।''

इच्छा न होते हुए भी मुझे रात को वहीं ठहरना पड़ा।

छंदक अत्यधिक ऊबा-ऊबा लगा। उसका कहना था—"यह भी कोई जीवन है! एक समस्या से उबरिए, दूसरी उपस्थित। कुछ तो समस्याएँ हमसे चिपकती हैं और कुछ हम समस्याओं से चिपक जाते हैं।"

"इसमें दोष किसका है—चुंबक का या लौह का?" मैंने मुसकराते हुए कहा, "और शायद इन दोनों में से किसीका भी नहीं; वरन् दोनों की प्रकृति है कि जहाँ चुंबक और लौह होंगे, दोनों चिपके हुए ही रहेंगे।" मैंने अनुभव किया कि छंदक गंभीर हो गया है। मैंने उसे समझाते हुए कहा, "मैं जानता हूँ, छंदक, तुम्हें विश्राम चाहिए; पर यह भी जान लेना कि हम संघर्ष से जितना भागेंगे, समस्याओं से जितना दूर रहेंगे, समस्याएँ उतना ही हमारा पीछा करेंगी; क्योंकि हम जीवन से दूर नहीं रह सकते।"

छंदक मौन ही रहा। मैं उसे समझाता चला गया—"इस समय आर्यावर्त्त में कोई मेरा घोर विरोधी है तो वह जरासंध ही है। उसके जीवित रहते मेरा प्रभुत्व कभी सर्व स्वीकार्य नहीं होगा। इसलिए उसकी एक-एक गतिविधि का हमें ज्ञान होना चाहिए।"

सुशर्मा मध्य रात्रि के पूर्व आया और बोला, "आप जो कहते हैं, स्थिति लगभग वही है। यदि बंदी राजाओं से उसकी संख्या पूरी नहीं हुई तो वह अपने घर के ही लोगों की बलि चढ़ा देगा।"

"ऐसा तुम कैसे कह सकते हो?"

अब उसने वह रहस्योद्घाटन किया, जिसकी कल्पना तक मुझे नहीं थी। उसने कहा, "एक दिन मेघसंधि आया था। इसके पूर्व मगध में बलि के लिए बंदी राजाओं की कारा से राजा भाग निकले थे। जरासंध को जब इसकी सूचना मिली तो वह आगबबूला हो उठा। उसने उस समय कारागार के सभी अधिकारियों को बुलाकर प्रताड़ित किया और कहा कि तुम लोग अभी जाओ और भाग गए राजाओं को खोजकर लाओ। नहीं तो तुम सब बंदी बना लिये जाओगे और तुम्हींसे बलि के राजाओं की गणना पूरी की जाएगी।"

सुशर्मा ने बताया—"मेघसंधि कह रहा था—'वे अधिकारी खोज में लगे हैं, अभी तक लौटे नहीं हैं। चुपचाप जंगलों में तलाश करते हुए परमात्मा से प्राणों की रक्षा की प्रार्थना कर रहे हैं। अब उनके चले जाने के बाद पितामह (जरासंध) ने कारागार की देखभाल सीधे हम लोगों पर डाल दी है। सारा दबाव पिताजी (सहदेव) और हम तीनों भाइयों पर है; पर हममें से कोई भी कारागार के भीतर नहीं

जाता। उनका करुण क्रंदन सुनने का हममें साहस नहीं है। केवल बाहर से हम कारागार की सुरक्षा देखते रहते हैं और प्राण हर क्षण खूँटी पर टँगा रहता है; क्योंकि महाराज ने स्पष्ट कह दिया है कि यदि बंदीगृह से कोई राजा अब भागा तो हम उनके प्राणों की भरपाई तुम्हारे प्राणों से करेंगे।' तब से मेघसंधि बड़ा घबराया हुआ है। उसने तो हम लोगों को भी होशियार कर दिया है कि आप लोग सावधान रहिएगा, महाराज जरासंध कुछ भी कर सकते हैं।''

''जरासंध पागल हो गया है क्या?'' मेरे मुख से निकला।

''लगता तो ऐसा ही है।''

''आखिर इतनी नरबलि देकर वह रुद्र को क्यों प्रसन्न करना चाहता है?''

''यह तो वही जाने।'' सुशर्मा बोला, ''मेघसंधि बता रहा था कि इस संबंध में उसका हठ पागलपन की भी सीमा पार कर गया है।''

''तो सहदेव क्या कर रहा है?''

''वे सब जरासंध की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं।''

''ऐसा!'' मेरे मुख से निकला। मैं सोचने लगा, 'तब तो एकदम रावण की स्थिति में आ गए हैं जरासंध महाराज!'

सुशर्मा बोला, ''आप किस चिंतन में डूब गए?''

''सोचता हूँ कि अत्याचारी के हठ और अहंकार की अंतिम सीमा पर अपने भी पराए हो जाते हैं।'' मैंने फिर स्वयं को सुधारा—''कभी-कभी हो जाते हैं और कभी-कभी उसे लगने लगते हैं। रावण का सबसे हितैषी विभीषण ही था न, जिसने उसकी मृत्यु का मार्ग राम को बताया।'' मैंने कहा, ''हो सकता है, जरासंध के वध में उसके पुत्र और पौत्र ही सहायक हों।''

□

यथाशीघ्र मैं द्वारका पहुँचा। इस बार अपनी ही राजधानी में मेरा जो स्वागत हुआ, वह अद्भुत था; क्योंकि मेरे पहुँचने के पहले ही नरकासुर प्रसंग की सारी सूचनाएँ जन-जन के अधरों का स्पर्श करती और हवा के पंखों पर उड़ती हुई वहाँ पहुँच चुकी थीं। अब तो महिलाएँ मुझे अपना मुक्तिदाता मानती थीं। इस प्रकार द्वारका की ही नहीं, पूरे आर्यावर्त्त की आधी जनसंख्या की सीधी सहानुभूति मुझे मिली। लोग इतने बड़े असुर के वध को असाधारण समझते थे। इसीलिए जो लोग मेरे ईश्वरत्व में विश्वास नहीं करते थे, उन्हें भी मैं साक्षात् ईश्वर दिखाई पड़ने लगा था। मेरे प्रति बड़े-छोटे सबमें एक अद्भुत पूज्यभाव जागा।

दिन बीतते रहे, रातें खिसकती रहीं।

आराम और शांति के दिन एक अबोध बालक की बंद मुट्ठी से रेत की तरह सरकते चले गए। किसी बात की चिंता न थी; पर बहुधा मेरी मस्ती का उत्तरीय जरासंध की स्मृति के काँटे से उलझता रहा। कभी-कभी जब मैं एकांत में रहता था, सन्नाटा थरथराता था, तब मुझे लगता था कि उसकी कारा में पड़े श्रीहत राजे अपनी मुक्ति के लिए मुझे पुकार रहे हैं।

मैंने एक दिन इसकी चर्चा भैया से की। सारी कथा सुनाई।

वे मुझपर एकदम बिगड़ पड़े—''मैं तो उसका अंत कभी का कर देता! गोमांतक पर तो वह पालित श्वान-सा बाँधा जा चुका था। अब वह तुम्हारा पाप है, तुम्हीं भोगो।''

''वस्तुत: वह मेरा नहीं है, धरती का पाप है। धरती भोग रही है।'' मैंने हँसते हुए कहा। उस दिन बात आई-गई और खत्म हो गई।

एक दिन महाराज युधिष्ठिर का पत्र लेकर इंद्रप्रस्थ से एक दूत आया। पत्र में बड़ी विनम्रता से आग्रह किया गया था कि मैं स्वयं आपसे मिलने वाला था; किंतु कुछ अपरिहार्य कारणों से आ नहीं पा रहा हूँ। यदि आप ही कुछ दिनों के लिए पधारते तो हम सब धन्य हो जाते।

पत्र में आमंत्रण का कोई कारण नहीं था और न उस दूत ने ही कुछ बताया। उससे मैंने कई प्रश्न किए; पर उससे कुछ ज्ञात हो नहीं पाया। उस समय दूत को आने का आश्वासन देकर मैंने ससम्मान लौटा दिया और कुछ ही दिनों बाद मुझे इंद्रप्रस्थ जाना पड़ा।

और तो किसीने कुछ नहीं कहा, पर केवल रुक्मिणी साथ चलने के लिए जिद कर बैठी। उसका कहना था कि पिछली यात्रा में सत्यभामा गई थी। इस यात्रा में मैं साथ रहूँगी। उसकी मूल आपत्ति तो इस बात को लेकर थी कि आप अधिकांश तो दूर ही दूर रहते हैं। आखिर हमें भी तो मालूम होना चाहिए कि हम विवाहित हैं। वैवाहिक जीवन का कोई सुख भी है।

वस्तुत: वह केवल अपनी ओर से नहीं, मेरी शेष पत्नियों की ओर से भी बोल रही थी। उसने परिहास में ही याद दिलाया—''विवाह के समय आपने अग्नि को साक्षी देकर प्रतिज्ञा की थी कि यात्रा में पत्नी को साथ रखूँगा।''

क्षण भर के लिए मैं चुप हो गया। बड़े असमंजस में पड़ा। नरकासुर के वध के समय तो सप्रयोजन मैं सत्यभामा को ले गया था। उससे मुझे सोलह हजार नारियों के पराधीनताबोध को जगाना था। यही बात मैंने रुक्मिणी को भी समझाई और हँसी-हँसी में कहा, ''एक बार तो सत्यभामा को ले गया, जिसका फल यह

हुआ कि सोलह हजार पीछे पड़ीं। इस बार यदि तुम्हें ले गया तो बत्तीस हजार से पीछा छुड़ाना कठिन हो जाएगा।"

रुक्मिणी हँस पड़ी और बहुत देर तक हँसती रही। उसने किसी प्रकार शीघ्र लौटने का आश्वासन लेकर ही मुझे छोड़ा।

मैंने बहुत कम यात्राएँ ऐसी की हैं, जिनका कारण अज्ञात रहा हो या न हो; पर हर कार्य का कोई-न-कोई तो कारण रहता ही है। इसी 'कोई-न-कोई' की अज्ञात डोर से बँधा-खिंचा मैं इंद्रप्रस्थ की ओर चला गया।

□

यह इंद्रप्रस्थ पहलेवाला इंद्रप्रस्थ नहीं था। राज्य में प्रवेश करते ही उसके वैभव और सुशासन की गंध मिलने लगी। हर ओर संपन्नता दिखाई दी। मार्ग में न तो एक भिखारी दिखाई दिया और न कोई रोगी या असमर्थ। सभी अपने कार्य में संलग्न थे। सभी की आकृतियों पर एक अद्‌भुत संतोष की आभा थी। बहुत दूर से ही विशाल राजप्रासाद का स्वर्णिम कलश दिखाई दे रहा था। इतना भभकता हुआ जैसे वह कलश नहीं, किलकारी भरता सूर्य का नवजात शिशु हो।

नगर द्वार से ही मेरी अगवानी में लोग खड़े थे। अनेक स्थलों पर अपने वातायनों और अलिंदों से नागरिकों ने मुझपर पुष्पवर्षा की। एक स्थान पर स्त्रियों की काफी भीड़ दिखाई दी। उन लोगों ने मेरी आरती उतारी। बाद में पता चला कि इनमें बहुत सी नरकासुर के अंत:नगर से मुक्त हुई स्त्रियाँ हैं, जिन्होंने इंद्रप्रस्थ में ही अपना स्थायी निवास बना लिया है।

इस प्रकार मेरे साथ गए सैनिकों और मेरे साथियों का भव्य स्वागत किया गया। महाराज सपरिवार अमात्य मंडल के साथ राजप्रासाद से निकलकर राजपथ पर आ गए थे।

इंद्रप्रस्थ के वर्तमान वैभव से हम चकित थे। इतनी वैभवपूर्ण भव्यता और विशालता की मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी। सबकुछ बदला-बदला। सचमुच यह मय के श्रेष्ठतम शिल्प का श्रेष्ठतम नमूना थी। अतिथिभवन भी अद्‌भुत। ताजे फूलों से सजा हुआ। मेरे आने की पूर्व सूचना गुप्तचरों से मेरे पहुँचने के पहले ही पहुँच चुकी थी।

मैंने महाराज से मिलते ही इतने वैभवशाली नगर और उसकी व्यवस्था के लिए उन्हें बधाई दी। फिर प्रासाद के भीतरी भाग को देखने की इच्छा व्यक्त की। बाह्य सभाकक्ष, भीतरी सभाकक्ष, अंत:पुर और अंत:पुर का विशाल प्रांगण—सबकुछ अद्‌भुत, अप्रतिम और बेजोड़। ऐसा प्रांगण तो सुधर्मा (इंद्र का सभाकक्ष)

का भी नहीं।

यद्यपि और पांडव भी मेरे साथ थे, पर सारा राजभवन मुझे द्रौपदी ने दिखाया। वह कितनी प्रसन्न थी, सो कैसे बताऊँ। बाद में पता चला कि भवन-निर्माण में उसने सबसे अधिक रुचि भी ली है। इस दृष्टि से वह राजभवन नहीं बल्कि अपना साकार हुआ सपना दिखा रही थी।

फिर वह मुझे मुख्य प्रांगण के पार्श्व में ही एक दूसरे प्रांगण में ले गई। इसका एक छोर अंत:पुर की ओर खुलता था। इसे उसने ऐंद्रजालिक प्रांगण कहा।

''इसमें क्या कोई यातु (जादू) विद्या का प्रदर्शन होता है?'' मैंने पूछा।

''प्रदर्शन तो नहीं होता, पर यह स्वयं एक जादू है।'' द्रौपदी हँसते हुए बोली।

थोड़ी दूर बढ़ने पर ही मैं ठिठक गया।

''चलिए, चलिए, आप रुक क्यों गए?'' द्रौपदी फिर हँसते हुए बोली।

''विचित्र हो तुम भी, जल पर कैसे पैर बढ़ाऊँ!'' मैंने कहा।

''पर यहाँ जल है कहाँ?'' वह ठहाका मारकर मेरे आगे बढ़ चली।

सचमुच वहाँ जल नहीं था, केवल वास्तुकार की विलक्षण कला ने वहाँ जल होने का भ्रम पैदा कर दिया था। मैंने उस स्थल की बड़ी सराहना की। फिर आगे बढ़ा। थोड़ी दूर जाने पर अचानक द्रौपदी ने मेरा हाथ पकड़ लिया।

मैंने विरोध किया—''तुमने मेरा हाथ क्यों पकड़ा? मैं बूढ़ा हूँ या कोई बच्चा?''

मेरा इतना कहना था कि सब हँस पड़े। उस सामूहिक हँसी में मुझे कुछ रहस्य का आभास अवश्य हुआ; पर सामने कुछ नहीं था। एकदम सपाट धरती।

द्रौपदी हँसते हुए बोली, ''कहीं आप बच्चों जैसी कोई चेष्टा कर बैठे तो!''

इस बार फिर हँसी फूटी। मैं धड़ल्ले से चल पड़ा। दो ही चार डग चला होऊँगा कि द्रौपदी ने मुझे एक झटके के साथ रोक लिया।

''यह क्या मजाक है!'' मेरे मुँह से निकला।

''यह मजाक नहीं है, भैया, यथार्थ है।'' द्रौपदी बोली।

''कैसा यथार्थ?''

अब उसने बताया कि आगे जलाशय है, पर जल का आभास तक नहीं लगा। मैंने आश्चर्य व्यक्त किया और मय के ऐसे वास्तुशिल्प की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

"अरे, वास्तुशिल्पी की इसी कला ने तो एक दिन वह स्थिति पैदा कर दी, जो नहीं होनी चाहिए थी।" धर्मराज बोले।

फिर उन्होंने वह घटना सुनाई, जिसे सुनकर मुझे भी दुःख हुआ और यही घटना आगे चलकर पांडवों के अनर्थ का कारण भी बनी।

धर्मराज ने बताया—"सारा निर्माण जब पूरा हो गया तब हम लोगों ने विधिवत् पूजन और हवन की योजना बनाई। सोचा गया, क्यों नहीं इस अवसर पर सादर हस्तिनापुर को भी आमंत्रित करें।" इतना कहते-कहते धर्मराज को एक झटका-सा लगा। वे बोले, "विचार तो आपको भी बुलाने का था। फिर सोचा कि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य तो होने नहीं जा रहा है, तो फिर एक सामान्य से पूजन के लिए इतनी दूर से आपको कष्ट क्यों दिया जाए!"

"अच्छा ही किया।" मैंने कहा। मैंने चोर की दाढ़ी के तिनके को और उधेड़ने की चेष्टा नहीं की।

युधिष्ठिर बोलते रहे—"मेरी इच्छा तो थी कि पूजन के अवसर पर प्रपितामही, पितामह और ज्येष्ठ माताजी गांधारी आदि भी उपस्थित रहतीं; पर प्रपितामही के न आने से वे लोग भी नहीं आए।"

"क्या कहा प्रपितामही ने?" मेरी जिज्ञासा मुख्य बिंदु पर थी।

"वे वेदव्यासजी की भविष्यवाणी से काफी आतंकित हैं। उनका कहना था कि वह समय बीत जाने दो, तब मैं स्वयं वहाँ आऊँगी।"

धर्मराज ने आगे बताया—"पर उस समारोह में हमारे कौरव बंधु शकुनि मामा के नेतृत्व में उत्साह से पधारे थे।"

"उत्साह से आपका तात्पर्य क्या है?" मैंने पूछा।

"यही कि उनकी आत्मीयता में कोई कमी नहीं दिखाई दी।" युधिष्ठिर ने कहा, "वरन् उस समय हम लोगों ने जो ब्राह्मण भोजन कराया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देकर सम्मान किया, उसमें भी उन लोगों ने खुलकर हिस्सा लिया था।"

"खुलकर हिस्सा लेने से आपका क्या मतलब है?"

"यही कि उन्होंने ब्राह्मणों को अपनी ओर से बहुत कुछ दान में दिया।" धर्मराज कहते गए—"सब तो ठीक-ठाक हुआ, पर एक बात बड़ी अप्रिय हो गई।"

अब उन्होंने मुख्य बात बताई—"समारोह समाप्त हो जाने के बाद उन लोगों को राजप्रासाद दिखाए जाने का निश्चय हुआ।"

"राजप्रासाद देखने की कौरवों ने स्वयं इच्छा व्यक्त की थी या आप लोगों

ने आग्रह किया था?'' मैंने किसी उद्देश्य से पूछा।

युधिष्ठिर सोचने लगे। फिर बोले, ''मैं ठीक कह नहीं सकता। यह तो सही है कि मामा विशेष उत्सुक था। तभी मेरी ओर से भी आग्रह किया गया।''

युधिष्ठिर के कथनानुसार—''कौरवों को ससम्मान राजभवन दिखाया जाने लगा। इस समय की तरह उस समय भी द्रौपदी दिखाने और उसका वर्णन करने में सबसे आगे थी। कौरवों की ओर से दुर्योधन आगे-आगे चल रहा था।''

''दोनों ओर से आग-ही-आग थी और पीछे मात्र धुआँ।'' मैंने हँसते हुए कहा। लोगों ने मेरे व्यंग्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

युधिष्ठिर कहते जा रहे थे—''जब दुर्योधन उस स्थान पर पहुँचा, जो जलाशय दिखाई दे रहा था और जलाशय था नहीं, तो ठिठक गया। तब द्रौपदी बोली कि देखते क्या हैं? आगे क्यों नहीं बढ़ते? और उसका हाथ पकड़कर हँसती हुई आगे खींच ले गई।''

द्रौपदी ने प्रतिवाद किया—''मैं दुर्योधन को खींचकर आगे नहीं ले गई। मैं केवल उसका हाथ पकड़े रही। खींचा नहीं।''

''पर उसके ठिठकने पर खिलखिलाकर हँसी थीं।'' इस बार अर्जुन बोला।

''हँसी आ गई तो क्या करती?''

''उसे तुम रोक सकती थीं।'' मैंने कहा, ''सौजन्य की दृष्टि से यह ठीक नहीं हुआ।''

''फिर देखिए।'' युधिष्ठिर ने पुनः बोलना शुरू किया—''दुर्योधन जब वास्तविक जलाशय के पास पहुँचा तो उसे भ्रम नहीं हुआ, जैसा आपको हुआ था; पर आपको तो इसने रोक लिया, उसे रोका नहीं। वह छपाक से जलाशय में गिर पड़ा और यह लगी ठहाका मारकर हँसने।''

''यह तो और भी खराब हुआ।'' मैं चिंतित हो उठा—''तुमने अहंकार के हिमालय की हँसी उड़ाई, वह भी उसे ससम्मान आमंत्रित करके। तुमने क्षमा नहीं माँगी?''

''यह क्या क्षमा माँगती!'' युधिष्ठिर बोले, ''यह हँसी में दोहरी होती जा रही थी और वह क्रोध से किटकिटाने लगा था; बल्कि मैंने भीम को साथ लेकर उसे निकाला। स्नानागार में ले जाकर कपड़े बदलवाए और क्षमायाचना के ही स्वर में बोला, 'जाने दो भाई, द्रौपदी का अभी लड़कपन गया नहीं है।'

'' 'यह उसका लड़कपन नहीं है वरन् हँसी उड़ाता उसका अहंकार है, जिसे मैं एक-न-एक दिन नंगा कर दूँगा!' दुर्योधन बड़े आवेश में था—'यही

आपका धर्म है कि आप किसीको अपने यहाँ बुलाकर उसकी हँसी उड़ाएँ, उसका अपमान करें?' "

मैंने अर्जुन से पूछा, "उस समय तुम भैया के साथ नहीं थे क्या?"

उसने सिर हिलाकर नकारात्मक उत्तर दिया। फिर धीरे से बोला, "मैं तो दूर से तमाशा देख रहा था।"

"यह दूसरी भूल हुई। यदि तुम भैया के साथ होते तो शायद दुर्योधन के चोट खाए अहं को थोड़ा सहला सकते थे; क्योंकि संसार जितना तुम्हें द्रौपदी के निकट समझता है उतना अन्य पांडवों को नहीं।"

मैं काफी चिंतित हो गया।

"उस समय अन्य कौरवों की क्या स्थिति थी?"

"वे सभी आगबबूला थे। दु:शासन तो क्रोध में काँपने लगा था। यह तो कहिए कि ज्वालामुखी भीतर-ही-भीतर धधककर रह गया, फटा नहीं; पर कौरव उसी शाम यहाँ से चले गए।" धर्मराज का कहना था—"हम लोगों ने बहुत रोका, पर वे रुके नहीं।"

"क्या उस समय कर्ण नहीं था?"

"भगवान् की कृपा थी कि वह नहीं आया था।"

"मामा की भूमिका क्या थी?"

"उसने तो एक नई राजनीति कर दी।" युधिष्ठिर ने बताया—"उसने अपने भानजों को समझाया कि तुम लोगों ने तो सुना नहीं, तुम लोग तो क्रोध में पागल हो रहे थे। उस समय हँसते हुए द्रौपदी ने यह भी कहा था कि आखिर अंधे पिता की संतान अंधी ही न होगी। उसे क्या दिखाई देगा कि कहाँ जल है, कहाँ नहीं है!' "

"जबकि मैंने यह बिलकुल नहीं कहा था।" द्रौपदी बीच में ही बड़ा जोर देकर बोली।

"तुमने कहा हो चाहे न कहा हो, पर मामा को तो कहने का अवसर मिल गया।" मैंने द्रौपदी से कहा, "इतनी समझदार होकर भी तुमने वह कर दिया कि इंद्रप्रस्थ पर छाए हस्तिनापुर के विद्वेष के छँटते मेघ फिर घने होने लगेंगे।"

मैंने एकांत में द्रौपदी को समझाया—"इस सारे संदर्भ में तुम्हारी भूमिका सबसे दोषपूर्ण और गलत थी। अब तुम मात्र महाराज द्रुपद की कन्या ही नहीं हो, इंद्रप्रस्थ जैसे वैभवसंपन्न राज्य की पट्टमहिषी भी हो। हँसी आने पर तो हँसना बच्चों की प्रकृति है। अब तुम बच्ची नहीं रहीं। तुमसे लोग प्रकृत व्यवहार की नहीं

वरन् सुसंस्कृत व्यवहार की आशा करते हैं। हँसी के अवसरों पर भी गंभीर बनी रहो। आज की राजनीति तो इससे भी अधिक की आकांक्षा करती है, जब तुम ऐसे अवसरों पर हँसी को दुःख व सहानुभूति में और दुःख तथा पीड़ा के अवसरों को हँसी में बदल सको।''

□

यह घटना इंद्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के सामान्य होते संबंधों के शरीर पर नए फोड़े की तरह उभर आई। मैंने अनुभव किया कि इस स्थिति से सभी चिंतित थे। सभी मानते थे कि बड़ी भूल हो गई। ससम्मान बुलाए गए अतिथि का अपमान अक्षम्य अपराध है। धर्मराज तो हस्तिनापुर जाकर क्षमा माँगने के पक्ष में थे; पर द्रौपदी का अहं इस सीमा तक जाने को तैयार न हुआ। उसने कहा कि अभी कई अवसर आएँगे, जब हम दुर्योधन को आवश्यकता से अधिक सम्मानित करके उसके इस घाव की चिकित्सा कर देंगे।

छूटे हुए बाण की सनसनाहट की तरह अब इस घटना की सनसनाहट ही रह गई थी। सिवाय पश्चात्ताप के हम कुछ कर नहीं सकते थे। अतएव हमने भी इसे सविनय भुला देना ही उचित समझा।

आखिर मैं क्यों बुलाया गया हूँ? अभी इस संबंध में कोई बात ही नहीं हुई। जब सभी युधिष्ठिर के मंत्रणाकक्ष में बैठे थे तब अवसर देखकर मैंने बात छेड़ी।

''जब आपने गृह-पूजन एवं यज्ञ किया तब तो मैं बुलाया नहीं गया और आज उसके धुएँ में घुटन की मात्र संभावना रह गई, तब मैं बुलाया गया। मेरा भी क्या भाग्य है!'' मैंने हँसते हुए कहा।

''हम लोगों ने एक गंभीर मंत्रणा के लिए आपको बुलाया है। एक संयोग था कि जिस समय आप पधारे हैं, हम लोग अपने कर्मों के धुंध में भटक रहे हैं।'' इसके बाद युधिष्ठिर ने एक विचित्र घटना सुनाई।

उन्होंने कहा, ''लगभग पंद्रह-बीस दिन हुए, मैं एक संध्या यमुना में राजकीय तरणी में जल-विहार कर रहा था। सूर्य डूब चुका था। उसकी अरुणिमा यमुनाजल में अब भी घुली हुई थी। थोड़ी देर में ही मंद गंधवाह ने थपकियाँ देकर मुझे सुला दिया। परिचर मेरे पैर दबाते रहे। परिचारिकाएँ सिर सहलाती रहीं।''

धर्मराज कहते गए—''वस्तुतः मैं पूर्णरूप से सोया नहीं था। तंद्रा में ही था कि मुझे वीणा की ध्वनि सुनाई दी। फिर तो वह ध्वनि धीरे-धीरे तेज होती गई और मुझे ऐसा लगा कि महर्षि नारद मेरे सामने खड़े हैं। वे मुसकराते हुए कह रहे हैं—'तुमने मुझे ठीक पहचाना, मैं नारद ही हूँ। तुम्हारी प्रगति से प्रसन्न हूँ। तुम्हें

आशीर्वाद देने आया हूँ। आसपास के राजा-महाराजाओं से भी तुम्हारे संबंध बहुत अच्छे हैं। सभी तुम्हारे वैभव और पराक्रम के प्रति नत हैं।'

"नारद कहते गए—'यह देखकर स्वर्ग में तुम्हारे पूर्वज भी प्रसन्न हैं। अब तुम अपने पिता की अंतिम इच्छा पूरी करो।'

" 'क्या थी मेरे पिता की अंतिम इच्छा?' मैंने तंद्रिल अवस्था में ही नारदजी से पूछा।

" 'आश्चर्य है कि तुम्हें अपने पिता की अंतिम इच्छा का ज्ञान नहीं है। तुमने कभी अपनी माताजी से नहीं पूछा?'

" 'नहीं।'

" 'तो अब पूछना।' महर्षि ने कहा, 'उनकी अंतिम इच्छा थी, राजसूय यज्ञ करने की। इससे वे चक्रवर्ती सम्राटों की श्रेणी में आते। आज भी स्वर्ग में चक्रवर्ती सम्राटों के नीचे ही उनका आसन लगता है। यदि तुमने यह यज्ञ कर डाला तो उनकी आत्मा को बड़ी शांति मिलेगी।' "

युधिष्ठिर ने बताया—"इतना कहने के बाद ऋषि भी अदृश्य हो गए; पर उनकी वीणा की ध्वनि तब भी सुनाई पड़ रही थी। मैं उन्हें स्वप्न में ही खोजने लगा; क्योंकि मुझे उनसे कई प्रश्न पूछने थे। विशेषकर वर्तमान संदर्भ में बातें करनी थीं। उन्हें खोजने की ही उधेड़बुन में नींद खुल गई।

"मुझे अचरज था कि अब भी मुझे वीणा की आवाज सुनाई दे रही थी। तरणी के पतवार की छप-छप से मिलकर दूर से आती वीणा की ध्वनि कुछ विशेष और अद्‌भुत प्रभाव उत्पन्न कर रही थी। अँधेरा गंभीर हो चुका था। मैंने दूर तक देखा, आवाज के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं था। तट पर उगे वृक्षों की पंक्तियाँ काले घने भौंहों की तरह लग रही थीं, जो इस अँधेरे में और भी गाढ़ी हो गई थीं।"

युधिष्ठिर ने कहा, "मैंने सोचा कि कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा है, या मैं अब भी सपना देख रहा हूँ। मैंने अपने परिचरों से पूछा, 'तुम्हें कुछ सुनाई दे रहा है?'

" 'हाँ, कहीं वीणा बज रही है।'

" 'पर किधर? कहाँ?'

" 'यही तो हम लोग कब से देख रहे हैं; पर कोई दिखाई नहीं दे रहा है।' "

सारी घटना सुनने के बाद बात कुंती बुआ पर आकर अटक रही थी। मैंने कुंती बुआ से जिज्ञासा की—"इस पूरे प्रसंग में आपकी क्या राय है?"

''मेरी राय से तो वे महर्षि नारद ही थे, जिन्होंने स्वप्न में दर्शन दिया और प्रत्यक्ष अदृश्य रहे।'' कुंती बोली, ''उनके आदेश का पालन होना चाहिए।''

मैंने सोचते हुए कहा, ''महर्षि नारद के अनुसार तो महाराज पांडु की अंतिम इच्छा का ज्ञान आपको होना चाहिए।''

''हाँ, है। उनकी इच्छा राजसूय यज्ञ करने की थी।'' बुआ बोली, ''जब उनकी साँस टूट रही थी और मैं उनके सिरहाने बैठकर रो रही थी, तब उन्होंने कहा था कि इस थोड़े से जीवन में मेरी सारी इच्छाएँ पूरी हुईं। मैं बड़े संतोष से जा रहा हूँ। बस एक ही बात मन में कचोटती है कि मैं राजसूय यज्ञ नहीं कर पाया। यदि थोड़ा जीवन और मिला होता तो शायद मैं यह भी संकल्प पूरा कर लेता; पर सबकी सब इच्छाएँ जीवन में पूरी कब हुई हैं!''

''तब तो हमें राजसूय यज्ञ अवश्य करना चाहिए।'' भीम बोला, ''महर्षि नारद का भी आदेश है और पिताजी की भी अंतिम इच्छा थी।''

पर मैं चुप ही रहा। सभी लोग मेरी ओर बड़ी गंभीरता से देखते रह गए।

''आप क्यों मौन रह गए, माधव? इसी संबंध में विचार करने के लिए तो हमने आपको सादर स्मरण किया है।''

''पिता की अंतिम इच्छा की पूर्ति करना तो हर पुत्र का धर्म है।'' मैंने कहा, ''पर यह सोचना चाहिए कि क्या परिस्थितियाँ हमें ऐसा करने की अनुमति देती हैं!''

''यही तो एक समस्या है, जिसपर आपके अतिरिक्त और कोई दूसरा सोच भी नहीं सकता।'' युधिष्ठिर ने कहा।

''पर मेरी दृष्टि से तो परिस्थिति अनुकूल नहीं है।'' मैंने कहा, ''यह तो कोई विश्वास नहीं करेगा कि यह यज्ञ पांडव अपने पिता की इच्छा की पूर्ति के लिए कर रहे हैं। महाराज पांडु सभी दृष्टि से चक्रवर्ती सम्राट् थे। उनका सम्मान भी लोग वैसा ही करते थे; पर क्या आपका वह सम्मान और प्रतिष्ठा है?''

''हम क्या उस प्रतिष्ठा के योग्य नहीं?'' भीम ने टोका।

''योग्य होना और बात है तथा समाज द्वारा योग्य स्वीकार किया जाना और बात है।'' मैंने हँसते हुए कहा।

इस बीच कुंती बुआ ने भीम को डाँटा—''भीम, बात काटने की तुम्हारी आदत अच्छी नहीं है। पहले कृष्ण को सुनो, फिर उसपर विचार करो।''

मैंने फिर बोलना शुरू किया—''इसका अर्थ आप लोग यह न लगाइए कि मैं आपको किसी प्रकार से हतोत्साहित करना चाहता हूँ अथवा राजसूय यज्ञ करने

से रोक रहा हूँ। मैं तो मात्र उन समस्याओं और परिस्थितियों पर विचार कर रहा हूँ, जो आपके लिए बाधक बन सकती हैं।''

''वस्तुत: इसीलिए तो मैंने आपको स्मरण किया है।'' महाराज युधिष्ठिर बोले, ''क्योंकि इस समय आर्यावर्त्त की राजनीति को जितना आप समझते हैं उतना दूसरा नहीं।''

''यह आपका बड़प्पन है।'' मैंने अपनी प्रशंसा को प्रणतभाव से स्वीकार किया और फिर अपनी वार्त्ता की छूटी डोर पकड़ ली—''मैं भी आप लोगों को अपने पिता जैसा ही, वरन् उनसे भी अधिक सम्मानित करता हूँ; पर उनकी परिस्थिति और आपकी परिस्थिति में धरती-आकाश का अंतर है। वे हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर थे। उस समय हस्तिनापुर की सत्ता शीर्ष बिंदु पर थी। तब इंद्रप्रस्थ का कोई अस्तित्व नहीं था। उनके शत्रु भी नहीं थे। आज तो हस्तिनापुर टूटकर ही इंद्रप्रस्थ बना है। भले ही आप एक परिवार के हों; पर आपका स्थायी शत्रु तो हस्तिनापुर ही है। जहाँ वे सुनेंगे कि आप राजसूय यज्ञ करने वाले हैं वहाँ उनकी छाती पर साँप लोट जाएगा।

''घर की ईर्ष्या बाहर की ईर्ष्या से अधिक खतरनाक होती है। भीतर की ईर्ष्या तो अपने ही आस्तरण में सोई उस नागिन की तरह है, जो किसी समय भी काट सकती है। बाहर की नागिन को तो भीतर आने और काटने के लिए अनेक संकटों का सामना करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में आपको सबसे पहले हस्तिनापुर के ही संबंध में सोचना है।''

मैं बोलता गया—''फिर जिनके पिता कभी आपके पिता के मित्र थे, जिनसे आपके पारिवारिक संबंध थे, उनमें से कई आज आपके शत्रु हैं। उन्हें फूटी आँखों आपका वैभव नहीं सुहाएगा।'' मैं कुछ सोचने लगा। फिर बोला, ''एक स्थिति और है। ज़ो लोग मुझे नहीं चाहते, वे आपको भी नहीं चाहेंगे; क्योंकि हम-आप दो हैं—इसे वे नहीं मानते।''

''तो वे क्या गलत करते हैं?'' इस बार कुंती बुआ बोली।

अब मैंने उसे नाम गिनाने आरंभ किए—''ऐसे लोगों में चेदि का शिशुपाल, विदर्भ का रुक्मी, पुंड्र का मेरा नामराशि वासुदेव। उधर सुदूर पूर्व प्राग्ज्योतिषपुर का भगदत्त। करूष का दंतवक्त्र आदि—ये कभी भी नहीं चाहेंगे कि आप लोग राजसूय यज्ञ करें; क्योंकि इनमें से कुछ मेरे शत्रु हैं और कुछ मेरे सबसे बड़े शत्रु जरासंध के मित्र। इनमें भगदत्त तो शांत भी रह सकता है; क्योंकि उसका पिता जरासंध का मित्र था और वह मारा गया। भगदत्त को मैंने ही सिंहासन पर

बैठाया है। अभी घटना ताजा है। कुछ तो खयाल करेगा ही।'' फिर मैंने अपने कथन में हँसी मिलाई—''और फिर अर्जुन का नया संबंध किस दिन काम आएगा!''

''कैसा नया संबंध?'' युधिष्ठिर बोल उठे।

मैंने अर्जुन की ओर देखा। वह भी प्रतिक्रियाहीन मुद्रा में चुपचाप खड़ा रहा। स्पष्ट था कि उसका भी ध्यान कहीं और था। मैंने अर्जुन के श्वसुर चित्रवाहन से भगदत्त की अनाक्रमण संधि की चर्चा की। इतना सुनते ही सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

''तब तो तुम्हारी राय में हमें राजसूय यज्ञ नहीं करना चाहिए!'' कुंती बुआ ने बड़ी वेदना से कहा।

''यह मैंने कहाँ कहा!'' मैं मुसकराते हुए बोला, ''मैं तो उन संकटों, असुविधाओं और समस्याओं को गिना रहा हूँ, जिनका सामना हम सबको उस अनुष्ठान को संपन्न करने में करना पड़ सकता है।''

''तब आप किस रोग की ओषधि हैं?'' भीम छूटते ही बोला।

''ओषधि की नहीं, अभी तो मैं रोग की चर्चा कर रहा हूँ। जब ओषधि की चर्चा होगी तब तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी।''

''यह मोटा पेटू भी किसी रोग की ओषधि हो सकता है, मुझे तो विश्वास नहीं।'' कुंती बुआ ने हँसते हुए कहा। हम सब हँस पड़े।

''लेकिन मैं तो इसी ओषधि से काम लूँगा।'' मैंने कहा।

''इसका तात्पर्य है कि मैं युद्ध करूँ।'' धर्मराज बोले, ''एक यज्ञ के लिए युद्ध करके मैं युद्धापराधी नहीं बनना चाहता।''

''यह क्या कह रहे हो, बेटे?'' कुंती बुआ बोली, ''तुम क्षत्रिय हो और युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है। राजसूय यज्ञ तो इसी बात की स्वीकृति है कि युद्ध में कोई तुम्हारी समानता नहीं कर सकता।''

मैंने अनुभव किया कि कुंती बुआ का झुकाव किसी भी तरह राजसूय यज्ञ करने के पक्ष में है। मैंने तुरंत बीच-बचाव किया—''अब इस विवाद को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। बस इतना जानिए कि हमें राजसूय यज्ञ करना है। अब यह सोचना चाहिए कि किस तरह किया जाए कि कम-से-कम रक्तपात हो और हमारा वैभव भी किसीकी दृष्टि में खटके नहीं।''

''ये दोनों बातें कैसे संभव हैं?'' युधिष्ठिर बोले, ''किसीके वैभव के प्रति ईर्ष्यालु होना मानव की सहज प्रवृत्ति है। जब राजसूय यज्ञ होगा तो कुछ लोग तो

ईर्ष्या करेंगे ही। ईर्ष्याजन्य युद्ध में साधारण युद्ध से अधिक रक्तपात होता है; क्योंकि बाहर का युद्ध किसी विशेष उपलब्धि के लिए है—वह बाह्य-प्रेरित होता है और ईर्ष्याजन्य युद्ध अंत:प्रेरित होता है। उसके मूल में व्यक्ति का अहं होता है। वह विनाश करेगा। इसकी कोई सीमा नहीं है। सामान्य युद्ध तो जिसके लिए होता है, उसकी प्राप्ति पर समाप्त हो जाता है; पर ईर्ष्या तो विनाश के अंतिम छोर तक जाती है।'' युधिष्ठिर ने ऐसे ढंग से कहा कि सभी चुप हो गए।

पहले तो मैं भी चुप हो गया, फिर थोड़ी देर बाद मुसकराते हुए बोला, ''सबकुछ होगा और ऐसा होगा जैसा इसके पहले कभी नहीं हुआ है।''

□

मैंने उसी रात छंदक को मेघसंधि से मिलने गिरिव्रज भेजने की योजना बनाई। उसे बुलाया और कहा, ''इस समय जरासंध के परिवार की स्थिति ठीक नहीं है। हमें विस्तार से वहाँ की राजनीति की जानकारी करनी चाहिए।''

''आप व्यर्थ में मुझे क्यों मौत के मुँह में डालना चाहते हैं!'' उसने परिहास में कहा, ''जरासंध को जरा भी आभास लगेगा तो मुझे पकड़कर वह बंदीगृह में डाल देगा। इस समय वह एक सौ एक की गिनती पूरी करने के पीछे पागल है।''

''पर तुम राजा नहीं हो।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''वह एक सौ एक राजाओं की बलि चढ़ाने वाला है, तुम्हारे जैसे दरिद्रों की नहीं। फिर उसकी यह गिनती कभी पूरी होने वाली भी नहीं है। सुना है, मेघसंधि और उसका पिता सहदेव दो-एक दिन पर चोरी-छिपे कुछ राजाओं को कारा में से भगा देते हैं। सौ तो दूर रहा, नब्बे भी पूरा होने नहीं देते; क्योंकि इस नरसंहार यज्ञ के वे विरुद्ध हैं।...फिर उनके महाबली अमात्य हंस और डिंभक भी मारे जा चुके हैं।''

''तो इस स्थिति में हम क्या कर सकते हैं?'' छंदक ने पूछा।

''हम इस स्थिति से लाभ उठा सकते हैं।'' मैंने कहा, ''हमें उन्हें समझाना चाहिए कि पिता के पाप और पुण्य की भागीदार उसकी संतति भी होती है। यदि पिता के उत्तराधिकार में पुत्र को पाप ही मिलना हो तो नीति यही कहती है कि ऐसे पिता का यथाशीघ्र अंत कर देना चाहिए।''

''यह उसके वश की बात नहीं है।'' छंदक बोला, ''जरासंध इस वय में भी इतना शक्तिशाली है कि यदि वह अपनी एक-एक काँख में एक-एक को दबा ले तो तुरंत दोनों का अंत हो जाएगा।''

''तो उसकी सहायता करें, जो जरासंध का अंत कर सकता है।'' मैंने कहा।

"इसका तात्पर्य यह है कि किसीके घर में विभीषण पैदा करना मेरा ही काम है!"

"इस कला में प्रवीण तो तुम्हीं हो।" मैंने हँसते हुए कहा और वह भी हँसने लगा।

यह बात मैंने किसीको नहीं बताई और न किसीको मैंने छंदक के साथ भेजा। दूसरे दिन छंदक इंद्रप्रस्थ से अदृश्य हो गया।

उधर पांडवों में अंतर्मंथन चलता रहा। वे मेरी बातों से उत्साहित होने की अपेक्षा हतोत्साहित अधिक हुए थे। उनको अपनी योजना पर धुँधलका दिखाई दे रहा था।

दूसरे दिन जब मैं मिला तो उनकी ध्वनि में निराशा अधिक थी। मुझे देखते ही युधिष्ठिर बोले, "मैं अभी आपके पास ही आने वाला था—वह भी केवल एक प्रश्न लेकर।"

मैंने मुसकराते हुए पूछा, "क्या है आपका प्रश्न?"

"हमें बस इतना स्पष्ट बता दीजिए कि हम राजसूय यज्ञ करने के योग्य हैं या नहीं?"

"आप योग्य हैं और आपको करना चाहिए।" मैंने बड़ी दृढ़ता से कहा, "और मैंने तो इस संदर्भ में कार्य भी आरंभ कर दिया है।"

इतना सुनना था कि सूखते धान पर पानी पड़ा। कुंती बुआ तो एकदम खिल उठी।

"आपको केवल एक काम करना है।"

"क्या?"

"हस्तिनापुर को किसी तरह तैयार करना है।" मैंने कहा, "इस कार्य में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी, जिसके कारण वे नाराज हुए हैं।" मैंने मुसकराते हुए द्रौपदी की ओर देखा।

पर द्रौपदी टस से मस नहीं हुई। उसे लगा जैसे उसे कोई दंड दिया जा रहा हो। मैंने समझ लिया कि यह अहं की अग्निशिखा है। इसे छेड़ने से यह और अधिक भभकेगी।

मैंने स्थिति सँभाली। युधिष्ठिर से बोला, "इस कार्य में आपको पहल करनी चाहिए।" वे तुरंत तैयार हो गए। मैंने उन्हें बताया—"नितांत अनौपचारिक ढंग से आपको सपरिवार हस्तिनापुर जाना चाहिए और राजसूय यज्ञ के संबंध में उनसे विचार करना चाहिए।"

“तुम कैसी बातें कर रहे हो?” युधिष्ठिर बोले, “तुम्हारी बातों में कभी इतनी विसंगति तो नहीं होती थी। एक ओर तुम हस्तिनापुर को हमारा स्थायी शत्रु भी बताते हो और दूसरी ओर उनसे राय भी लेने को कहते हो!”

“यही तो कूटनीति है।” मैंने कहा, “वस्तुत: उनसे हमें यह कहना है कि इस कार्य का दायित्व जितना हमारे ऊपर है उतना ही आपके ऊपर भी। हम तो आपकी एक प्रशाखा मात्र हैं। मूल वृक्ष तो हस्तिनापुर ही है। यहीं के एक पूर्व सम्राट् ने राजसूय यज्ञ करने की इच्छा महर्षि नारद के माध्यम से भिजवाई है। दूसरी बात यह है कि राजसूय यज्ञ की प्रकृति राजकीय है। इसे हर व्यक्ति नहीं वरन् सम्राट् ही कर सकता है। महाराज पांडु को इसे संपन्न करने की इच्छा इसलिए थी कि वे हस्तिनापुर के सम्राट् थे, इसलिए नहीं कि वे पांडवों के पिता थे। अतएव इसे पूरा करने का जितना दायित्व हमपर है, उससे कहीं अधिक आप पर है।”

“तब दुर्योधन कहेगा कि फिर तो इसे हमें ही करना चाहिए।” युधिष्ठिर ने शंका व्यक्त की।

“तब आप कहिएगा कि आप ही करें, इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है! इसके लिए आप पुरोधाओं और याज्ञिकों से राय ले लें।”

“और कहीं याज्ञिकों से भी उन्होंने अपने पक्ष में राय ले ली तो?”

“वे कभी उनके पक्ष में अपनी राय नहीं देंगे।” मैंने मुसकराते हुए बड़े विश्वास से कहा, “क्या वे शास्त्रीय मर्यादाओं के विरुद्ध जाएँगे? चाहे वेदव्यास हों या धौम्य—दोनों कहेंगे कि पुत्रों के होते हुए यह यज्ञ भ्रातृज कैसे करेंगे! और यदि आप लोगों ने स्थिति ऐसी बना दी कि महामात्य से वे राय लें, तब तो वे यह भी कह सकते हैं कि जिस समय महाराज पांडु का स्वर्गारोहण हुआ, उस समय हस्तिनापुर के युवराज युधिष्ठिर ही थे, इसलिए यह यज्ञ उनके ही द्वारा किया जाना उचित है।”

सभी लोग मेरी बात पर हँसने लगे। मैंने फिर कहा, “ऐसी ‘व्यवस्था’ प्राप्त करने के लिए आपको थोड़ा प्रयत्न तो करना पड़ेगा।”

“तो कृपया उसे भी बताइए, द्वारकाधीश!”

युधिष्ठिर के कथन की सहजता पर मैं निरंतर मुसकराता रहा। मैंने कहा, “इसके लिए कुंती बुआ और द्रौपदी को भी आपको साथ ले जाना होगा।”

“अरे, केवल इन्हींको क्या,” युधिष्ठिर ने कहा, “मैं अपने भाइयों को भी साथ ले जाऊँगा।”

“तब मैं किन्हें अपने साथ ले जाऊँगा?”

"तो क्या तुम भी कहीं जाने वाले हो?" कुंती बुआ बोली।

"क्यों? राजसूय यज्ञ क्या इतने भर से हो जाएगा?" मैंने हँसते हुए बताया—"हमें ऐसा आतंक पैदा करना होगा कि हमारे विरोधी भी कुछ न करने पाएँ। खैर, यह हमारा काम है। आपको तो केवल हस्तिनापुर की बागडोर सँभालनी होगी। इसके लिए आपको प्रपितामही, पितामह एवं विदुरजी से पहले मिलकर वातावरण बनाना होगा और माहौल निर्मित करना होगा कि दोनों परिवार इस कार्य में एक हैं।"

"और आप क्या करेंगे?"

"यह तो समय बताएगा।"

मेरी गोपनीयता पर लोग हँस पड़े।

"फिर आप किसे अपने साथ ले जाना चाहेंगे?" युधिष्ठिर ने बड़े सीधे ढंग से पूछ दिया।

मेरा उत्तर भी सीधा ही था—"एक तो अर्जुन को और दूसरा, जो आपके यहाँ हर रोग की ओषधि है, उसे।" मेरा अभिप्राय भीम से था।

लोग हँस पड़े।

□

अब मेरी दृष्टि सीधे जरासंध पर थी। मैंने अर्जुन और भीम को लेकर गिरिव्रज (मगध की राजधानी) चलने की योजना बनाई। इसके पहले मैं छंदक को पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए भेज चुका था। लौटते समय मैंने उसे धौम्य ऋषि के आश्रम में मिलने का निर्देश भी दिया था।

बाद में पता चला कि आजकल महर्षि वेदव्यास भी इसी आश्रम में पधारे हैं। अतएव हम लोगों ने उत्कोचक तीर्थ में आचार्यों का आशीर्वाद लेने के बाद ही आगे बढ़ने का निश्चय किया।

यहाँ एक पंथ कई काज होने की संभावना थी। व्यासजी से मिलने का तात्पर्य था आर्यावर्त्त की संपूर्ण सक्रियता से मिलना। एक-एक गतिविधि की जानकारी पा जाना। वे आर्यावर्त्त के जीवित इतिहास थे। यों तो वे पांडवों और कौरवों—दोनों के पितामह थे; पर पांडवों के प्रति उनका स्नेह अधिक था। वे उनके भविष्य के प्रति चिंतित भी रहते थे। फिर इतने बड़े अनुष्ठान के संकल्प की सूचना देने का यह उपयुक्त अवसर था।

सूर्योदय होते-होते हम उत्कोचक तीर्थ पहुँच चुके थे। हम तीनों ने गंगा-स्नान किया और रथ को बाहर छोड़कर आश्रम में प्रविष्ट हुए। भगवान् की कुछ

ऐसी कृपा थी कि महर्षि वेदव्यास सामने ही दिखाई पड़ गए। अग्निहोत्र समाप्त कर महर्षि धौम्य के साथ टहलते हुए वे वायु-सेवन कर रहे थे।

मैंने उन्हें बहुत दिनों के बाद देखा था। इस अवस्था में भी वे कहीं से झुके नहीं थे। काल की गति का कोई विशेष प्रभाव उनपर दिखाई नहीं दिया। कृष्णवर्णी तन की दृढ़ मांसपेशियाँ लौह को तराशकर जोड़ी हुई ज्ञात हो रही थीं। दृष्टि की परिधि में आते ही मैंने प्रणाम किया। फिर चरण स्पर्श के लिए हम तीनों लपके। हमारी गति के अनुकूल ही उनकी प्रतिगति थी और मेरे झुकने के पूर्व ही उन्होंने छाती से लगा लिया। ऐसे गद्गद हुए कि क्या बताऊँ।

''तुमने नरकासुर का वध कर पृथ्वी का भार हलका किया। इतिहास हमें क्या कहता कि किसी पिशाच ने सोलह सहस्र निरपराध अबलाओं को बंदी बनाया और उन्हें उस समय मुक्ति दिलानेवाला धरती पर कोई नहीं था!''

''कालदेवता बड़ा विचित्र है।'' मैंने कहा, ''किसको वह क्या कहेगा, इसे कौन जानता है!''

''किसीको चाहे कुछ कहे या न कहे, पर तुम्हें तो अवश्य भगवान् कहेगा।'' उन्होंने कहा और मैंने करबद्ध होकर सिर झुका दिया। वे बोलते रहे—''आज सोलह सहस्र अबलाएँ मुक्त होकर पूरे आर्यावर्त्त में विचर रही हैं। वे तुम्हें ही अपना प्रभु, अपना भगवान् और अपना स्वामी स्वीकार करती हैं। इसका प्रभाव जानते हो क्या होगा?''

मैं तो चुप ही था। भीम बोल पड़ा—''इनके भगवानत्व का आतंक पूरे आर्यावर्त्त पर छा जाएगा।''

वे हँस पड़े—''भगवान् का आतंक नहीं, स्नेह होता है; भक्ति और ममत्व होता है। आतंक तो राक्षसत्व का होता है।''

निश्चित था कि उन्हीं स्त्रियों का कोई समूह कहीं वेदव्यासजी से भी मिला होगा। तभी उन्होंने बताया—''उनमें से बहुत सी द्वारका की यात्रा पर हैं। कितना आकर्षण है तुम्हारे प्रति उनके मन में! कहाँ प्राग्ज्योतिषपुर और कहाँ द्वारका! वे तुम्हारे बिना रह नहीं सकतीं। तुम्हारा यश गाती हुई निर्द्वंद्व चली जा रही थीं।'' उन्होंने स्वयं बात बदल दी—''अभी कल तुम्हारी छाया दिखाई दी और आज तुम दिखाई पड़ गए। वस्तुतः वस्तु से छाया बहुत दूर नहीं रहती।''

उनका संकेत छंदक से था।

''कल ही वह मुझसे मिला था। मैंने तुम्हारे बारे में उससे पूछा था। उसने बताया कि वे भी आप लोगों से मिलना चाहते हैं। आज-कल में पधारेंगे।''

व्यासजी पुनः मुसकराए—"बिना प्रतीक्षा कराए तुम आ गए। अच्छा बताओ, कैसे चले?"

अब मैंने भीम और अर्जुन की ओर देखा कि वे कुछ बोलें, पर उनकी बैखरी न फूटी। वाणी गले के आगे नहीं बढ़ी। तब मैंने कहा, "पांडव राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं।"

"अवश्य करना चाहिए। योग्य पुत्र ही पिता के स्वप्नों को पूरा करते हैं।" उनका भी कहना था—"महाराज पांडु की राजसूय यज्ञ करने की बड़ी इच्छा थी।"

फिर अर्जुन ने महाराज युधिष्ठिर के स्वप्न की चर्चा की। दोनों महर्षि ध्यान से सुनते रहे।

पूरी बात सुनने के बाद महर्षि व्यास ने कहा, "तब तो अवश्य कर डालो। वे नारद ही रहे होंगे। महाराज पांडु का भेजा संदेश वे अदृश्य रहकर बता गए। अब तो यह तुम्हारा दायित्व नहीं, तुम्हारा कर्तव्य भी है।" फिर वे आँखें मूँदकर कुछ सोचते रहे। ऐसा लगा कि वे अदृश्य में लिखा पांडवों का भविष्य पढ़ रहे हों। फिर बोले, "हर शुभ कार्य में बाधाएँ तो आती ही हैं; पर इसकी तुम्हें चिंता नहीं करनी चाहिए। तुम अपनी सारी चिंता द्वारकाधीश को सौंप दो।"

वे टहलते रहे और बोलते रहे। किसीको बोलने का उन्होंने अवसर ही नहीं दिया।...और अंत में वे भी लौट-फिरकर जरासंध पर आ गए—"वह नरमेध यज्ञ करने वाला है।"

"नरमेध या नरेशमेध यज्ञ?" मैंने कहा।

"हाँ, तुम ठीक कहते हो।" व्यासजी बोले, "नरमेध तो उसकी भयंकरता को कम करना है। हर युद्ध एक नरमेध यज्ञ ही होता है; पर उसका उद्देश्य तो एक सौ एक राजाओं की बलि चढ़ाना है। यदि वह सफल हो जाएगा तो अनर्थ हो जाएगा।"

मैंने अनुभव किया कि समाज के हर वर्ग की तरह आश्रम भी चिंतित हैं। तब सबसे पहले हमें इसी समस्या से जूझना चाहिए। यदि जरासंध को हमने परास्त कर लिया तो हमें व्यापक समर्थन और सहानुभूति मिलेगी। वे राजपरिवार तो नैतिक रूप से हमारे समर्थक हो जाएँगे, जिनके मुखिया को हम जरासंध के कारागार से मुक्ति दिलाएँगे। उनकी हारी, थकी और मुँह छिपाए बैठी सेनाएँ पांडवों की सेनाओं से मिलकर नए उत्साह से भभक उठेंगी; जैसे बुझी हुई बाती जलित लौ के संपर्क में आकर जलने लगती है।

"हम भी यही सोच रहे हैं, जो आप सोच रहे हैं।" मैंने कहा, "अब

आपका आदेश मिल गया तो हमारी रही-सही हिचकिचाहट भी दूर हो गई। अब हमें आशीर्वाद दीजिए कि हम इस कठिन कार्य में सफल हों।''

मेरा उद्देश्य तो पूरा हुआ। जब आश्रम असंतोष की आग में जलने लगते हैं तब कोई भी राजसत्ता भस्म हुए बिना नहीं रहती। फिर वेदव्यास केवल महर्षि ही नहीं थे, आर्यावर्त्त की बौद्धिक चेतना के अधिष्ठाता थे। उनका आदेश धर्म की व्यवस्था की तरह मान्य था।

शायद दूसरे-तीसरे दिन हम आश्रम से चल पड़े। रथ पर चढ़ते हुए मैंने छंदक से पूछा, ''अब क्या समाचार लाए हो?''

''सब अनुकूल ही है। मेघसंधि तो बिलकुल तैयार है; पर उसका पिता सहदेव द्विविधा में है।''

''क्यों?''

''उसके सामने कई प्रश्न हैं।'' छंदक बोला, ''पहली बात तो यह है कि वह अपनी प्रजा की मन:स्थिति से अच्छी तरह परिचित है। वह जरासंध के शासन से ऊब चुकी है और किसी प्रकार उसका अंत चाहती है।''

''यह स्थिति तो हमारे अनुकूल है।'' मैंने कहा।

''पर स्थिति सहदेव के अनुकूल नहीं है।'' छंदक बोला, ''उसका सोचना है कि पिता का वध होते ही आप वहाँ के अधिपति हो जाएँगे। जनता आपको सिर-माथे पर बैठा लेगी। वह अभी भी आपको भगवान् मानती है। आपके विजयी होने पर बात ही और होगी। वह सोचेगी कि राक्षसी शासन से मुक्त होकर सीधे-सीधे हम दैवी शासन में आ गए हैं। ऐसे में उसका क्या होगा!''

''तो तुमने बताया नहीं कि शासन सत्ता अपनी जगह होगी। केवल आततायी का अंत होगा?''

''यह मेरे बताने की आवश्यकता नहीं थी।'' छंदक बोला, ''मेघसंधि ने स्वयं अपने पिता को समझाया कि द्वारकाधीश ने जहाँ-जहाँ के राजाओं को परास्त किया, उनमें से किसीकी सत्ता अपने हाथ में नहीं ली। हर जगह की सत्ता वहाँ के उचित उत्तराधिकारी को सौंप दी। अभी ताजा उदाहरण तो प्राग्ज्योतिषपुर का है। नरकासुर का वध किया और उसके पुत्र भगदत्त को गद्दी सौंपी।''

''फिर क्या कहा सहदेव ने?''

''कहता क्या! आश्वस्त होना चाहता है।'' छंदक बोला, ''मुझे तो उससे अधिक समझदार उसका पुत्र मेघसंधि लगता है।''

''पर मेघसंधि को तो सहदेव ने मेरे मथुरा छोड़ने के बाद यहाँ के शासन

की देखभाल करने के लिए रख छोड़ा था!''

''सहदेव ने नहीं, उसे तो जरासंध ने छोड़ा था।'' छंदक ने बताया— ''बल्कि सहदेव ने बाद में उसे बुला लिया। सहदेव इस बात के लिए भी आगा-पीछा सोचता है कि लोग क्या कहेंगे कि इसने राजसत्ता के लिए अपने पिता का वध करा दिया!''

मुझे हँसी आ गई। 'हाय री राजसत्ता! लोग पिता को छोड़ सकते हैं, पर न अपयश लेना चाहेंगे और न राजसत्ता को छोड़ना चाहेंगे।' मैंने सोचते हुए पूछा, ''और कोई समस्या? प्रजा पर वस्तुत: इस समय किसका प्रभाव है?''

''प्रजा के सोच पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है उन स्त्रियों ने, जो नरकासुर के अंत:नगर से मुक्त हुई हैं।''

''अच्छा, तो वे गिरिव्रज भी पहुँच गईं।'' मुझे फिर हँसी आ गई।

मेरा रथ दौड़ता हुआ चला जा रहा था। भीम और अर्जुन इतने शांत बैठे थे जैसे उनके मुखों में जिह्वा ही न हो।

''आप लोग चुप क्यों हैं?''

''तो क्या करें?''

''मेरे कहने पर जो कुछ करना है, उसे तो मैं बाद में कहूँगा।'' मैंने कहा, ''पर इस समय आपकी चुप्पी तो ऐसी लग रही है जैसे इस बात में आपकी कोई रुचि ही न हो।''

''नहीं, ऐसी बात नहीं है।'' भीम बोला।

अब अर्जुन ने भी हँसते हुए कहा, ''कभी-कभी रुचि की अधिकता भी मौन रहने के लिए बाध्य कर देती है।''

''यदि ऐसा है तो आप लोग मानसिक रूप से स्वयं को अच्छी तरह तैयार कर लें; क्योंकि सबकुछ आप लोगों को ही करना है। मैं तो निरपेक्ष द्रष्टा रहूँगा।''

''ऐसा कैसे होगा?''

''राजसूय यज्ञ करेंगे आप। उस यज्ञ के 'होता' होंगे आप लोग और विपत्ति झेलूँगा मैं!'' मुझे हँसी आ गई। वे सब भी हँस पड़े।

मैंने देखा, छंदक मौन है।

''तो तुम्हारी बातें भी समाप्त हो गईं?''

''मेरी बात तो समाप्त ही समझिए।'' छंदक बोला, ''कुछ करने-धरने के पहले सहदेव चाहते हैं कि आपकी और उनकी गुप्त वार्त्ता हो।''

मैं कुछ बोला तो नहीं, पर सोचने लगा कि मानव की अधिकांश समस्याओं

का अस्तित्व ही नहीं होता, यदि उसमें महत्त्वाकांक्षा न होती। यह राजसूय यज्ञ भी अहं के उत्तुंग शिखर पर जमी ऐसी बर्फ है, जिसे यज्ञ की अग्नि भी पिघला नहीं सकती वरन् लोक-स्वीकृति की और भी परतें चढ़ाकर उसे महिमामंडित ही करेगी। इस यशैषणा के पीछे भागते रहना ही हमारा जीवन है। क्या हम मन के वृंदावन में शांतभाव से बैठकर वंशी नहीं बजा सकते?

□

जो स्थिति छंदक ने बताई थी, उसके अनुसार गिरिव्रज में मुझे राजमार्ग से नहीं पहुँचना था। हमें पहाड़ी के पीछे से गुप्त मार्ग से जाना था। और अच्छा हो, हम दिन डूबते-डूबते वहाँ पहुँच जाएँ। वहीं मेघसंधि हमारी प्रतीक्षा करेगा। फिर वह जहाँ ले जाएगा, हमें जाना पड़ेगा।

पर संध्या होने को आई। हम अपने गंतव्य से अभी डेढ़ योजन से भी अधिक की दूरी पर थे। हमने अपनी गति बढ़ाई। जब निश्चित स्थान पर पहुँचे, रात का प्रथम प्रहर शुरू हो चुका था। गाढ़े अँधेरे पर शुक्लपक्ष की चतुर्दशी की धवल ज्योत्स्ना बरस रही थी। अरण्य की पगडंडी को काटकर रास्ता चौड़ा और पहाड़ी को काटकर एक रथ का मार्ग बनाया गया था। हम उसी पर बढ़ते गए।

जब हम एक छोर पर पहुँचे तो कुछ लोग मुँह कपड़े से ढके दिखाई पड़े। कोई पहचाना नहीं जा सका। सभी सैनिक वेश में थे।

उनमें से एक ने हमें देखते ही कहा, ''आप रथ यहीं रोक दें।''

हमने वैसा ही किया। रथ और सारथि को वहीं छोड़ दिया गया।

''हमें तो बताया गया था कि आप तीन होंगे; पर आप तो चार हैं।'' उनमें से एक बोला।

''हम थे तो तीन ही, पर मार्ग में चार हो गए।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

वह हमें अपने सैनिक साथियों के साथ अति गोपनीय मार्ग से ले चला। इसके पहले हमारे रथ और सारथि को कुछ सैनिक दूसरी ओर ले गए।

अंधकार में मशाल के सहारे हम आगे बढ़ते गए। बंद मार्ग में सैनिकों की पगध्वनियों की गूँज-अनुगूँज वास्तविक से कई गुना अधिक ज्ञात होती थी। लगता था, पीछे से कई लोग आ रहे हैं। भीम ने तो मुड़-मुड़कर कई बार देखा भी। कई बार उसने मेरा हाथ भी दबाया। मैंने अनुभव किया कि भीम अधिक आतंकित है। उसे आशंका थी कि हम कहीं गुप्त आघात के मुख की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं। अर्जुन भी चौकन्ना था।

काफी चलने के बाद यह रास्ता पहाड़ी के पार जाकर खुला। यहीं मेघसंधि

ने हमारी अगवानी की। निश्चित समय से देर से पहुँचने के लिए हमारी आलोचना भी की गई।

उसने कहा, ''अब मैं निराश हो लौटने ही वाला था। फिर तो आपकी रात यहीं बीतती। इस जंगली क्षेत्र में असुरक्षित ही।''

मैंने यह तो नहीं कहा कि जीवन की अनेक रातें ऐसी भी बीती हैं, पर यह अवश्य बोला, ''चलो, एक अनुभव और हो जाता।''

इसके बाद उसने हमारे वस्त्र बदलवाए। देखते-देखते हम सब क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए। सबने गले में रुद्राक्ष की माला डाली। पीतांबर ओढ़े। मेरा मोर मुकुट भी उतरवा लिया गया।

''आप पिताजी से कब मिलना चाहेंगे?'' मेघसंधि ने कहा, ''क्योंकि कुछ करने या होने के पहले वे चाहेंगे कि आपसे कुछ स्पष्ट बातें हो जाएँ।''

''इसके लिए मैं तैयार हूँ; पर इस समय हम काफी थके हैं।'' मैंने कहा, ''फिर जैसा उन्हें उपयुक्त लगे।''

वह सोचने लगा।

मैंने पूछा, ''क्या बात है?''

''कुछ नहीं।'' उसने कहा और हमें साथ लेकर आगे बढ़ा।

थोड़ी दूर चलकर शिव मंदिर में हमें ठहराने की व्यवस्था थी। मंदिर बड़ा भव्य था। उसी परिसर में एक बड़ा सरोवर भी था—जल से लबालब भरा हुआ। मंदिर की दक्षिण दिशा की ओर कुछ दूरी पर दो पर्णकुटियाँ भी थीं। शायद इसमें मंदिर के पुजारी रहते रहे हों; पर इस समय दो सेवकों के अतिरिक्त और कोई नहीं था।

कुटिया के भीतर राजकीय प्रबंध था। कुटिया के भीतर पहुँचते ही हमारा श्लथ तन पर्यंक पर ढुलकने के लिए विवश हो गया। परिचर पैर दबाने लगे। लगभग एक घड़ी बाद हमारे लिए वहीं भोजन भी आ गया।

भोजन के बाद हम उसी परिसर में टहलने लगे। हमारे मस्तिष्क में अप्रत्याशित कल था—अनचीन्हा और अनदेखा। हम तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे। सामने सरोवर में मंद गंधवाह के स्पर्श से उठती लहरियों में डूबता-उतराता चंद्रबिंब कभी दूर तथा कभी पास आता और चला जाता रहा।

थोड़ी देर बाद देखा, कुछ लोग इधर ही आ रहे हैं। उधर ध्यान जाना स्वाभाविक था। कुछ क्षणों के बाद ही अपनी गति से आगे बढ़ती हुई मानव छायाएँ स्पष्ट होने लगी थीं। हमने देखा, मेघसंधि के साथ उसका पिता सहदेव

चला आ रहा है।

आखिर इस व्यक्ति से रहा नहीं गया। यह एक रात भी प्रतीक्षा कर नहीं सका। इससे स्पष्ट लगा कि जरासंध का आतंक अपने परिवार पर ही कितना है। हर व्यक्ति लटकती तलवार के नीचे स्वयं को अनुभव कर रहा है।

आते ही सहदेव ने कहा, ''मुझे आपसे कुछ गंभीर मंत्रणा करनी है।'' और वह मेरे मित्रों से मुझे अलग कर एकांत में ले गया।

उसका पहला प्रश्न था—''आपके साथ ये तीन व्यक्ति कौन हैं?''

''तीन नहीं, दो ही कहिए। एक तो मात्र मेरी छाया है, जो कभी अलग हो जाती है और कभी मुझमें ही समा जाती है।'' मैंने कहा। वह समझ नहीं पाया और मैंने समझाने की चेष्टा भी नहीं की। मैंने बात आगे बढ़ाई—''और शेष दो हैं—स्वर्गीय महाराज पांडु के पुत्र भीम एवं अर्जुन। इन्हें तो आप जानते ही होंगे?''

''हाँ-हाँ, खूब अच्छी तरह जानता हूँ। अरे, इन्हें कौन नहीं जानता! पर इस समय अंधकार और बदली हुई भूषा में पहचाने नहीं जा सके।''

''ये कल के प्रकाश में भी पहचाने नहीं जाएँगे। आप निश्‍चिंत रहें।'' मैंने हँसते हुए कहा।

वे पिता-पुत्र भी हँसने लगे।

''पहली बात तो यह है कि मुझे विश्‍वास नहीं होता कि आप मेरे पिता को पराजित कर देंगे।''

मैंने अनुभव किया कि उसका विश्‍वास किसी प्रकार का जोखिम उठाने की द्विविधा में है। साथ ही यह भी लगा कि कोई सुग्रीव सीधे-सीधे राम की तरह मेरी परीक्षा लेना चाहता है।

मैं परिहास की मुद्रा में बोला, ''आपकी मानसिकता तो सुग्रीव जैसी है; पर न आप सुग्रीव हैं और न मैं राम तथा न आपके पूज्य पिताजी बाली—और न मैं इस समय किसी प्रकार की परीक्षा देने की स्थिति में ही हूँ। न मैं उनका वध कर सकता हूँ और न मैं करूँगा।''

''तब आप किसलिए पधारे हैं?''

''उनके वध का यश लेने के लिए।'' अब मैंने उस अंधकार में भी अपना वास्तविक रूप दिखाया—''उनका वध तो करेगा उनका पाप। उन राजाओं की यातना से पैदा हुई आहें, जो उनके कारागार में बंदी हैं। हममें से कोई मात्र उसका निमित्त बनेगा।''

वह मेरा मुख देखता रह गया।

अब मैंने उसकी मूल चिंता पर अँगुली धरी—"आप घबराएँ नहीं। पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर आप ही बैठेंगे।"

"यह तो मैं विश्वास करता हूँ।" उसने कहा, "पर यह अपयश तो मुझे लगेगा ही कि मैंने गद्दी के लिए पिता की हत्या कराई।"

मुझे मन-ही-मन हँसी आ गई। सिंहासन का लोभ भी है और अपयश भी न लगे, इसकी भी चिंता है; पर मैं कुछ बोला नहीं।

"इस विषय में आप क्या सोचते हैं?" उसने मेरे मौन को झकझोरा।

"सोचता तो नहीं हूँ, पर सोचूँगा।" मैंने कहा।

वह आश्वस्त हो चला गया।

दूसरे दिन प्रात: से ही कुछ लोग शिव मंदिर में आने लगे। हम लोगों ने भी वहीं सरोवर में स्नान कर उसी मंदिर में पूजन-अर्चन किया और फिर अपनी कुटिया में आकर जलपान करने के बाद आगे का कार्यक्रम बना ही रहे थे कि कुछ ब्राह्मण या ब्राह्मण वेशधारी हमारे यहाँ पधारे। देखने से स्पष्ट लग रहा था कि ये और चाहे जो हों, पर ब्राह्मण तो नहीं हैं; क्योंकि उनकी मुद्रा, व्यवहार और वाणी—सभी में सैनिक या गुप्तचर अधिकारियों की ऐंठ थी।

"हमें आदेश हुआ है कि हम आप लोगों को ले जाकर महाराज के साधनास्थल पर छोड़ दें।" उनमें से एक बोला।

"आप हैं कौन?"

"हम ब्राह्मण हैं और इस मंदिर में पूजन-अर्चन करते हैं।"

"ब्राह्मण को आदेश देनेवाला कौन इस धरती पर पैदा हुआ है?" मैंने उनकी छद्मता पर आक्रमण किया।

अब तो वे एक-दूसरे को देखते हुए सकपकाए।

"आप जानते नहीं हैं!" उनमें से एक बोला, "महाराज जरासंध का शासन तीनों लोकों से न्यारा है। उसमें सबकुछ संभव है।" इसके बाद एकदम जैसे किसीने उसके अधरों पर अँगुली रख दी हो। अब वह किसीसे कुछ बात करना नहीं चाहता था। हमारी हर जिज्ञासा उसने बहुत कम शब्दों में शांत की। अधिकतर 'हाँ, हूँ' ही करता रहा। वह हमें लेकर सीधे नगर में पहुँचा और राजमार्ग से उधर की ओर बढ़ा जिधर आजकल जरासंध साधनारत था।

नगर में जो हमें देखता, उसीकी दृष्टि हमपर अटक जाती—विशेषकर भीम पर। लोग तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे। ऐसा लंबा-चौड़ा और बलिष्ठ ब्राह्मण तो उन्होंने जीवन में नहीं देखा। अवश्य ही ये गिरिव्रज से बाहर के हैं। फिर

यहाँ क्यों पधारे हैं ? ऐसा तो नहीं कि महाराज के नरमेध में 'होता' या ऋत्विक् हों ? पर वह यज्ञ तो मकर संक्रांति को होने वाला है। हो सकता है, बंदी राजाओं की संख्या एक सौ एक हो गई हो और उनमें दो-एक को खिसक जाने का महाराज को भय हो, इसलिए उन्होंने सोचा हो कि यह संकल्प जितना शीघ्र पूरा किया जाए उतना ही अच्छा है।

जितने मुँह उतनी ही बातें। इसीलिए छंदक नगर में ही रह गया। हमें उन लोगों ने लगभग वहाँ छोड़ा जहाँ से जरासंध का साधना परिसर आरंभ होता था।

''आप लोग कौन हैं ? कहाँ जाना चाहते हैं ?'' परिसर के द्वारपाल ने हमें रोका।

''हम ब्राह्मण हैं, महाराज से मिलना चाहते हैं।''

''प्रयोजन ?''

''याचना के अतिरिक्त ब्राह्मण का और क्या प्रयोजन हो सकता है !'' मैंने कहा। पर अनुभव किया कि इतने से काम चलने वाला नहीं है। मैंने तुरंत अपने को सुधारा—''याचना के अतिरिक्त हमें उन्हें कुछ महत्त्वपूर्ण सलाह भी देनी है। हम यहाँ के नहीं हैं।''

''यह तो देखने से ही लगता है।'' उसने हमें गौर से देखा, विशेषकर भीम को। फिर बोला, ''आपको क्या सलाह देनी है ?''

''उन्हें देने की वस्तु आप ही ले लेना चाहते हो। बड़े होशियार मालूम होते हो !'' इसके बाद मैंने जोर से नाटकीय हँसी हँसी।

वह मेरा मुँह देखता रह गया। ऐसा भौंचक्का-सा हुआ कि वह हमें रोक नहीं पाया। हम एक झटके में साधना परिसर में प्रविष्ट हो गए।

मार्ग सीधा ही था। उसीसे चला। पर पहुँचकर चकित हुआ कि वह द्वारपाल फिर वहाँ मिला। लगता है, किसी संक्षिप्त मार्ग से वह वहाँ पहुँचकर हमारे आने की सूचना अपने महाराज को दे चुका था।

हमें देखते ही उनमें से एक बोला, ''आप चले जाइए, महाराज आपको बुला रहे हैं।''

भीतर जाकर देखा, सहदेव और मेघसंधि वहाँ पहले से बैठे थे। बिना ध्यान से देखे ही जरासंध ने हमें प्रणाम किया।

''भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि दे।'' मैंने मुसकराते हुए हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

मैंने ब्राह्मणों द्वारा सामान्यतया दिया जानेवाला आशीर्वाद—'जीवेम शरदः

शतम्' नहीं कहा था, इसलिए वह एकदम सकपकाया। फिर मेरी ओर देखा और बोला, ''क्या मैं दुर्बुद्धि हूँ, जो भगवान् मुझे सद्बुद्धि देगा?''

''अभी तक तो तुमने दुर्बुद्धि का ही काम किया है।'' मेरी आवाज अब तेज हो गई—''मिथ्या सपनों के पीछे दौड़नेवाले जीव! जरा सोचो, इतने राजाओं को यातना कारा में डालकर और उनके संहार यज्ञ का संकल्प कर क्या तुमने अपनी सद्बुद्धि का परिचय दिया है?''

उसने हमें फिर बड़े ध्यान से देखा; पर अब भी पहचाना नहीं, क्योंकि हमने अपनी सारी पहचान मिटा दी थी। उसका क्रोध उबाल खाने लगा। आँखों से चिनगारियाँ छूट रही थीं। फिर भी उसने स्वयं पर बड़ा नियंत्रण रखा। बोला, ''मुझे सूचना मिली थी कि आप कुछ याचना करने आ रहे हैं। तो स्पष्ट बताइए, आप चाहते क्या हैं?''

''हम चाहते हैं कि तुम बंदीगृह के सभी राजाओं को छोड़ दो और संहार यज्ञ का संकल्प त्याग दो।''

''यह कैसे हो सकता है!'' वह एकदम क्रोध से काँप उठा—''तुम मुझे सलाह देने आए हो या याचना करने आए हो?'' उसका आक्रोश हम ब्राह्मणों के प्रति अब तक उसका पूज्यभाव चबा गया। उसका संबोधन 'आप' से 'तुम' पर उतर आया।

मैंने भी अपना स्वर ऊँचा किया—''तुम मेरी बात को याचना समझो तो याचना, सलाह समझो तो सलाह और आदेश समझो तो आदेश दे रहा हूँ। तुम जिस भाव से मेरी बात स्वीकार करो, मैं उसी भाव से कह रहा हूँ।''

अब तो लगा कि वह एकदम मुझपर झपटने वाला है। वह एक पग आगे बढ़ा भी। इधर से मेरे पीछे खड़ा भीम भी आगे आया। मैंने भीम का हाथ पकड़कर पीछे किया—''नहीं, अभी नहीं। अभी इसे सोचने दो। शायद इसकी बुद्धि रास्ते पर आ जाए।''

अब उसने मुझे फिर ध्यान से देखा। लगता है, अब वह पहचान गया।

''ओह, अपने मामा कंस और नरकासुर का वध करने के बाद यहाँ भी आ धमके—और वह भी ब्राह्मण के वेश में!''

''इसलिए कि शायद तुम ब्राह्मण की बात स्वीकार कर लो।''

''और न स्वीकार करूँ तो?''

''तो तुम्हारा भी वही हाल होगा, जो कंस और नरकासुर का हुआ।''

''किसका साहस है, जो ऐसा करे? जिसने अपनी माँ का दूध पीया हो,

वह आ जाए।''

''नहीं, अभी नहीं।'' मैंने बड़े शांतभाव से कहा, ''पहले आप अपने उत्तराधिकारी का राजतिलक कीजिए।'' (आखिर वह मेरे मामा का श्वसुर था। उसके प्रति मेरा संबोधन तुरंत 'तुम' से हटकर 'आप' पर आया।)

''जीते जी अपनी गद्दी उसे दे दूँ!''

''आप जीवित कहाँ हैं? आपका अस्तित्व तो आपका पाप चबा गया है। आप चलते-फिरते, बोलते शव मात्र रह गए हैं।''

वह फिर भभका।

मैंने उसे और शांतभाव से समझाया—''मैंने आपसे राजतिलक करने का इसलिए आग्रह किया कि मैं किसीको मारकर उसका राज्य नहीं लेना चाहता। और न मेरी इच्छा ही है कि आपकी मृत्यु के बाद किसीका विभीषण की तरह राजतिलक करूँ; क्योंकि मैं आपको रावण जैसी मृत्यु मरने नहीं दूँगा।''

''तो क्या तुम स्वयं को राम समझते हो?''

''यह भ्रम मैंने कभी नहीं पाला।'' मैं फिर जोर से हँसा—''यह समझना तो दूसरों का काम है कि मैं क्या हूँ!''

अब वह गंभीर हो गया। उसने मुझे बार-बार देखा; जैसे अब मैं उसे कुछ दूसरा दिखाई दे रहा होऊँ। अब वह पीछे भी नहीं हट सकता था; क्योंकि वह स्वयं युद्ध के लिए ललकार चुका था। बहुत कुछ आगा-पीछा सोचकर उसने सहदेव को बुलाया और बड़े शांतभाव से उसका राजतिलक कर दिया। वहाँ खड़े लोगों ने सहदेव की जय का नारा भी लगाया।

''इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं मारा गया। सिंहासन खाली है।'' वह चीखा—''यह तो मैंने अपना उत्तराधिकारी चुना है।''

पर वहाँ उपस्थित किसी भी व्यक्ति ने शायद ही उसकी बात पर ध्यान दिया हो। सबके लिए या तो वह मर चुका था या मारा जाने वाला था। परिसर के बाहर भी अच्छी भीड़ लग गई थी। पता नहीं कैसे जरासंध की यह स्वीकारोक्ति नगर में आग की तरह फैल गई कि मामा कंस और नरकासुर का वध करके तुम यहाँ भी आ गए; और तभी से भीड़ बढ़ने लगी। उन्हें लगा कि गिरिव्रज में कुछ होने जा रहा है।

मैंने कहा, ''इसका ध्यान रखिए कि हम युद्ध के लिए नहीं आए हैं। हमारे पास अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं; जो हैं भी, वे आत्मरक्षार्थ हैं। इसलिए आप जिस अस्त्र से लड़ना चाहें, वह अस्त्र हमें भी मँगा दें।''

उसने फिर मुझे ध्यान से देखा। उसे मेरी हर बात विचित्र और कूटनीति से भरी दिखाई दे रही थी। उसकी दृष्टि मेरे चक्र पर भी गई। वह जोर से हँसा। बोला, ''तुम चाहते हो कि मेरे व तुम्हारे बीच अस्त्रयुद्ध हो और तुम अपना अभिमंत्रित चक्र चला दो। इसलिए मैं अस्त्रयुद्ध नहीं, मल्लयुद्ध करूँगा।''

''एवमस्तु!'' मैंने कहा और ऐसे हँसा जैसे मेरा मनचाहा प्रस्ताव आया हो।

वह फिर चकित हुआ। उसने सावधान करते हुए कहा, ''लेकिन मल्लयुद्ध भी नियमानुसार होगा।''

''मृत्यु भी आपके लिए नियमानुसार ही आएगी।'' इस बार मेरा अट्टहास अद्‌भुत था। वह घबरा गया। उसका साहस न हुआ कि मेरी ओर देखता। अब उसे अर्जुन और भीम के बीच ही चुनाव करना था। उसने भीम को चुना।

और यह ऐतिहासिक मल्लयुद्ध आरंभ हुआ। इसकी सूचना मिलते ही नगरवासी भी दर्शनार्थ दौड़ पड़े। दोपहर तक भीड़ का ऐसा दबाव बढ़ा कि साधनास्थल के परिसर की सारी दीवारें गिर गईं। मुझे ठीक याद है, यह कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा थी। जरासंध मल्लयुद्ध का अप्रतिम योद्धा था। भीम से किसी प्रकार कम नहीं। उसके दाँव और गति में बड़ी क्षिप्रता थी; वरन् कई दृष्टियों से वह बीस था। कभी-कभी तो ऐसा लगता था कि वह भीम को दबोच लेगा। तब एक भयानक सन्नाटे की थरथराहट जनता में रेंग जाती और भीम उसे धराशायी करता तो लोग उत्साह में उछल पड़ते।

तेरह दिनों तक यह मल्लयुद्ध चलता रहा। प्रात: सूर्योदय से लेकर संध्या, जब तक तुला का सूर्य ठंडा न पड़ जाता, द्वंद्व चलता रहता। हमें सबसे बड़ा लाभ गिरिव्रज की प्रजा की सहानुभूति से मिल रहा था। जरासंध की प्रजा स्पष्ट रूप से जरासंध के विरुद्ध थी। शायद जरासंध भी पहली बार ऐसा अनुभव कर रहा था।

छंदक भीड़ से हटकर मेरे पास आया। बोला, ''आप देख रहे हैं प्रजा का रुख?''

''हाँ, देख रहा हूँ।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''पर इसमें मेरी कोई भूमिका नहीं है।'' छंदक बोला, ''वह मना रही है कि किसी प्रकार इस आततायी का अंत हो।''

''उसकी यही चाह तो हम लोगों का सबसे बड़ा संबल है।''

मैंने छंदक से यह कहा ही नहीं, ऐसा अनुभव भी किया। प्रजा यदि न चाहे तो आततायी-से-आततायी व्यक्ति भी गद्दी पर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। और शायद इसी कारण ग्यारहवें दिन से ही भीम का पलड़ा भारी पड़ने

लगा। बारहवें दिन की संध्या को तो भीम ने उसके बाएँ पैर को अपने पैर से दबाकर दाहिना पैर उठाकर चीर दिया और आधा-आधा कर फेंक दिया। प्रजा प्रसन्नता में उछल पड़ी। लगा कि जरासंध का आज ही अंत हो जाएगा। पर एक अद्भुत चमत्कार हुआ। उसके दोनों चीरे हुए तन-खंड आपस में मिल गए।

वह तो हँसता हुआ उठकर खड़ा हो गया और बड़े जोर से चिल्लाया—''महाकाल रुद्र की जय!''

मैं चकित था। प्रजा भी सन्न रह गई। भीम और अर्जुन भी अचरज में थे। हमारा निष्कर्ष यही था कि इसपर देवाधिदेव महादेव की कृपा है।

वह संध्या हमारे लिए ही नहीं, पूरे गिरिव्रज के लिए चिंताग्रस्त थी। अकल्पनीय घट गया था। हम जीतते-जीतते पराजय के अंधकार में डूब गए थे। हम मौन, व्यथित और व्याकुल घर लौट रहे थे। संध्या का बढ़ता अँधेरा हमारी निराशा से और गाढ़ा हो गया था। हम अरण्य मार्ग से हारे-थके और भीतर से काफी टूटे हुए चले आ रहे थे कि एक वृद्ध तपस्वी मिले।

उन्होंने भीम के शौर्य की प्रशंसा की और कहा, ''आज की विजय के लिए मैं आप लोगों को बधाई देता हूँ।''

''कैसी विजय, तात? हम तो जीतकर भी हार गए।''

''इस पापी से आपको दो युद्ध लड़ना था। एक तो आप जीत गए और एक कल जीत जाएँगे।'' इसी संदर्भ में उन्होंने जरासंध के जन्म की कथा विस्तार से बताई और कहा, ''जरासंध महाराज बृहद्रथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से उत्पन्न पुत्र है। इस यज्ञ के महान् ऋत्विक् के आशीर्वाद को तो आप लोगों ने जीत लिया।''

हम लोग आश्चर्यचकित हो उस वृद्ध तपस्वी का मुँह देखते रह गए।

वे कहते गए—''यह दो माताओं के गर्भ से आधा-आधा पैदा हुआ था। तब इसे एक ढूहे पर फेंक दिया गया था। 'जरा' नाम की एक राक्षसी ने उसे जोड़कर एक कर दिया। आज आपने अपने समय के प्रमुख याज्ञिक चंड कौशिक (जिसने बृहद्रथ का पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था) की शक्ति को पराजित कर दिया। अब मात्र जरा शक्ति को पराजित करना रह गया।''

''वह कैसे पराजित हो सकती है, महाराज?'' मैंने कहा, ''भीम उसे फिर चीरकर फेंक सकता है; पर उसे जुड़ने से रोक नहीं सकता।''

वह तपस्वी जोर से हँसे। बोले, ''इसमें कौन सी बात है! अरे, चीरकर उसके दाहिने अंग को बाईं ओर और बाएँ अंग को दाहिनी ओर फेंक दो; फिर कैसे जुड़ेगा!''

हमें भी हँसी आ गई कि इतनी सामान्य सी बात हमारी दृष्टि में न आ सकी।

निराशा के अंधकार में भटकते यायावर को अनायास और अचानक मिली यह एक ज्योति किरण थी। हमारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा; जैसे हम अभी भी युद्ध जीत गए हों। मैंने बहुधा अनुभव किया है कि जब जीवन में कोई मार्ग नहीं मिलता, हम निराशा में डूबने लगते हैं तब कोई-न-कोई शक्ति हमारा हाथ पकड़कर किनारे खींच लेती है। इस समय भी उसी शक्ति का हमें आभास हुआ। रात इतने उत्साह में बीती कि क्या बताऊँ।

दूसरे दिन युद्ध आरंभ हुआ। आज पिछले दिन की अपेक्षा भीड़ अधिक थी; पर एकदम शांत। चारों ओर भयग्रस्त सन्नाटा। आतंकित भविष्य का मौन हर आकृति पर चिपका था। आशंकाग्रस्त क्षण बीतते चले गए। घड़ियाँ खिसकती रहीं; पर भीम आज काफी उत्साह में था। उसकी निराशा तो पिछली रात के अंधकार में खो चुकी थी। हम लोग भी प्रतीक्षा में थे कि वह अद्भुत क्षण कब आता है। मध्याह्न का सूर्य माथे पर आ गया।

अचानक भीम ने जरासंध को पटक दिया और उसकी छाती पर चढ़ बैठा। वैसी ही स्थिति ले आया कि वह उसका एक पाँव नीचे दबाकर दूसरा खींचकर उसे चीर सके। और पूरी शक्ति लगाकर इस बार जो उसने चीरा तो चरमराकर उसके दो टुकड़े हो गए। हवा में घुमाकर उसने उसके दाहिने अंग को बाईं ओर और बाएँ अंग को दाहिनी ओर फेंका। दोनों काफी दूर जाकर गिरे। बहुत देर तक छटपटाते रहे, पर जुड़ न सके।

छटपटाते अंगों के शांत होने के बाद भी जनता कुछ क्षणों तक सन्न हो देखती रही; जैसे उसे विश्वास ही न हो कि हमारे महाराज की यह दशा भी हो सकती है।

बहुत देर बाद पूरी भीड़ को झकझोरती किसी कोने से एक आवाज उठी—
''महाराज सहदेव की जय!''

अब जनता को लगा जैसे कुछ हो गया है। वह एकदम नाच उठी। शांत सिंधु अचानक आलोड़ित हो उठा। फिर तो ऐसा हो-हल्ला हुआ, जो अकथनीय था, अवर्णनीय था।

जब बहुत देर तक ऐसा चलता रहा तो मैंने सहदेव से कहा, ''किसीकी मृत्यु पर उल्लसित होना हमारी परंपरा नहीं है। आप अपनी प्रजा को शांत कराइए।''

उसने तुरंत शांत होने की उद्घोषणा की। प्रधान सेनापति को भी प्रजा को

शांत करने के लिए कहा। बार-बार घोषणा भी कराई गई; पर कोई फल न हुआ। कुछ तो इतने उल्लसित थे कि अपना उत्तरीय हवा में उछाल रहे थे।

अब लाचार हो मुझे ही कुछ करना होगा, मैंने सोचा; पर मेरे सामने एक कठिनाई थी। मेरे शरीर की लंबाई सामान्य से कुछ कम थी। मैं साधारणतया भीड़ में खो जाया करता था—और उस समय भी मैं अक्षवाट (अखाड़ा) के नीचे था। मैं अक्षवाट पर चढ़ने के प्रयत्न में ही था कि इसी समय भीड़ में उठे एक रेले ने मेरी सहायता की। मेरे ऊपर आते ही 'अरे, द्वारकाधीश, द्वारकाधीश' की फुसफुसाहट रेंगती और कोलाहल को डसती चली गई। धीरे-धीरे लोग शांत हुए। अब मैंने बोलना आरंभ किया।

मैंने जो कुछ कहा, उसका सारांश था—"मित्रो, यह समय उल्लसित होने का नहीं है। आर्यावर्त्त के महान् प्रतापी योद्धा का महाप्रयाण हो चुका है। अत्यंत शौर्यवान् एवं धैर्यवान् इस धरती से चला गया है। हम सबको दुःख है। आपके महाराज को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाना हमारा उद्देश्य नहीं था। हम तो इस समय एक राजसूय यज्ञ का निमंत्रण देने इंद्रप्रस्थ से निकले थे।"

इसी क्रम में मैंने बताया—"इंद्रप्रस्थ के महाराज, पांडुपुत्र युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ बड़े विधि-विधान से करना चाहते हैं। हमारे साथ महाराज युधिष्ठिर के भाई भीम और अर्जुन भी पधारे हैं। वे आपके महाराज को यज्ञ के लिए निमंत्रित करना चाहते थे और उन राजाओं को भी आमंत्रित करना चाहते थे, जो इस समय इस राज्य की कारा में बंद हैं। हमने उनकी मुक्ति की याचना की, अनुनय-विनय किया; पर आपके महाराज ने हमारी एक न सुनी। परिस्थिति इतनी बिगड़ी कि उसका परिणाम यह हुआ।"

मैंने आगे कहा, "इस सारे प्रसंग में एक ही बात बहुत अच्छी हुई। उनकी दूरदर्शिता ने युद्ध आरंभ होने के पूर्व ही युवराज सहदेव का राजतिलक कर दिया था। अब वे मगध के सिंहासन पर आपके महाराज हैं। अब आप उनका विधिवत् अभिनंदन करने की योजना बनाएँ और हमें अपने उद्देश्य में सफल होने का आशीर्वाद दें।"

इसके बाद 'महाराज सहदेव की जय' के नारे के साथ भीड़ छँटने लगी। उसमें भी मेरे जयघोष की ध्वनि दुर्बल नहीं थी।

अब महाराज सहदेव के साथ मैं बंदी राजाओं से मिलने कारा की ओर चला। मेघसंधि तो पहले से ही मुझसे प्रभावित था; पर सहदेव भी अब मेरी बुद्धि का लोहा मान चला था। उसे विश्वास ही नहीं था कि यह सबकुछ इतने सामान्य

ढंग से हो जाएगा।

राजधानी से एकदम बाहर आरण्यक प्रदेश में एक बड़ी अद्‌भुत कारा उन राजाओं के लिए जरासंध ने बनवाई थी। द्वार-द्वार के भीतर फिर द्वार और इस प्रकार सात द्वारों से होकर गुजरना पड़ता था। बीच-बीच में कहीं लंबा कँकरीला मार्ग था, कहीं कृत्रिम नहरें, कहीं घनी कँटीली झाड़ियाँ। मनुष्य क्या, पक्षी भी भींतर पंख न मार सके। देखकर आश्चर्य भी था और स्वयं पर ग्लानि भी हो रही थी। भविष्य में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे कि आर्यावर्त्त में राजाओं के लिए किसीने ऐसा बंदीगृह बनवाया था।

एक विचित्र बात और हुई। मुख्य द्वार पर पहुँचते ही जब बंदीगृह अधीक्षक से कारा खोल देने के लिए सहदेव ने कहा तो उसने बड़ी विनम्रता से पूछा, ''महाराज का आदेश है न?''

''यह महाराज का ही आदेश है।'' सहदेव बोला और धीरे से मेरे कान में कहा, ''लगता है, यहाँ के अधिकारियों को राजधानी में हुए परिवर्तन की जानकारी नहीं है।''

''यदि ऐसा है तो किसीको भी इसकी जानकारी मत होने दीजिए। मुक्त होनेवाले राजाओं को भी नहीं।'' मैंने कहा, ''देखा जाए, अचानक छूटने पर उनकी प्रतिक्रिया क्या होती है!''

ऐसा ही हुआ। जब बंदी राजा मुक्त होने लगे तब उनकी पहली प्रतिक्रिया थी—''क्या एक सौ एक की संख्या पूरी हो गई? हम लोग तो नब्बे के ही आसपास हैं।'' उनकी आकृतियों पर मृत्यु की छाया स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

''नहीं, अब संहार यज्ञ नहीं होगा।'' महाराज सहदेव बोले।

''यह आप क्या कह रहे हैं!'' जैसे उन्हें विश्वास ही न हो।

सहदेव ने तुरंत रहस्य खोल दिया—''संहार यज्ञ का संकल्प लेनेवाले पूज्य पिताजी अब धरती पर नहीं हैं।''

आश्चर्य में डूबे उन राजाओं को अब सहदेव ने और भी चकित कर दिया।

अचरज तो यह था कि हम लोग सहदेव की बगल में ही खड़े थे; पर हमें कोई पहचान नहीं पाया। मृत्यु के अंधकार में पड़े-पड़े जीवन को पहचानने की दृष्टि बड़ी क्षीण हो जाती है। उनके लिए जीवन एक गत स्वप्न हो जाता है, एक कल्पनातीत स्थिति होती है। उन राजाओं को भी ऐसा लगा जैसे वे कल्पित लोक में प्रविष्ट हो रहे हों। इसीलिए जब मैंने कहा कि आप सब अब मुक्त हो रहे हैं, तो उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था। उनकी दृष्टि एकदम चकपकाने लगी। वे

कभी अपनी ओर देखते, कभी सहदेव की ओर और कभी मेरी ओर—और पागलों-सा हँस रहे थे।

इसी बीच सहदेव ने मेरा परिचय देते हुए कहा, ''ये द्वारकाधीश हैं। इन्हीं की कृपा से आप सब आज पुनर्जीवन पा रहे हैं।''

अब उन्होंने मुझे पहचाना—''ओ हो, कृष्ण कन्हैया! गिरिधर गोपाल! हमें मुक्ति देने आए हैं।'' वे एकदम नाचने लगे। मेरे ईश्वरत्व का रंग और गाढ़ा हो गया—''भगवान् स्वयं हमें स्वतंत्र कराने कारा में आए हैं। हम धन्य हुए!''

''इसमें धन्य होने की कोई बात ही नहीं है।'' मैंने मुसकराते हुए कहा, ''कारा में उपस्थित होने के लिए आप आश्चर्य कर रहे हैं! अरे बंधु, कारागार से तो मैंने अपना जीवन ही आरंभ किया है। इसीलिए जब मैंने आप लोगों को देखा, आपकी दशा निहारी तब मुझे लगा कि मैं अपने पितृकल्पों को देख रहा हूँ। मुझे आप लोगों में अपने पिता की यातनां दिखाई दे रही है।''

मेरी विनम्रता उनकी आँखों से झरने लगी। सब सिसक-सिसककर रो रहे थे। पर मैं उसी विनतभाव में बोलता गया—''हम आपको किसी प्रकार का कष्ट देने नहीं वरन् आपको निमंत्रित करने आए हैं। यह आपको बिना मुक्त कराए संभव नहीं होता।'' इसके बाद मैंने अर्जुन तथा भीम का परिचय कराया और कहा, ''महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करने वाले हैं। हम उसमें आप सबको सादर आमंत्रित करते हैं। आप अपनी पूरी शक्ति के साथ उसमें पधारें। हम आपके आशीर्वाद और सहयोग के आकांक्षी हैं।''

अब मैंने सहदेव क़ी ओर संकेत करते हुए कहा, ''अब ये ही मगध राज्य के अधिपति हैं। इन्हींकी कृपा से आप मुक्त हो रहे हैं। हम इनसे निवेदन करेंगे कि अब ये ससम्मान आपको आपके राज्यों में भेजने की व्यवस्था करें।''

''मगधाधिपति महाराज सहदेव की जय! द्वारकाधीश की जय!!'' के गगनभेदी नारे लगने लगे।

□

सात
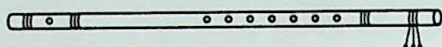
जैसे बढ़े और गलित मांस-पिंड को काटकर फेंक देने से शरीर की कुछ हानि नहीं होती और न वह उसका अभाव अनुभव करता है, पर वहाँ एक कटे का निशान इतिहास बनकर अवश्य रह जाता है वैसे ही जरासंध की मृत्यु के बाद मगध में किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं था। पर, राजपरिवार पर एक मानसिक आघात अवश्य था और अच्छे हुए घाव के चिह्न की तरह उनके मन पर लिख गया था। इसीलिए तो सहदेव और मेघसंधि ने हमें रोक लिया; यद्यपि हम जरासंध की मृत्यु के बाद यथाशीघ्र लौटना चाहते थे। उनका आग्रह था कि कम-से-कम त्रयोदशाह तक हम यहीं रहें।

उनकी बात हमें माननी पड़ी। जनता भी हमें छोड़ना नहीं चाहती थी। उसके लिए तो अकल्पनीय घट गया था। उसकी दृष्टि में तो मैं भगवान् ही था। सुबह से शाम तक लोग मुझसे मिलने आते थे। कुछ लोग तो सचमुच थाल सजाकर आते थे और मेरा पूजन करते थे, आरती उतारते थे।

इस बीच इस घटना का समाचार वायु वेग से पूरे आर्यावर्त्त में फैल गया। नरकासुर वध के बाद यह दूसरी घटना थी, जिसने हमारी प्रतिष्ठा को एक और एक ग्यारह कर दिया था। आसपास का क्षेत्र तो जैसे हिल उठा था। जो सुनता, वही गिरिव्रज हमारे दर्शन के लिए आ रहा था। इनमें वे लोग भी थे, जो कभी जरासंध के भय से मगध छोड़कर चले गए थे। साथ ही ऐसे राजे-महाराजे भी थे, जिन्होंने जरासंध के आतंक से उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था; और काशिराज जैसे लोग भी थे, जो अभी उसके प्रभुत्व में तो नहीं आए थे, पर आतंक की छाया में अवश्य थे।

उद्धव उन दिनों विदेह में था। सूचना मिलते ही मारे उत्साह के वह घटना के दूसरे दिन ही आ गया। काशिराज अपने बेटे सुशर्मा के साथ पधारे।

उन्होंने कहा, ''आप लोगों ने तो चमत्कार कर दिया!''

मैंने कहा, "अरे भाई, इसमें चमत्कार क्या है? जय-पराजय, जीवन-मृत्यु लगी ही रहती है। जो पैदा हुआ है, वह मरेगा ही और जो मरेगा, वह जन्म लेगा ही। यह तो जीवधर्म है।"

"पर महाराज जरासंध के विषय में कहा जाता था कि वह अमर हैं, मरेंगे ही नहीं। आपने देखा नहीं, इतनी लंबी वय में भी उनकी मांसपेशियाँ लौह जैसी कठोर और दृढ़ थीं!"

मैंने बात समाप्त करने के लिए व्यंग्य में कहा, "इसका अनुभव तो हमारे मित्र भीम को हुआ होगा।"

भीम गंभीर रहा; पर अन्यों की आकृतियों पर मुसकराहट उभर आई।

काशिराज के मन में कहीं-न-कहीं यह बात गहराई तक चुभी थी कि गिरिव्रज जाते समय हमारे यहाँ पधारे द्वारकाधीश का हम लोगों ने यथोचित आदर-सत्कार नहीं किया था। उसने सोचा भी नहीं था कि राजनीति इतनी जल्दी बदल जाएगी। अब परिस्थितियों ने उसे पानी-पानी कर दिया था। वह सहदेव को बधाई देने तो कम, पर उसके यहाँ मुझे लगी चोट को सहलाने अधिक आया था। इसीलिए वह मेरे साथ ही और मेरे कक्ष में ही दो दिनों तक जमा रह गया।

इस बीच मगध और आसपास के लोगों का जो निरंतर सम्मान मिलता रहा, उसका भी उसपर बड़ा प्रभाव पड़ा। तभी तो उसने चलते हुए कहा, "मैं आपका सान्निध्य पाकर धन्य हुआ। यदि मुझसे कभी कोई भूल हुई हो तो क्षमा कीजिएगा।"

"अरे, कैसी बातें कर रहे हैं आप!" मैंने कहा, "आप मुझसे बड़े हैं। हमारे वरेण्य हैं। वस्तुत: आपके सान्निध्य से मैं गौरवान्वित हुआ और लौटते समय तो फिर आपकी सेवा में उपस्थित हो रहा हूँ।"

"आइए, स्वागत है आपका।" उसने कहा, "आखिर मार्ग भी तो मेरे द्वार से ही होकर जाता है।"

"सो तो है ही, पर मेरे आज के महानायक भीमसेन की कुछ ऐसी ही इच्छा है।" भीम भी आश्चर्य से मेरा मुँह ही देखता रह गया और काशिराज भी मेरे व्यंग्य को कुछ समझ नहीं पाए।

मैंने थोड़ा स्पष्ट किया—"पुरुष की सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह अपनी सफलता की शौर्यगाथा सबसे पहले अपनी पत्नी को सुनाना चाहता है।"

इतना सुनते ही लोग हँस पड़े।

"तुम भी कन्हैया, अपने चुहुलपन से बाज नहीं आते।" भीम बोला और मुसकराकर रह गया।

मुझे मालूम था कि आजकल बलंधरा (भीम की पत्नी) अपने पिता काशिराज के ही घर है।

काशिराज के चले जाने के बाद भीम ने बड़े नाटकीय ढंग से परिहास करते हुए कहा, ''सचमुच प्रभु, लोग तो आपको मानते ही थे, आज मैं भी मान गया!''

''क्या?''

''कि आप अंतर्यामी हैं!'' भीम की नाटकीयता आगे बढ़ी—''आश्चर्य है कि आपने यह जान लिया कि लौटते समय मैं बलंधरा को उसके मायके से ले चलना चाहता हूँ।''

''तुमने बड़ी होशियारी से अपनी इच्छा मुझे बता दी, अच्छा ही किया।''

मेरे कहने पर फिर हँसी हुई।

मैंने सोचा था कि ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाएँगे, मुझसे मिलनेवालों की कमी होती जाएगी; पर हुआ कुछ इसके विपरीत ही। समय बीतने के साथ-साथ दूर से आनेवालों का सिलसिला बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि एक दिन बहुत सारे यादवों को लिये सात्यकि आ पहुँचा।

''अरे भाई, तुम इतनी दूर से यहाँ क्यों चले आए?''

उसने बताया—''जरासंध के वध के समाचार के साथ-साथ हमें यह भी सूचना मिली कि आप यहाँ से त्रयोदशाह के बाद चलेंगे और कुछ दिन इंद्रप्रस्थ में भी रहेंगे। फिर आप जैसे रमते योगी का कौन ठिकाना! मार्ग में कोई और कार्यक्रम बन जाए। उधर हम और हमारे बंधु बड़ी अधीरता से आपके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। द्वारकावासी तो हर क्षण आपके आगमन की घड़ी गिन रहे हैं।''

''ऐसी विह्वलता भी क्या है! अभी तो हमें बहुत दिन वहाँ से आए हुए हुआ भी नहीं।''

''लोग आपका अभिनंदन करना चाहते हैं।'' सात्यकि बोला, ''आपने आर्यावर्त्त के एक ऐसे राक्षस का वध किया है, जो किसीसे भी अधिक क्रूर और आततायी था; पर साथ ही इतना प्रतापी था कि लोग उसे अमर समझते थे।…और कहीं वह नरेश बलि यज्ञ करने में सफल हो जाता तो काल के मारे भी न मरता।''

''यदि इसके लिए अभिनंदन होना है तो भीमसेन का होना चाहिए।''

भीम तुरंत बोल पड़ा—''मैंने तो कुछ किया ही नहीं। आपके शब्दों में मैं तो निमित्त मात्र था।''

''मैंने कभी यह तो नहीं कहा कि निमित्त पूज्य नहीं होता है।'' मैंने कहा, ''हाँ, वह कर्ता नहीं होता, मात्र करण होता है; पर करण भी पूज्य होता है। हमारे

यहाँ योद्धा के साथ-साथ शस्त्र की भी पूजा होती है।''

सात्यकि चुप था। चिंतन मुद्रा में वह मेरा मुख देखता रहा।

मेरी विधिवत् शिक्षा तो नहीं हुई थी, आश्रम का जीवन भी अल्प काल का था; पर परिस्थितियों ने मुझे अनुभव की विराट् संपदा सौंपी थी। उन्हींका निष्कर्ष मेरे मुख से निकल जाया करता था, जो शास्त्र वचन से कम प्रभावकर नहीं होता। इसीलिए ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मेरे व्यक्तित्व की तरह मेरी वाणी को भी देवत्व प्राप्त होता गया।

लोग मेरे व्यक्तित्व से अधिक मेरी वाणी से प्रभावित होते थे। वाणी बहुधा मुझे परम अनुभवी और ज्ञानियों की श्रेणी में बिठा देती थी। त्रयोदशाह के दिन की इस घटना से वय से अधिक मेरे अनुभव के प्रभाव का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

अशौच की मुक्ति तेरहवें दिन के स्नान के बाद होती थी। यह सामूहिक स्नान था। राजा, प्रजा सब ब्राह्म मुहूर्त में लगभग सूर्योदय के पूर्व एकत्र होते थे और परिवार के किसी वृद्ध को आगे करके इस स्नान की प्रक्रिया शुरू होती थी। उस वृद्ध को अग्रवर्ती कहा जाता था। पर सहदेव का कहना था कि आपसे अधिक कोई ज्ञानी वृद्ध यहाँ है नहीं। लोगों की यही इच्छा है कि इस अनुष्ठान में आप ही अग्रवर्ती हों।

मैंने स्पष्ट कहा, ''मैं इस योग्य हूँ नहीं। मेरा आपके परिवार से सीधा संबंध भी नहीं है।'' पर कोई कुछ सुनने को तैयार नहीं था। लोगों की अपार श्रद्धा के समक्ष मुझे झुकना पड़ा। मैंने ही अग्रस्नान किया। अशौच में न रहते हुए भी मैं उनकी अशौच-मुक्ति का भागीदार बना।

गिरिव्रज से हमारी बिदाई बड़ी धूमधाम से की गई। मगधाधिपति ने हमें अनेक रत्नों का उपहार तो दिया ही, प्रजा ने भी बहुत कुछ दिया। इतना ही नहीं, महाराज ने अपने पुत्र मेघसंधि को इंद्रप्रस्थ तक पहुँचाने के लिए हमारे साथ कर दिया।

मैंने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए महाराज से कहा, ''आपको इतना कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी?''

उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा, ''इसमें कष्ट क्या है! आपकी कृपा से कभी उऋण नहीं हुआ जा सकता। उसके लिए जो भी किया जाए वह थोड़ा है।'' फिर एक मुसकराहट उनके चेहरे पर उभरी—''आपने हमें पद दिया, हम तो आपको केवल पदार्थ दे रहे हैं।''

□

गिरिव्रज से चलकर हम सीधे काशी पहुँचे। यद्यपि सुशर्मा तो मेरे साथ ही था, फिर भी काशिराज ने इस बार हमारा अद्‌भुत स्वागत किया। वस्तुतः वह मेरा नहीं, अपनी आतंक-मुक्ति का अभिनंदन कर रहा था। किसी बात के क्रम में उसके मुख से अनायास यह निकल ही गया—"मैं आज इतना प्रसन्न हूँ जैसे जरासंध स्वयं मेरे द्वार पर पधारे हों।"

वास्तव में मनुष्य अपने मरे हुए मन को जल्दी छिपा नहीं पाता। वह वाणी से कभी-न-कभी छलक ही जाता है।

मैं केवल हँसकर रह गया। दूसरी स्थिति होती तो मैं काशिराज के इस बदले हुए मुखौटे पर बड़ी चुटीली प्रतिक्रिया व्यक्त करता; पर इस समय तो मेरा उद्‌देश्य राजसूय यज्ञ के लिए अनुकूल वातावरण बनाना था। इसीलिए मैं मौन ही रह गया।

उसने तुरंत अनुभव किया कि यह मैं क्या कह गया; पर अब तो बाण प्रत्यंचा से छूट चुका था। उसकी सनसनाहट कुछ क्षणों तक उसके मन को कुरेदती रही। वह स्वयं पर इतना लज्जित था कि किसी बहाने उस समय वह मुझसे दूर हो गया।

हम केवल दो-तीन दिन वहाँ रहे। जो अपनी प्रजा को किसी समय मुझसे मिलने नहीं देना चाहता था, उसी काशिराज ने इस बार स्वयं उसके मिलने की व्यवस्था की। पहले तो मेरे आगमन की मुनादी कराई, फिर मिलनेवालों की भीड़ के लिए जलपान आदि की व्यवस्था की। कितना परिवर्तन था। यों तो मैंने अनेक अवसरों पर जाना था कि व्यक्ति की नहीं, उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य की पूजा होती है; पर आज उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा था। अमात्य मंडल के लोग मुझे पदत्राण पहनाने के लिए उपस्थित रहते थे।

न काशिराज और न उनकी प्रजा मुझे छोड़ने वाली थी; पर हमें यथाशीघ्र उत्कोचक तीर्थ पहुँचना था। मैंने महर्षि वेदव्यास को वचन दिया था कि लौटते समय हम आपके दर्शन करेंगे। इसीलिए हमें किसी तरह काशी शीघ्र छोड़नी पड़ी।

सुशर्मा तो हमारे साथ था ही। अब उसे पिता की आज्ञा हुई कि हमें इंद्रप्रस्थ तक पहुँचाए। इस बार बलंधरा भी साथ हो गई। वह काफी बदली हुई और अभिमान में चूर थी। उसके पति ने नर राक्षस का वध किया था। आर्यावर्त्त को उसके आतंक से मुक्त कराया था। क्या यह मामूली बात थी! नारी का अहं तो पानी का बुलबुला है। अनुकूल हवा मिली तो लहरों के सिर चढ़ा और जरा सी स्थिति

गड़बड़ाई तो फूटकर बिखरा।

मैंने उसके अहं पर व्यंग्य करते हुए भीम से पूछा, ''क्यों पांडुकुमार, तुम्हें जरासंध बली लगा या हिडिंब?''

मेरे इस प्रश्न पर भीम तो मुसकराकर रह गया, पर मेरे अन्य मित्रों ने इस बेढंगे प्रश्न पर जिज्ञासा की।

मैंने भीम की ओर संकेत कर कहा, ''राक्षस हिडिंब को पराजित करने पर तो इन्हें हिडिंबा मिली थी, पर इस बार ये नर राक्षस को पराजित करके तो खाली हाथ रह गए।''

''क्योंकि इस नर राक्षस की पराजय में मैं 'निमित्त मात्र' था।'' भीम ने मेरा ही बाण फिर मेरी ओर मोड़ दिया।

सभी हँस पड़े।

''उस विजय के साथ हिडिंबा भाभी थीं।'' इस बार उद्धव बोला, ''और इस विजय के साथ बलंधरा भाभी भीम भैया के साथ हैं। भले ही उनकी यह उपस्थिति प्रतीक मात्र हो।''

''हिडिंबा और बलंधरा भाभी में कोई तुलना है!'' इस परिहास में अर्जुन ने भी अपना अंशदान दिया—''हिडिंबा भाभी को तो भैया ने युद्ध में जीता था और बलंधरा भाभी को प्रेम में। एक में भैया की जीत हुई थी और दूसरे में भाभी की।''

इस बार जोरों की हँसी हुई। इसमें बलंधरा की भी हँसी शामिल थी।

इसी तरह हँसते-बोलते हम लोग उत्कोचक तीर्थ में धौम्य ऋषि के आश्रम में पहुँचे। यद्यपि हम चाहते तो मध्य रात्रि में ही आ जाते; पर कुसमय हमने आश्रमवासियों को तंग करना उचित नहीं समझा। प्रात: अग्निहोत्र के बाद जब मैं पहुँचा तब महर्षि वेदव्यास हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे।

उन्होंने मुझे देखते ही कहा, ''आओ, आधुनिक विश्वामित्र, आओ।''

मैं यह संदर्भ समझ नहीं पाया। मैंने बड़ी विनम्रता से कहा, ''इतना बड़ा मेरा व्यक्तित्व कहाँ!''

''पर काम तो तुमने उतना ही बड़ा किया है, वरन् उससे भी बड़ा।'' इसके बाद उन्होंने पूछा, ''तुमने शुन:शेप की कथा सुनी है?''

मेरे नकारात्मक ढंग से सिर हिलाने में जिज्ञासा के ही भाव थे।

''ऋग्वेद में यह कथा आती है।'' महर्षि बोले। फिर उन्होंने कथा सुनाई—''महाराज हरिश्चंद्र को कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने वरुण देवता की आराधना की और कहा कि प्रभु, यदि मुझे पुत्र हुआ तो मैं वह पुत्र आपको बलि चढ़ा दूँगा।''

हम लोगों को यह बात बड़ी विचित्र लगी। जब उसे बलि ही चढ़ाना था तो पुत्र माँगने से लाभ क्या? पर मैं चुप ही रहा। ऐसे अवसरों पर छंदक की वाचालता बड़ी काम आती है। उसने पूछ ही लिया।

महर्षि वेदव्यास हँस पड़े। उन्होंने कहा, ''यह जिज्ञासा तुम्हीं मुझसे नहीं कर रहे हो वरन् महाराज हरिश्चंद्र के पारिषदों ने भी उनसे की थी। तब उन्होंने कहा था कि पुत्र प्राप्त करना पिता की सबसे बड़ी उपलब्धि है। कोई पिता इस उपलब्धि से वंचित रहना नहीं चाहता। भले ही मुझे अपने पुत्र की बलि ही क्यों न देनी पड़े, पर मैं पुत्रविहीन तो नहीं कहा जाऊँगा।''

छंदक की जिज्ञासा को शांत कर उन्होंने कथा आगे बढ़ाई—''तो महाराज हरिश्चंद्र को वरुण देवता की कृपा से एक अत्यंत स्वस्थ एवं सुंदर पुत्र प्राप्त हुआ। उसका नाम रखा गया रोहित। रोहित इतना मोहक था कि महाराज अपने संकल्प को टालते रहे और कालांतर में वे संकल्प भूल भी गए।

''इधर रोहित ज्यों-ज्यों बड़ा हुआ, उसका व्यक्तित्व निखरता ही गया। पिता का मोह बढ़ता गया। संकल्प की विस्मृति पर काल की धूल बैठती गई। अचानक एक दिन महाराज गंभीर रूप से बीमार पड़े। उन्हें उदर शूल हुआ। वैद्यों की चिकित्सा का भी कोई प्रभाव नहीं। ज्यों-ज्यों ओषधि दी गई, रोग बढ़ता गया। अंत में राजवैद्य ने कहा कि यह कोई दैवी प्रकोप है। तब महाराज हरिश्चंद्रजी को अपना संकल्प फिर याद आया। उन्होंने रोहित को बुलाया। उसे सारी कथा सुनाई। रोहित को जब विश्वास हो गया कि अब मेरी बलि चढ़ाई जाएगी तब वह मृत्यु के भय से राजभवन से भाग गया।''

हमें कथा बड़ी रुचिकर लगी। व्यासजी में किसी कथा को मोहक बनाकर कहने की अद्‌भुत प्रतिभा थी। हम सब चुपचाप सुनते रहे। वे कहते गए—''जंगल में रोहित एक ऋषि अजीगर्त से मिला। ऋषि बड़े लोभी थे। उन्हें स्वर्ण से पूरी तरह संतुष्ट कर बलि देने के लिए उनसे रोहित ने एक पुत्र माँगा। अजीगर्त को तीन पुत्र थे। उनमें शुनःशेप मझला था। अजीगर्त ने उसे रोहित को देकर कहा, 'इसे ले ज़ाकर अपने पिता को दे दो। वह तुम्हारे स्थान पर इसकी बलि देकर अपना संकल्प पूरा करें।'

''पितृभक्त शुनःशेप तैयार हो गया। राजधानी में लाया गया। यथानियम उसे बलि स्तंभ में बाँध दिया गया। तब तक विश्वामित्र आ गए। उन्होंने शुनःशेप से परमात्मा की प्रार्थना करने को कहा। उसने प्रार्थना आरंभ की। यह प्रार्थना विश्वामित्र को बड़ी अच्छी लगी। प्रार्थना से वरुण भी मोहित हुए। अब महर्षि

विश्वामित्र ने शुन:शेप को छुड़ा लिया। उसे नया नाम 'देवरात' देकर अपना पुत्र और शिष्य बना लिया। यही 'देवरात' गाधि कुल का उत्तराधिकारी हुआ।''

उन्होंने इसी क्रम में यह भी बताया कि शुन:शेप की प्रार्थनाएँ ऋग्वेद में संगृहीत हैं।

वेदव्यास ने सारी कथा सुनाकर मेरी ओर हँसते हुए देखा और कहा, ''जैसे विश्वामित्र ने शुन:शेप को बलि से बचाकर उसे अपना शिष्य बना लिया वैसे ही तुमने जरासंध के बंदी राजाओं को बलि से छुड़ाकर उन्हें भी अपना शिष्य बना लिया। अब वे तुम्हारे क्रीत दास हो गए और जीवन भर तुम्हारे आभारी रहेंगे। उधर सोलह हजार नारियों को मुक्त कराया, इधर इतने नरेशों को मृत्यु के मुख से निकाल ले आए।'' वेदव्यासजी का स्वर गद्‌गद था—''इतने लोग जब मुक्तकंठ से तुम्हारी प्रशंसा करेंगे, तब आर्यावर्त्त में अब कौन तुम्हारे सामने टिकनेवाला है, द्वारकाधीश! जानते हो, जीवन देनेवाले से अधिक पूज्य जीवन की रक्षा करनेवाला माना जाता है। वह दिन दूर नहीं, जब तुम आर्यावर्त्त में भगवान् की तरह पूजे जाओगे।''

''सब आपकी कृपा है, महाराज!'' मैं संकोच में गड़ा जा रहा था।

''हमारी नहीं, प्रभु की कृपा है।'' उन्होंने कहा, ''अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि तुम्हारे पास वह शक्ति है, जिसके बल पर पांडव आनेवाली विपत्ति को भी झेल ले जाएँगे।''

''तो आप अपनी भविष्यवाणी पर अटल हैं?''

''जब भवितव्यता अटल है, तब मैं अपनी भविष्यवाणी पर क्यों न अटल रहूँ!''

''एक ओर तो आपने उन्हें राजसूय यज्ञ करने की अनुमति ही नहीं, आशीर्वाद भी दिया है और दूसरी ओर आप उनपर पड़नेवाली विपत्ति को भी अवश्य संभावी बता रहे हैं!''

''मृत्यु भी अवश्य संभावी है, तो क्या उसके लिए हम जीना छोड़ दें? हम अपने कर्म से विचलित हो जाएँ? वरन् और भी उत्साह से, निष्काम भाव से कर्म की ओर प्रवृत्त हों।'' वेदव्यासजी बड़े गंभीर हो बोले।

मुझे आज लग रहा है कि उस सामान्य वार्त्तालाप में महर्षि ने जिस निष्काम कर्म का बीज मेरे चिंतन में बोया था, वही आगे चलकर युद्धस्थल में मोहग्रस्त अर्जुन के समक्ष प्रस्फुटित हुआ।

इतनी देर से चुपचाप बैठे अर्जुन ने अब अपना मौन तोड़ा—''अच्छा

महाराज, यह बताइए कि हमारा राजसूय यज्ञ तो निर्विघ्न संपन्न हो जाएगा?''

''हो तो जाना चाहिए।'' महर्षि बोले, ''और फिर द्वारकाधीश तो रहेंगे ही।''

''क्या आप नहीं रहेंगे?'' यह स्वर भीम का था।

''यदि आप आमंत्रित करेंगे तो अवश्य रहूँगा।'' महर्षि ने हँसते हुए कहा।

''ये आमंत्रित ही नहीं, आपसे प्रार्थना करेंगे कि आप अवश्य पधारें और उस यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करें।'' यह प्रस्ताव पांडवों के स्थायी पुरोधा महर्षि धौम्य का था।

बिना किसी हिचकिचाहट और आपत्ति के वेदव्यासजी ने इस प्रस्ताव को मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से स्वीकार किया।

अब क्या था! हमारे मन में मोदक फूटने लगे। हमारी यह सबस बड़ी उपलब्धि थी। हमें लगा कि राजसूय यज्ञ की आधी सफलता तो आज ही मिल गई। मैं व्यक्तिगत रूप से एक बड़ी चिंता से दूर हुआ।

बात यह थी कि इस समय ऋषियों और धर्माचार्यों की मुख्य दो शाखाएँ थीं। एक शाखा थी—ऋक्, यजु: और साम की। इसे त्रयी विधा शाखा कहते थे। यह शाखा सभी सात्त्विक विधाओं की मूल थी। वसिष्ठ और विश्वामित्र इसके मूल पुरोधा थे। दूसरी अथर्व शाखा थी। इसके प्रमुख पुरोधा भृगु और अंगिरा थे। दोनों शाखाओं में द्वंद्व चलता था। त्रयी विधा शाखा के लोग अथर्व को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। हमारे समाज में कुछ ऐसी मान्यता थी कि यज्ञों में ब्रह्मा के लिए अथर्व शाखा का ऋषि स्वीकार्य नहीं था। अथर्व लोग इस मान्यता का विरोध करते थे। आर्यावर्त्त का वैचारिक जगत् इस समय इस विचित्र द्वंद्व का सामना कर रहा था। केवल वेदव्यास ही ऐसे महर्षि और आर्य विधा के अधिष्ठाता थे, जो इस झगड़े के ऊपर थे। द्वंद्वातीत थे। उनकी महत्ता सभी स्वीकार करते थे। यह पांडवों का परम सौभाग्य था कि ऐसे महर्षि ने उनके राजसूय यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करना सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

अब हम एक तरफ से निश्‍चिंत थे। वैचारिक जगत् हमें अनुकूल मिलेगा; जो कुछ भी अशांति का सामना करना पड़ेगा, वह राजनीतिक सिंधु में होगा। उसपर भी हम लोगों ने ऐसे आतंक की छाया डाल दी थी कि हमारे विरोधी भी सामने आकर कुछ कहने की स्थिति में नहीं थे।

मैंने उस रात महर्षि वेदव्यास से इस विषय में लंबी चर्चा की। उन्होंने एक और रहस्य की बात बताई। उन्होंने कहा, ''यों तो जरासंध का यह संकल्प मुझे

बहुत दिनों से साल रहा था। जब मैं इस आश्रम में आया तब अपनी प्राणरक्षा के लिए इस अरण्य में छिपे कुछ राजा मेरे पास आए थे। उनके बाल ऋषियों जैसे बड़े-बड़े हो गए थे। वेश भी कुछ वैसा ही बना रखा था। 'हमारी रक्षा करो, प्रभो!' जब मैंने उनके मुख से सुना तो यही लगा कि इनके यज्ञ में राक्षस विघ्न डाल रहे हैं; पर पूरी बात सुनने के बाद मुझे स्थिति की भयंकरता का ज्ञान हुआ। तब मुझे एक बार तुम्हारी याद आई।''

''यह आपकी कृपा है कि आप मुझपर विश्वास करते हैं।'' मैंने कहा।

''अरे, पूरी बात तो सुनो।'' वेदव्यासजी ने बात आगे बढ़ाई—''दूसरे दिन प्रार्थना करते हुए मैं सूर्य को अर्घ्य दे रहा था। ऐसा लगा कि भगवान् सविता कुछ कह रहे हों कि उन राजाओं की मुक्ति के लिए कुछ करो। इस समय आर्यावर्त्त में धर्म के अधिष्ठाता तुम्हीं हो और यह जरासंध धर्म पर कलंक की तरह छाया है।''

उन्होंने आगे कहा, ''सूर्य के इस आदेश से मैं चिंतित हो गया। फिर मैंने सोचा कि क्यों न भगवान् भास्कर का आदेश मैं कर्ण को सौंप दूँ। जिस दिन मैं उसे बुलाने के लिए चर भेजने वाला था; उसी दिन तुम आश्रम में पधारे। मैंने समझ लिया कि नियति भी मेरे पहले चुनाव का समर्थन कर रही है।'' इतना कहकर वे मुसकराने लगे।

एक बार फिर मैंने सलज्ज भाव से आभार व्यक्त किया।

पर जब यही कथा अर्जुन को मालूम हुई और उसने इस संदर्भ में कर्ण का नाम सुना तो जैसे उसकी शिराओं में रक्त का उबाल आ गया। कर्ण से प्रकृत्या उसकी प्रतिद्वंद्विता थी।

उसने मुझसे सीधे-सीधे पूछा, ''भगवान् भास्कर के आदेश पर महर्षि वेदव्यास को कर्ण की ही याद क्यों आई?''

''यह तो मैंने उनसे नहीं पूछा।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

□

बड़े उत्साह में थे महर्षि वेदव्यास। उन्होंने मेरे साथ ही इंद्रप्रस्थ चलने की इच्छा व्यक्त की। इसे अपना सौभाग्य मानकर मैंने उन्हें अपने रथ पर बिठा लिया। उन्होंने महर्षि धौम्य से भी कहा कि आप भी आश्रम की उचित व्यवस्था कर यथाशीघ्र इंद्रप्रस्थ पधारें।

अब हमारे साथ कई लोग थे। चार तो हम पहले से ही थे। अब हमारी यात्रा में मेघसंधि, सुशर्मा, बलंधरा व महर्षि वेदव्यास आदि और शामिल हो गए थे।

महर्षि के साथ आने से हमारा यह अभियान गंभीर, पवित्र और महिमामंडित हो गया था; जैसे कोई पाषाणखंड बिना किसी प्रयत्न के शिवलिंग हो जाए। अब मार्ग में लोगों द्रारा किए जा रहे हमारे अभिवादनों में भी गंभीरता आ गई थी।

यात्रा में ही मैंने वेदव्यासजी से पूछा, ''यदि हम इधर से ही राजसूय यज्ञ का निमंत्रण महाराज द्रुपद को भी देते चलें तो कैसा हो?''

''ठीक ही है; पर यह अनौपचारिक ही होगा और यह निमंत्रण की पूर्व सूचना ही मानी जाएगी।'' वे बोले।

''इसका तात्पर्य है कि इसके बाद भी विधिवत् निमंत्रण देने आना होगा?''

''बिलकुल।'' उन्होंने आचार्य की गुरुता से भरे स्वर में कहा, ''क्या तुमने राजसूय यज्ञ को बच्चों का खेल समझा है! यह सामान्य यज्ञ नहीं है। यह यज्ञ किसी भी राजा को चक्रवर्ती की उपाधि देता है। इसका कर्मकांड विधिवत् वर्षों तक चलता है।'' इसके बाद उन्होंने बड़े नाटकीय ढंग से स्वाभिमान प्रदर्शित करते हुए कहा, ''अब तो तुम्हारे यज्ञ का ब्रह्मा मैं हूँ। सबकुछ मेरी देखरेख में होगा।''

''यह पांडवों का सौभाग्य है।'' मैंने भी वैसे ही नाटकीय ढंग से मुसकराते हुए आभार स्वीकार किया।

''यह तुम कह सकते हो कि अभी मैं विधिवत् अभिमंत्रित होकर स्थापित नहीं हुआ हूँ।'' वेदव्यासजी परिहास में ही बोले, ''अनौपचारिक होकर अनौपचारिकता तो निभा ही सकता हूँ।''

हम लोग वेदव्यास के कथन को परिहास के भाव से ही ग्रहण कर आनंद लेते रहे।

शीघ्र ही हम पांचाल की राजधानी कांपिल्य पहुँचे। हमारा भव्य स्वागत हुआ। राजपथ पर आकर महाराज ने हमारी अगवानी की। मुझे और महर्षि वेदव्यास को एक ही रथ पर देखकर सिर झुकाते हुए महाराज द्रुपद ने कहा, ''मैं कृष्णद्वय (दोनों कृष्णों) को प्रणाम करता हूँ।''

मैंने तुरंत प्रतिवाद किया—''कृष्णद्वय नहीं, कृष्णद्वयपायन (वेदव्यास) कहिए। मेरे लिए तो आप स्वयं प्रणम्य हैं। वय, अनुभव, ज्ञान आदि सबमें आप मुझसे श्रेष्ठ हैं।''

''वय, अनुभव आदि से क्या होता है! आज तो सारा आर्यावर्त्त आपकी पूजा कर रहा है।'' द्रुपद बोले।

मैंने अनुभव किया कि जरासंध और नरकासुर वध के यश की ज्योत्स्ना यहाँ भी पहुँच चुकी है। महाराज उसकी शीतलता का अनुभव कर रहे हैं। वस्तुत:

दिनोंदिन बढ़ते हुए नर पिशाच के आतंक से बहुत्त से लोग दु:खी थे।

हम लोग दो दिनों तक यहाँ थे। चलना तो दूसरे दिन ही चाहते थे, पर महाराज का आतिथ्य हमें छोड़ नहीं पा रहा था।

इस बीच छंदक को जो ज्ञात हुआ, उसके आधार पर उसने बताया—''आज मैं मान गया कि आपने अब तक का सबसे बड़ा युद्ध नरकासुर का वध करके जीता है।''

''यह तुम कैसे कह सकते हो?''

''कम-से-कम परिणाम के आधार पर तो कह ही सकता हूँ।'' छंदक बड़ी गंभीरता से बोला, ''उसके अंत:नगर से मुक्त हुई स्त्रियाँ चींटी की तरह आपका आभार मुँह में दबाए पूरे आर्यावर्त्त में रेंग रही हैं। यहाँ भी चर्मण्वती के किनारे उन्होंने एक आश्रम बनाया है। उसमें एक मंदिर है, जिसमें आपकी एक प्रतिमा है—बड़ी सुंदर सी, शिलाखंड पर चढ़कर वंशी बजाती हुई। आश्चर्य है कि इतनी जल्दी उन्होंने यह सब कैसे कर लिया! फिर उनकी कला पर मैं चमत्कृत हूँ। उनमें कोई अद्‌भुत कलाकार है। मैं उसीकी खोज में कल संध्या बहुत देर तक उनके साथ था। उन्होंने मेरी भी पूजा और अभ्यर्थना की। उस कलाकार के बारे में मैंने बहुत पूछा, पर उन्होंने कुछ बताया नहीं। केवल मुसकराती रहीं।''

''उन्होंने बता ही दिया होता तो तुम क्या करते?''

''उस कलाकार की मैं पूजा करता।''

छंदक की इस बात ने तो जैसे मुझे झकझोर दिया। मैंने उद्धव की ओर मुसकराते हुए देखा। वह मेरी मुसकान की भाषा पढ़ नहीं पाया। तब मैंने कहा, ''जब तुम व्रज से लौटे थे तो तुम्हारी भी मानसिकता ऐसी ही हो गई थी जैसी आज छंदक की है।''

अब उद्धव ने छंदक की ओर देखा। छंदक कभी उद्धव की ओर देखता और कभी मेरी ओर। मैंने उससे कहा, ''जानते हो, छंदक, अनुभूति की निविड़ गहराई में जब संवेदना उससे टकराती है तब हर व्यक्ति कलाकार हो जाता है। क्रौंच-मिथुन में से एक के वध पर दूसरे की वेदना की गहन अनुभूति जब किसीकी संवेदना से टकराई थी तो वह वाल्मीकि हो गया था और यही टकराहट जब समर्पित हो जाती है तो भक्ति का जन्म होता है। कला और भक्ति के बीच मात्र एक ही रेखा है—समर्पण की रेखा। ऐसे भक्त के लिए मैं तो पूज्य हूँ ही, वह मेरे लिए भी पूज्य है।''

जीवन के कुछ ऐसे भी आनंददायक क्षण होते हैं, जब मनुष्य स्वयं को

साक्षीभाव से देखता है। ये क्षण कुछ ऐसे ही थे। मैं कुछ समय तक मौन सोचता ही रह गया। संयोग था कि मेरे साथ और लोग नहीं थे।

उसी रात महाराज द्रुपद से भी मेरी एकांत वार्त्ता हुई। मैंने उन्हें इंद्रप्रस्थ के नए बने प्रांगण में दुर्योधन के साथ घटी घटना सुनाई और यह भी बताया कि वह किस सीमा तक अपमानित हुआ।

वे बड़े दु:खी हुए और बोले, ''यह अपमान तो असह्य है; वह भी दुर्योधन का पांडवों के यहाँ!'' कुछ क्षणों तक वे मौन रहे। फिर बड़ी चिंतित मुद्रा में बोले, ''कृष्णा को मैं बचपन से देख रहा हूँ। उसका अहं अग्नि से भी प्रख़र है।''

''याज्ञसेनी का अहं अग्नि से प्रखर होना ही चाहिए।'' मैंने उनका जी हलका करने के लिए मुसकराते हुए कहा।

''तुम मुसकरा रहे हो, द्वारकाधीश! मैं तो बहुत चिंतित हूँ। यह अहं एक दिन उसे ही भस्म कर देगा।''

''कोई किसीको भस्म नहीं करता, महाराज! जो होना होता है, वही होता है।''

''यह तुम कैसे कह सकते हो?'' द्रुपद बड़े आवेश में थे—''स्वयंवर के समय कर्ण को इसने क्या कह दिया था!''

अब मैं जोर से हँसा।

''उस समय कर्ण को वह कहने के पीछे मेरी ही मंशा थी।'' मैंने कहा, ''शायद आप भूल गए।''

महाराज याद करने लगे—''इस समय तो ठीक नहीं हुआ। उस समय आपकी मंशा थी, तब कोई-न-कोई बात अवश्य रही होगी।'' अचानक उनकी मुद्रा बदली—''पर इतना समझो, माधव, इसमें बचपन भी है, अहं भी है। बचपन के हाथ में अहं बंदर के हाथ में असि है, जिससे वह दूसरों की कम और अपनी हानि अधिक करता है।''

''शायद इसीलिए तो हनुमानजी के हाथ में असि नहीं, गदा थमाई गई।'' मैंने कहा और महाराज खुलकर हँसे।

पर मूल चिंता पर उनका ध्यान केंद्रित ही था। उन्होंने कहा, ''मैं आपके साथ ही धृष्टद्युम्न को भी भेजता हूँ। जब तक यज्ञ समाप्त नहीं हो जाता, वह इंद्रप्रस्थ में ही रहेगा। इस बीच भी द्रौपदी कोई कांड न कर बैठे।'' साथ ही उन्होंने सावधान भी किया—''धृष्टद्युम्न किस कारण से आपके साथ जा रहा है, यह गोपनीय ही रहना चाहिए; क्योंकि जो हो चुका, वह तो हो चुका। उधर से ध्यान

हटाना ही उसकी गंभीरता को कम करना है।''

हम लोग दूसरे ही दिन कांपिल्य से चल पड़े।

□

अब हमारा कार्यक्रम कहीं और न रुककर सीधे इंद्रप्रस्थ पहुँचना था। हमने अपने पहुँचने की पूर्व सूचना महाराज युधिष्ठिर को भिजवाई। हमने उन लोगों की सूची भी भिजवाई, जो इस समय हमारे साथ थे। हमारे भव्य स्वागत की तैयारी में पूरी राजधानी लग गई। यों भी जरासंध के वध से लोग प्रसन्न थे; पर उन्हें महर्षि वेदव्यास के पधारने का समाचार मिला, तब तो वे गद्गद हो उठे।

हमारे आगमन में सारी राजधानी सजाई गई। हमारा वीरोचित स्वागत हुआ; जैसे इंद्रप्रस्थ के महाराज ही युद्ध जीतकर लौटे हों। महाराज युधिष्ठिर ने नगर द्वार पर ही मेरा पूजन किया। नगर में जगह-जगह तोरण द्वार बने थे। हमारे स्वागत में कलश लिये कुमारियाँ खड़ी थीं।

इस समय हमारे साथ महर्षि वेदव्यास के अतिरिक्त मगध से मेघसंधि, काशी से सुशर्मा, कांपिल्य से धृष्टद्युम्न तथा उनकी सैन्य टुकड़ियाँ भी आ रही थीं। पूरे इंद्रप्रस्थ में चर्चा हो गई कि लोग दिग्विजय करके लौटे हैं। राजसूय यज्ञ की संभावित सारी बाधाएँ उन्होंने दूर कर ली हैं; जबकि ऐसी बात थी नहीं। विजय के नाम पर हमारे पास जरासंध वध के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

महाराज युधिष्ठिर ने महर्षि को ले जाकर अपने सिंहासन पर बिठाया। उनका पद प्रक्षालन किया।

महर्षि ने युधिष्ठिर से हँसते हुए कहा, ''मैंने सुना कि तुम्हारे यहाँ राजसूय यज्ञ होने वाला है और मैं चला आया।''

''बड़ी कृपा की आपने।'' युधिष्ठिर ने कहा। इसके बाद उन्होंने इतिहास के उस अंश पर अँगुली धरी, जो सत्य था; पर जिसे स्वीकारने में महर्षि को थोड़ा संकोच हुआ—''हमारे यहाँ कहाँ! आप तो अपने घर में पधारे हैं। हम लोग तो आपकी ही संतान हैं न!''

''इसीसे तो यज्ञ में मैंने ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करने की अनुमति दे दी।'' महर्षि बोले।

युधिष्ठिर के लिए तो अप्रत्याशित प्रत्याशित हो गया था। आभार प्रदर्शन की व्याकुलता में शब्दों की असमर्थता ने बार-बार उनके मस्तक महर्षि के चरणों पर झुकाए।

मेरा भी ध्यान उधर नहीं गया था जिधर महाराज युधिष्ठिर ने संकेत किया

था। वस्तुतः कौरवं और पांडवों के वास्तविक पूर्वज तो वेदव्यास ही थे। उनके ब्रह्मा का पद स्वीकार कर लेने के बाद तो किसी बिंदु पर कौरव यज्ञ का विरोध नहीं करेंगे। मुझे लगा कि बड़े सहजभाव से एक बला हमारे सिर पर से टल गई।

दूसरे दिन ही मैंने यहाँ से द्वारका के लिए चल पड़ने का कार्यक्रम बनाया और उसी समय इसकी सूचना महाराज के यहाँ भेज दी। वे दौड़े हुए मेरे पास आए।

''अभी इतनी जल्दी क्या है! कल ही तो आप पधारे हैं।''

''बहुत दिनों से द्वारका से दूर हूँ।'' मैंने कहा, ''जितने दिनों के लिए बलराम भैया से कहकर आया था, उससे अधिक दिन लग गए।''

महाराज ने मेरी विवशता स्वीकारी और कहा, ''तो आज रात ही हम विचार-विमर्श के लिए एक सभा बुलाते हैं। उसमें आप आगे के कार्यक्रम निर्धारित करके तो जाइए।''

उसी रात को भोजनोपरांत महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों, अमात्य मंडल के सदस्यों, हमारे साथ पधारे अतिथियों की एक सभा बुलाई, जिसमें यज्ञ के अगले कार्यक्रम पर विचार आरंभ हुआ।

परिस्थितियाँ अनुकूल बनते देखकर महाराज युधिष्ठिर और पांडवों का आत्मविश्वास पहले से बहुत बढ़ गया था। उन्हें मुझपर और वेदव्यासजी पर पूरा भरोसा था। उनका यह भी सोचना था कि जब मगध, काशी, पांचाल जैसे शक्तिशाली राज्य हमारे पक्ष में सक्रिय हैं तब आर्यावर्त्त की ऐसी कौन सी शक्ति है, जो हमारे विरुद्ध जाने का साहस करे!

पर मेरा सोचना इसके विरुद्ध था। मैंने कहा, ''आत्मविश्वास हमारे व्यक्तित्व का एक आवश्यक अंग है, वह हमें साहस देता है; पर अत्यधिक विश्वास हमें दुस्साहसी भी बना देता है। ऐसा सोचना दुस्साहस करना ही होगा कि आर्यावर्त्त में अब हमारा विरोध करनेवाला नहीं होगा। पहली बात तो यह है कि विरोध करनेवाला डंका तो पीटेगा नहीं। जब तक हम उसके सामने नहीं होंगे, उसकी मंशा मालूम होगी नहीं। दूसरी बात यह है कि अभी तो हमने राजसूय यज्ञ करने का संकल्प मात्र किया है। इसकी कोई सार्वजनिक घोषणा नहीं की है।''

''आपने निमंत्रित करना आरंभ कर दिया है, क्या सार्वजनिक घोषणा कुछ और होगी?'' धर्मराज ने पूछा।

''हाँ, कुछ और होगी।'' इस बार महर्षि वेदव्यास बोले, ''अब तक जो भी हुआ है, अनौपचारिक हुआ है। हमने अपने मित्रों और शुभचिंतकों को यज्ञ की

अनौपचारिक सूचना ही दी है। हमारा मौखिक निमंत्रण मात्र मौखिक सूचना से अधिक कुछ नहीं है। इसके उत्तर में उन्होंने अपने पुत्रों के साथ अपनी सेना की एक-एक टुकड़ियाँ अवश्य भेज दी हैं। यह मात्र इस बात का द्योतक है कि हम आपके यज्ञ का समर्थन करते हैं।'' व्यासजी ने विस्तार से बताया—''अब हमें किसी उचित मुहूर्त में यज्ञ की विधिवत् सार्वजनिक घोषणा करनी चाहिए। छोटे-बड़े सभी राजाओं के यहाँ आपके चर जाने चाहिए और उन्हें आपकी योजना से परिचित कराना चाहिए। फिर देखिए, कितने लोग आपके पक्ष में आते हैं!''

''इस प्रकार जितने लोग हमारे पक्ष में आ जाएँगे और उसके बाद भी जो नहीं आएँगे, उन्हें क्या हम अपना विरोधी मानेंगे?'' यह भी शंका धर्मराज की थी।

वेदव्यासजी हँस पड़े—''मैंने पहले ही कहा था न कि राजसूय यज्ञ करने का तात्पर्य है एक लंबी प्रक्रिया से गुजरना; जिसमें कभी-कभी दो वर्षों से भी अधिक का समय लग जाता है।'' फिर उन्होंने बताया—''आपके परिवार के चार प्रमुख लोग चारों दिशाओं में अपनी पूरी सैन्य शक्ति के साथ जाएँगे। वे मार्ग में पड़नेवाले सभी राजाओं को आमंत्रित करेंगे। जो आपके निमंत्रण की अवमानना करेगा तो यह मान लिया जाएगा कि वे आपको चक्रवर्ती सम्राट् नहीं मानते। उनसे आपको युद्ध करना पड़ेगा और उन्हें परास्त कर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनी पड़ेगी।''

यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर चिंतित हो गए। वे कुछ देर तक मौन होकर सोचने लगे। फिर बोले, ''इसके लिए तो हर दृष्टि से अपनी सेना को समृद्ध करना पड़ेगा।''

''इसकी चिंता आप न करें।'' इस बार भीमसेन बोला, ''इसे आप हम लोगों पर छोड़ दें।'' भीम ने अपनी ही ओर से नहीं वरन् अपने भाइयों की ओर से भी महाराज को आश्वस्त किया।

''तो कहाँ से ले आओगे तुम और सैन्य शक्ति?''

''हमारी सेना कोई कम थोड़े ही है। मगध, काशी, पांचाल आदि अभी से हमारे पक्ष में हैं। फिर भी, एक राक्षसी सैन्य शक्ति को भी मैं अपने पक्ष में ले आऊँगा।''

मैं तो समझ गया कि भीम क्या कहना चाहता है; पर अन्य लोग चकित-से उसकी ओर देखने लगे।

''आप देखते क्या हैं!'' भीम ने मुसकराते हुए कहा, ''मेरा एक बेटा राक्षस भी है।''

"यह तो तुम्हें देखने से ही लगता है।" वेदव्यासजी ने व्यंग्य किया और फिर जोरों से हँसी हुई।

"मैं घटोत्कच को भी उसकी सेना के साथ बुलाऊँगा।" भीम बोला, "मानवी सेना के साथ राक्षसी सेना की उपस्थिति शत्रु पर आतंक जमाने में अत्यधिक सहायक होगी।"

पर युधिष्ठिर इस पक्ष में नहीं थे। उनकी आपत्ति थी—"क्या हमारी सेना में राक्षसी सेना की उपस्थिति ठीक होगी? कहीं विरोधियों पर इसका उलटा प्रभाव तो नहीं पड़ेगा? वे यह तो नहीं सोचेंगे कि हमारे भय से इन लोगों ने राक्षसों को भी मिलाया है।"

"ऐसा तो वे तब सोचते जब घटोत्कच भीम का बेटा न होता। बेटा होने से तो वह सेना आपके घर की मानी जाएगी।" वेदव्यास ने कहा, "फिर एक बात और है। हमारी पद्धति के अनुसार यज्ञों में देवताओं का आह्वान होता है, इसलिए राक्षस बहुधा हमारे यज्ञ अनुष्ठान का विरोध करते हैं। घटोत्कच और उसकी सेना के साथ रहने से कम-से-कम हम इस आशंका से तो मुक्त रहेंगे।"

यह बात धर्मराज की समझ में बड़ी आसानी से आ गई। फिर भी वे प्रसन्न नहीं दिखे। ऐसा लगा जैसे कोई बात भीतर-ही-भीतर उन्हें कचोट रही हो।

महर्षि वेदव्यास ने उनकी आकृति से उनके अंतर्द्वंद्व का अनुमान लगा लिया। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा, "लगता है, आप कुछ कहना चाहते हैं और किसी कारणवश कह नहीं पा रहे हैं।"

"मैं यही सोच रहा हूँ कि कहीं इस यज्ञ के लिए हमें अधिक रक्तपात न करना पड़े।"

"तो क्या आप बिना रक्तपात के चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहते हैं?" मैंने कहा।

"तब तो ऐसे चक्रवर्ती सम्राट् बनने से न बनना ही मैं उचित समझता हूँ।"

"यह आप अच्छी तरह सोचकर बोल रहे हैं?" महर्षि बोले, "क्योंकि यह प्रश्न आपके चक्रवर्ती सम्राट् बनने या न बनने का नहीं है। यह प्रश्न है आपके पूज्य और दिवंगत पिता की अंतिम इच्छा पूरी करने का।"

महर्षि का यह ऐसा तर्क था, जिसके सामने सभी निरुत्तर थे।

अब मैंने धर्मराज को समझाया—"आपकी भावनाओं से मैं सहमत हूँ। व्यर्थ रक्तपात का तो वस्तुत: मैं भी समर्थक नहीं हूँ। जितना कम-से-कम रक्तपात हो, उतना ही अच्छा होगा। मेरे विचार से तो वह संसार सबसे अच्छा होगा, जिसमें

युद्ध नहीं होगा। मैं स्वयं युद्ध की सलाह किसीको नहीं देता; पर जब युद्ध गले पड़ जाए तो उससे भागने की राय भी नहीं देता। तब हमें पूरी शक्ति के साथ उस युद्ध का सामना करना चाहिए।''

''यही क्षात्र धर्म है।'' अब तक चुप बैठी कुंती बुआ बोल उठी।

''क्षात्र धर्म ही नहीं, यह मानव धर्म भी है।'' मैंने कहा।

''इस विवाद को जाने दीजिए।'' महाराज युधिष्ठिर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते थे—''आप अपनी अंतिम राय दीजिए।''

''मेरी तो यही राय है कि महर्षि के निर्देश के अनुसार आपको अपने चारों भाइयों को चारों दिशाओं में पूरी सैन्य शक्ति के साथ आर्यावर्त्त के राजाओं को आमंत्रित करने के लिए भेजना चाहिए। इस क्रम में जो आपका निमंत्रण स्वीकार कर लेंगे, वे आपके वर्चस्व को भी स्वीकार कर लेंगे। हो सकता है, वे आपसे मित्रता बढ़ाने के लिए अपनी कुछ सैन्य शक्ति भी आपके साथ कर दें। उसे आप संकोच के साथ स्वीकार कर लीजिए।''

''संकोच के साथ क्यों? सहर्ष क्यों नहीं?'' भीम ने फिर अषनी बुद्धि की टाँग अड़ाई।

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, ''यह कूटनीति है कि आपको ऐसा प्रदर्शित करना पड़ेगा कि जैसे आपको अब किसी सेना की आवश्यकता नहीं है। आप परम शक्तिशाली हैं। जहाँ आपकी किसी दुर्बलता का आभास हुआ कि सफलता संदिग्ध हो जाएगी। इसीलिए यदि कोई अपनी सैन्य सहायता आपको न दे और आपका निमंत्रण स्वीकार कर ले, तो भी आप उन्हें अपना समझिएगा। कुछ कहिएगा नहीं। आगे बढ़ जाइएगा।''

''और जो निमंत्रण न स्वीकार करे तो?'' यह शंका अर्जुन की थी।

''ऐसे दो प्रकार के लोग होंगे। एक तो वे, जैसा आपने कहा कि वे निमंत्रण स्वीकार नहीं करेंगे और दूसरे वे होंगे, जो आपके निमंत्रण का तिरस्कार करेंगे। ऐसे तिरस्कार करनेवालों से तो आपको युद्ध करना ही पड़ेगा। जो स्वीकार नहीं करेंगे और आपका तिरस्कार भी नहीं करेंगे, उनसे आपको कूटनीति से काम लेना पड़ेगा।'' मैंने कहा।

''वह कूटनीति क्या होगी?'' भीम फिर बोला।

मुझे पुनः हँसी आ गई। मैं बोला, ''कूटनीति पहले से तैयार नहीं रहती। वह समय और परिस्थिति के अनुसार उसी समय बुद्धि से पैदा होती है।''

अब वेदव्यासजी ने हस्तक्षेप किया—''हर बात आप लोगों को अब

द्वारकाधीश ही समझाएँगे! अरे, कुछ अपनी बुद्धि का भी प्रयोग करने का अभ्यास कीजिए। आप चक्रवर्ती सम्राट् होने जा रहे हैं।''

महर्षि के इस कथन पर सब हँस पड़े। बात वहीं समाप्त हुई। कार्य-सूची के अगले विषय पर विचार आरंभ हुआ कि राजसूय यज्ञ का निमंत्रण देने के लिए चारों भाई कब इंद्रप्रस्थ से निकलें? मुहूर्त निकालने का कार्य पुरोहित धौम्य को सौंपा गया और यह भी निश्चय हुआ कि इस संबंध में सहदेव पुरोहितजी की सहायता करेंगे।

इसी संदर्भ में महर्षि वेदव्यास ने एक बड़े महत्त्व की बात कही—''सबसे पहले आप सबको हस्तिनापुर जाकर कौरवों को आमंत्रित करना चाहिए।'' मिलने का क्रम भी उन्होंने निश्चित किया—''आप लोग सबसे पहले अपनी प्रपितामही से मिलिए, फिर पितामह से, फिर और सबसे।''

''क्या अन्य लोगों को आमंत्रित करने में उन्हें सहयोग देने के लिए भी कहा जाए?''

''मैंने कहा न कि किसी प्रकार के सहयोग के लिए किसीसे भी मत कहिए।'' मैंने कहा, ''और कौरवों से तो बिलकुल नहीं। हो सकता है, वे ही आपके लिए संकट बन जाएँ।

''तो उन्हें फिर भी टालिए। कहिए, सबकुछ तो आपको ही करना है। यदि सभी चारों दिशाओं की ओर ही चले जाएँगे तो इंद्रप्रस्थ की देखभाल कौन करेगा?''

लोग मेरी बुद्धि पर हँस पड़े। पर साथ ही चिंतन का एक नया आयाम भी उनके समक्ष खुला। अभी तक किसीका ध्यान इस ओर गया ही नहीं था। अब सब सोचने लगे कि ऐसी स्थिति में इंद्रप्रस्थ की रक्षा का भार गुरुतर होगा। केवल महाराज युधिष्ठिर यहाँ रह जाएँगे। सेना का एक बड़ा अंश भी रखना पड़ेगा।

मैंने उन्हें और सावधान करते हुए कहा, ''ऐसे समय में हमें बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के शत्रुओं से सतर्क रहना चाहिए।''

''बाहरी शत्रु तो समझ में आते हैं, पर भीतरी क्या?'' अर्जुन ने शंका की।

मैंने उन्हें ध्यान दिलाया—''खांडव दाह का दृश्य तुम इतनी जल्दी भूल गए! उस महानाग को तुम भूल गए, जिसकी फुफकार कहीं-न-कहीं अभी भी जीवित है! अथर्व शाखा के जिन तांत्रिक लोगों की साधनास्थली तुमने छीनी है, वे तो तुम्हारे स्थायी शत्रु हैं। उनसे तुम्हें हमेशा सावधान रहना होगा।''

लोग बड़ी सजगता से मुझे सुनते रहे, जैसे वैचारिक दृष्टि से वे एकदम मेरे

आश्रित हो गए हों। मैंने उन्हें समझाया—"मेघसंधि और सुशर्मा तो शायद कुछ ही दिनों में यहाँ से चले जाएँगे।"

उन दोनों ने स्वीकार भी किया कि आपके द्वारका प्रस्थान करते ही हम भी जाने का कार्यक्रम बनाएँगे।

"तब आप इन्हें जाने दीजिए। इनके यहाँ भी आपको विधिवत् निमंत्रण भेजना होगा।" मैंने कहा।

"ये लोग तो आमंत्रित हैं ही।" महाराज बोले।

"अभी तक ये आमंत्रित नहीं वरन् आमंत्रित होने के लिए सूचित हैं।" लोगों की जिज्ञासा मेरा मुख देखती रह गई। मैंने मुसकराते हुए कहा, "यदि ये आमंत्रित हैं तो ये स्वयं बताएँ कि इन्हें किस दिन पधारना है? कहीं बिना तिथि के कोई निमंत्रण होता है!"

"अरे, यह तो सामान्य बात हैं।" अर्जुन बोला।

"ऐसी सामान्य बातों की उपेक्षा ही बड़ी बातें पैदा करती हैं।" इस बार महर्षि ने कहा, "आप लोग एक विराट् आयोजन करने जा रहे हैं। कन्हैया के विचार-बिंदु पर अवश्य ध्यान रखिएगा; क्योंकि इस समय राजनीति और कूटनीति का ऐसा जानकार आर्यावर्त्त में दूसरा व्यक्ति नहीं।"

मैं मारे संकोच के गड़ गया।

"ऐसा कम-से-कम आप तो न कहें।" मैंने प्रणाम करते हुए महर्षि से कहा, "लीजिए, अब मैं चुप ही रहूँगा।"

"यदि आप चुप हो जाएँगे तो हम जड़ हो जाएँगे। कुछ नहीं करेंगे।" इस बार द्रौपदी बोली, "और कैसे आप चुप रहेंगे! हम आपको चुप रहने देंगे तब तो। आप यह बताइए कि द्वारका की सेना हमारे पास कब तक आ जाएगी?"

"हमारी सेना!" मुझे आश्चर्य हुआ—"यह किसने आप लोगों से कहा है कि हमारी सेना आपकी सेवा में आएगी?"

"तो क्या सचमुच आपकी सेना नहीं आएगी?" महाराज युधिष्ठिर की व्याकुलता बढ़ी।

"बिलकुल नहीं।" मैंने कहा, "इससे आपका लाभ नहीं, हानि होगी। जो द्वारका के विरोधी हैं, वे खुलकर आपके विरोध की घोषणा करेंगे। तब युद्ध अनिवार्य हो जाएगा।"

"वह तो ऐसे भी होगा।" धर्मराज बोले।

"ऐसे नहीं भी हो सकता है।" मैंने कहा, "आपकी कूटनीति उन्हें धोखे

में भी रख सकती है। क्योंकि द्वारका के बारे में हर व्यक्ति आपसे प्रश्न कर सकता है कि द्वारका का रुख इस यज्ञ के विषय में क्या है? आप कहिए कि अभी तक तो उन्होंने तटस्थता ही दिखाई है। यदि वे हमारे पक्ष में होते तो उनकी भी सेनाएँ हमारे पक्ष में होतीं। तब हो सकता है, कुछ आपसे युद्ध न करें। कुछ आपको प्रत्यक्ष समर्थन भी दें। बल्कि थोड़ा आगे बढ़कर आपको एक काम और करना चाहिए।'' मैंने कहा।

''क्या?''

''इसके पहले कि कोई मेरा विरोधी आपसे प्रश्न करे, आप उससे मिलकर बताएँ कि अभी तक द्वारका का समर्थन हमें नहीं मिला है। भगवान् जाने द्वारका का ऊँट किस करवट बैठेगा। तब वे आपसे जिज्ञासा करेंगे कि क्या द्वारका आपका विरोध भी कर सकती है? तब आप बड़ी गंभीरता से कहिए कि कर भी सकती है। ईर्ष्या कुछ भी करा सकती है।''

मेरे कथन पर महर्षि को हँसी आ गई।

युधिष्ठिर भी बोल पड़े—''इस सीमा तक छल की बातें तो कोई छलिया ही कर सकता है। वह हम लोगों के वश की बात नहीं है।''

मुझे हँसी आ गई। उसी हँसी के बीच मैं बोला, ''चक्रवर्ती सम्राट् का शिखर छूने के लिए महत्त्वाकांक्षा को नैतिकता के शव पर भी खड़ा होना पड़ सकता है। मैं तो मात्र कूटनीति की ही बातें कर रहा हूँ।''

''कूटनीति की नहीं, छल की कहो, कन्हैया!''

''कूटनीति तो छल का ही पुत्र है और वही राजसत्ता के बचपन का साथी भी।'' मैंने कहा।

अब महर्षि वेदव्यास ने बड़े प्रभावशाली ढंग से फिर कहा, ''यदि आपको राजसूय यज्ञ सफल करना है तो आप कन्हैया की बातें ध्यान से सुनिए और बिना विवाद के उसे स्वीकार कीजिए।''

महर्षि के इतना कहते ही लोग चुप हो गए।

थोड़ी देर बाद सहदेव बोला, ''यदि कहीं युद्ध आरंभ हो गया और हम पराजय की स्थिति में आ गए तब? क्योंकि हमें उज्ज्वल पक्ष के विषय में ही नहीं, श्याम पक्ष के विषय में भी सोचना चाहिए।''

''वरन् श्याम पक्ष के विषय में अधिक सोचना चाहिए।'' वेदव्यासजी ने सहदेव का समर्थन करते हुए कहा, ''क्योंकि दूरदर्शी व्यक्ति चलने के पहले मार्ग के संभावित गड्ढे को गिनना आरंभ कर देता है—और तुम तो ज्योतिषी भी ठहरे।''

''ऐसी स्थिति में संकट न टलने की जरा भी आशंका होने पर आप अपना दूत तुरंत इंद्रप्रस्थ और द्वारका भेजें। इसके लिए यहाँ भी एक सशस्त्र सेना सदैव तैयार रहे, जो किसी रथी या अतिरथी के नेतृत्व में अविलंब भेजी जा सके। मैं भी सोचूँगा कि ऐसी स्थिति में मैं द्वारका से आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ।''

रात काफी देर तक यह बैठक चलती रही। अंत में बैठक का निष्कर्ष सुनाते हुए महर्षि वेदव्यास ने कहा, ''आज का विचार-विमर्श बड़ा ही सार्थक और उत्साहवर्द्धक रहा। अब हमें विश्वास हो चला है कि हम राजसूय यज्ञ करने में अवश्य सफल होंगे।''

जब मैं प्रतिहारियों के साथ राजभवन के अतिथिगृह की ओर चला तब निशा का यौवन अपने पूर्ण निखार पर था। रत्नजटित आकाश के झिलमिलाते तारे आज कुछ अधिक ज्योतित जान पड़े।

इसके दूसरे दिन ही मैं छंदक आदि के साथ द्वारका के लिए प्रस्थान कर गया। लोगों ने हमें भावभीनी बिदाई दी। कार्यक्रम इतना मनोहारी था कि मैंने परिहास में कहा भी—''आप तो मुझे ऐसे बिदा कर रहे हैं जैसे अब मैं यहाँ फिर आने वाला ही न होऊँ!''

लोग हँस पड़े। वेदव्यासजी गंभीर ही रहे। वे मुझे और युधिष्ठिर को लोगों के बीच से निकालकर एकांत में ले गए और मुझसे बोले, ''मैं चाहता हूँ कि पांडवों की सारी गतिविधि की सूचना तुम्हें मिलती रहे।''

मैं भी इस संदर्भ में सोचने लगा और शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह संभव तो नहीं लगता। इतना बड़ा आर्यावर्त्त है—और फिर पांडवों को आर्यावर्त्त के बाहर के उन राजाओं को भी निमंत्रित करना है, जिनका संबंध किसी-न-किसी रूप से इस देश से है। ऐसे में वे कहाँ-कहाँ से और कितने चर मेरे यहाँ दौड़ाएँगे!

सभी इस समस्या के अन्य पक्षों पर सोचने लगे। अंत में मुझे एक मार्ग दिखाई दिया। मैंने कहा, ''किसी शुभ घड़ी पर जब चारों भाई चारों दिशाओं में यात्रा आरंभ करें...''

मैंने अपनी बात अभी पूरी नहीं की थी कि महर्षि ने टोका—''किसी एक मुहूर्त पर नहीं, हर दिशा के लिए अलग-अलग मुहूर्त होगा। ज्योतिष चारों दिशाओं के लिए एक ही मुहूर्त की कभी अनुमति नहीं देगा।''

''फिर भी आगे-पीछे तो सभी लोग जाएँगे ही।'' मैंने कहा, ''मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि जो लोग हमारी ओर अर्थात् पश्चिम की ओर जाएँ, वे द्वारका से संपर्क रख सकते हैं। उनके मार्ग में मैं अपनी ओर से कुछ गुप्त

जानकारी की व्यवस्था कर सकता हूँ। अब मेरी ओर जानेवाले का यह कार्य है कि अन्य तीन भाइयों से वह संपर्क बनाए रखे, जिससे मैं उनके माध्यम से सबकी सूचना पा सकूँ।''

व्यासजी ने स्वीकार किया कि यह बात संभव भी है और व्यावहारिक भी।

इसी क्रम में मैंने व्यासजी से भी निवेदन किया—''यदि आप उचित समझें और संभव हो तो आप भी इंद्रप्रस्थ न छोड़ें। इसके लिए धर्मराज अभी आपसे प्रार्थना करेंगे।''

व्यासजी हँसे—''मैं तो संन्यस्त हो चुका हूँ, जहाँ रह जाऊँगा वहीं मेरे लिए आश्रम है; पर धौम्य तो जाएँगे ही, क्योंकि आज आर्यावर्त्त की जो स्थिति है, उसमें आश्रम भी सुरक्षित नहीं।''

इस वार्त्तालाप में भी हमारा काफी समय निकल गया। जब हम लोगों ने इंद्रप्रस्थ छोड़ा, सूर्य काफी चढ़ आया था।

□

द्वारका पहुँचने पर हमारा अद्‌भुत स्वागत हुआ। इसे मैं अभूतपूर्व कहूँ तो शायद अतिशयोक्ति न होगी। इस बार मैं दशार्ण और पुष्कर होता हुआ संक्षिप्ततम मार्ग से द्वारका आया था। अपने लौटने की पूर्व सूचना भी नहीं भेजी थी; फिर भी प्रमुख स्थानों पर लोग स्वागतार्थ खड़े मिले। लगता था कि हमारे पहुँचने की सूचना हमारे रथ के आगे-आगे चल रही थी। बात यह थी कि लोगों की दृष्टि में हमने अकल्पनीय सफलता पाई थी; जैसे जरासंध का वध नहीं, मैं दिग्विजय करके आ रहा हूँ।

द्वारका के नगर द्वार के पहले ही बहुत सारी महिलाओं का एक झुंड मिला। अधिकांश के हाथों में आरती के थाल थे। कुछ के सिर पर मंगल कलश थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक हमारे रथ को रोक लिया। आरती उतारी। पुष्पवर्षा की।

उनमें से कइयों ने मुझसे पूछा, ''आपने हमें पहचाना नहीं?''

अब मेरी दृष्टि के सामने श्रद्धा से अभिभूत उनके व्यक्तित्व की पहचान का प्रश्न था। उनकी वेशभूषा तो द्वारका की परंपरागत थी, पर उनके पहनने का ढंग उन्हें नहीं आया था। बातचीत भी वे हमारी क्षेत्रीय भाषा में कर रही थीं; पर उनका उच्चारण कुछ विचित्र-सा था।

''हमने कहा था न कि अवसर पड़ने पर आप हमें नहीं पहचानेंगे!''

''तुमने स्वयं अपनी पहचान बनाए नहीं रखी। उसे खो दी।'' मैं मुसकराते हुए बोला।

''यह सब किया आपकी होने के लिए।''

''जो स्वयं अपनी न हो सकी, वह हमारी क्या होगी! पहले तुम अपने को पहचानो। अपनी पहचान की रक्षा करो।'' मेरी मुसकराहट और प्रगल्भ हुई—''तुम्हारा जो अपना है, वही मैं हूँ।''

वे सबकी सब गंभीर हो मेरा मुख देखती रह गईं। यद्यपि मैं समझ गया था कि यह नरकासुर के अंत:नगर से मुक्त हुई महिलाओं का समूह है, जो हमारी राजधानी तक चल आया है। मैंने खड़े होकर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिवादन स्वीकार किया।

नगर के मुख्य द्वार पर हमारी प्रतीक्षा में अभूतपूर्व भीड़ थी। अमात्य मंडल के सभी सदस्यों के साथ मुझे पूज्य पिताजी खड़े दिखाई दिए। मैं उनके चरण स्पर्श करने के लिए लपका तो देखा कि बगल में बलराम भैया खड़े हैं। वे शायद ही मेरी अगवानी में कभी आए हों।

इस बार तो निकट पहुँचते ही उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया और बोले, ''जीवन में पहली बार तुमने मेरे मन का काम किया है। मेरा वश चलता तो मैं जरासंध को कभी का मृत्यु के घाट उतार देता।''

मैं उस भीड़ में कुछ बोला तो नहीं, पर मन-ही-मन सोचकर रह गया कि आप मारते रह जाते, उसे चीरकर फेंक देते; पर वह मरता नहीं। उसकी अजेयता ही हमारे लिए घातक हो जाती।

पर मैंने भैया से इतना अवश्य कहा, ''मैंने उसे मारा नहीं।''

''मारा नहीं!'' वे चकित हुए—''तब वह कैसे मरा?''

''इसकी सारी कहानी फिर सुनाऊँगा।''

मेरा स्थायी शत्रु मारा गया था। पूरी द्वारका में दीपावली हुई। पूरे सप्ताह भर राग-रंग चलता रहा। प्रजा ने अपने आयोजन अलग से आयोजित किए थे। राजभवन अपने आयोजन में डूबा रहा। उधर प्रमोद वन की छटा निराली थी। मेरी अनुपस्थिति में उसी वन में प्राग्ज्योतिषपुर से आई महिलाओं को बसाया गया था।

मेरे कहने का इतना तो उनपर प्रभाव पड़ा कि उन्होंने द्वारका की वेशभूषा उतार दी। अपने पर्वतीय प्रकृत वेश में आ गईं और हमारे राग-रंग में शामिल हुईं।

पहाड़ की रंगीन तितलियों की तरह उनका पर्वतीय नृत्य अद्‌भुत और आकर्षक था। उनके संगीत में गिरि-शिखरों की मोहकता थी, गंभीरता थी और थी सहजता। मेरी पत्नियों के लिए वह एकदम नया था। सत्यभामा तो मेरे साथ गई ही थी। उसे उनकी कला का स्वाद मिल चुका था। जांबवती तो ऐसे वातावरण में पैदा

ही हुई थी; पर रुक्मिणी के लिए यह एकदम नया था।

उसने परिहास किया—''अब मैं समझ गई कि आप अधिकतर द्वारका के बाहर क्यों रहते हैं! मैं देख रही हूँ कि ज्यों-ज्यों आपकी अवस्था बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों आपकी भ्रमरवृत्ति में भी बढ़ोतरी हो रही है।''

''इसमें दोष भौंरों का नहीं है, दोष तो फूलों का है।'' मैंने कहा, ''न फूल आकर्षक होता और न भौंरा इतनी परेशानी में पड़ता।''

''भौंरा भला क्या परेशानी में पड़ता है! परेशानी में तो पड़ता है फूल, जो सहज ही समर्पित हो जाता है और उस निष्ठुर को रस चूस लेने के बाद उसे उड़ जाने देता है। आज राधा के हृदय से पूछो, उसपर क्या गुजर रही है! वह आपको क्या समझती है!''

परिहास-परिहास में ही रुक्मिणी ने हृद्तंत्री का वह तार छू दिया कि शरीर झनझना उठा। मेरा मन वृंदावन में चला गया। नृत्य करती उन पहाड़ी तितलियों की आकृतियों पर राधा की आकृति चिपकी दिखाई देने लगी। ऐसा लगा कि सारी गोपियाँ उलाहना दे रही हों कि रुक्मिणी बहन ठीक ही तो कहती हैं कि तेरे जैसा छलिया, जो रस चूसकर गया कि इधर मुँह तक नहीं दिखाया। यदि मैं जानती कि तू इतना स्वार्थी और निष्ठुर है, तो कभी तुझे गले नहीं लगाती। फिर ऐसा लगा कि राधा का स्वर एकदम बदल गया—'नहीं, नहीं। मैं भूल गई। मैं तुम्हें निष्ठुर जानकर भी गले लगाती। आज तुम नहीं हो, भले नहीं हो। तुम्हारी निष्ठुरता तो मेरे पास है। आज मैं उसीको छाती से लगाए जी रही हूँ।'

चिंतन की इस गहराई में मैं ध्यानावस्थित हो गया था। एकदम जड़वत्। न मुझे काल का ज्ञान था, न स्थान का और न स्थिति का। रुक्मिणी ने अब मुझे झकझोरा—''किन स्वप्नों में खो गए? आप तो भगवान् हैं न! आप तो अपने जगत् में खोते हो। स्वप्नों में तो भक्त खोता है और वहीं अपने भगवान् को पाता है।''

''भक्त के लिए ही भगवान् को स्वप्न में जाना पड़ता है। यदि वह स्वप्नों में न जाएगा तो उसके भक्त भगवान् को स्वप्नों में पाएँगे कैसे!''

मैं भी हँसा और मेरे साथ रुक्मिणी भी।

उन महिलाओं का मेरी पत्नियों से बड़ा आत्मीय संबंध था। उनकी न कोई महत्त्वाकांक्षा थी और न कोई विशेष सपने थे। उनकी आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। एक व्यक्ति के सुखी होने में जो बाधाएँ थीं, वह उनके पास कम-से-कम थीं। उन्हें केवल भोजन और वस्त्र से मतलब था। हाँ, कभी-कभी वे मुझसे वंशी सुनने की इच्छा व्यक्त करती थीं और बड़े आग्रह के साथ मुझे प्रमोद वन में ले जाती थीं।

मंत्रमुग्ध-सी मेरी वंशी सुनती थीं और कभी-कभी मेरे सुर पर नाचने लगती थीं। तब प्रमोद वन वृंदावन हो जाता था।

मुझे आश्चर्य था कि कठोर पहाड़ों से घिरे उन यातना शिविरों का क्रूर जीवन जीनेवाली इन जिंदगियों में इतनी सरसता कहाँ से आई। मेरी वंशी में यदि राग था तो वे प्रत्यक्ष रागिनियाँ थीं; मेरी वंशी में यदि सुर था तो वे प्रत्यक्ष सुरबालाएँ थीं। यदि मुझमें लेश मात्र भी कहीं भगवत्ता थी तो वे साक्षात् भक्ति थीं—मेरे साथ रहने पर भी मुझसे अलग दिखाई पड़नेवालीं; मेरे साथ न होने पर भी मुझे न छोड़नेवालीं।

मेरी अनुपस्थिति में वे द्वारका आई थीं। उन्होंने अपना परिचय देते हुए अपनी व्यथा-कथा कही थी। भैया ने उन्हें इसी प्रमोद वन के उत्तरी किनारे पर बाँस की बनी अस्थायी पर्णकुटियों में बसा दिया था। भोजन-पानी की सामान्य व्यवस्था कर दी थी। बस इतने से वे खुश थीं। चिड़ियों-सा चहकनेवाला उनका जीवन राजमहल की सुख-सुविधा में पले असंतोष के लिए बड़ा ही ईर्ष्यालु था।

उनका कोई काम नहीं था, फिर भी वे बड़े काम की थीं। हमारे महामात्य ने बड़ी चतुराई से उन्हें गुप्तचर विभाग से संबद्ध कर दिया था। जो अधिकारी उनकी देखरेख के लिए नियुक्त था, वह गुप्तचर विभाग का ही था। वह द्वारका की आंतरिक और बाह्य सूचनाओं के लिए बड़े सहजभाव से उनका उपयोग करता था।

दिन-रात के श्वेत और श्याम पंखों पर समय का पंछी उड़ता चला गया।

कुछ महीनों बाद गुप्तचर विभाग से सूचना मिली कि नकुल के नेतृत्व में इंद्रप्रस्थ की ओर से सेना आ रही है। मैं तो समझ ही गया था। मैंने महामात्य को बुलाकर कहा, ''इंद्रप्रस्थ की सेना के स्वागत की तैयारी की जाए।''

''स्वागत!'' महामात्य कुछ हिचकिचाया—''सेना की मंशा जाने बिना ही स्वागत!''

''पर मैं तो उनकी मंशा जानता हूँ।'' मैंने मुसकराते हुए कहा।

''लगता है, गुप्तचर विभाग ने सीधे-सीधे आपको कुछ बताया है।'' महामात्य को यह अच्छा नहीं लगा; क्योंकि परंपरा और प्रशासन का नियम यह था कि मुझ तक कोई भी सूचना महामात्य के माध्यम से ही पहुँचाई जाती थी। महामात्य ने यह भी सोचा कि हो सकता है, उन महिलाओं ने कोई सूचना यहाँ तक पहुँचाई हो।

मैंने अनुभव किया कि महामात्य के पद का अहं चोट खा गया है। भले ही वह हलकी चोट हो, पर पीड़ित तो करेगी ही। इसीलिए इंद्रप्रस्थ की वह सारी कथा

मैंने उसे सुना दी। तुरंत उसका तनाव ढीला हुआ।

वह मुसकराते हुए बोला, ''तब तो उनका स्वागत होना ही चाहिए।''

उसी क्षण से द्वारका में नकुल के आगमन की तैयारी होने लगी। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि नकुल अपनी सेना से दो प्रहर पहले पहुँचा; क्योंकि वह अपने रथ से नहीं आया था। वह आया था अपने अश्व 'दधिक्रवा' से। दधिक्रवा आर्यावर्त्त में अपने ढंग का सबसे तेज घोड़ा था। नकुल घोड़ों का विशेषज्ञ भी था और चिकित्सक भी। उसने घोड़ों की चिकित्सा पर एक ग्रंथ भी लिखा था, जो कालांतर में 'नकुलसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस ग्रंथ को जब उसने पहले-पहल मुझे सुनाया था तब मैं प्रसन्न भी हुआ था और दुःखी भी। प्रसन्न था इसलिए कि घोड़ों की प्रकृति, उनकी शरीर रचना एवं उनकी चिकित्सा पर लिखा जानेवाला यह पहला ग्रंथ था। इस क्षेत्र में मैं नकुल की साधना और जानकारी का प्रशंसक आज भी हूँ। दुःखी इस बात से हुआ कि इस देश की सारी अर्थव्यवस्था जिस पशु पर आधृत है, जो हमारे सांस्कृतिक जीवन का प्राण है, जिसका सम्मान हम पशु की तरह नहीं वरन् देवता की तरह करते हैं, जिसे हम 'माता' कहते हैं, उस गाय पर ऐसा ग्रंथ नहीं लिखा गया। इस कार्य को मुझे करना चाहिए था। जिस गोधन की कृपा से मैं 'गोपाल' कहलाया, मेरी पहचान बनी, उसके लिए मैं इतना भी न कर पाया। ऐसा नहीं है कि गायों की प्रकृति के संबंध में मैं किसीसे कम जानता हूँ, या ऐसा ग्रंथ मैं लिख नहीं सकता; पर अपने बहुधंधी स्वभाव के कारण मैं अब तक यह कर नहीं पाया। शायद इससे भी अधिक यह कहना सही होगा कि नियति मुझसे कुछ और कराना चाहती थी। इसीसे उसने इस ओर मेरा ध्यान ही नहीं जाने दिया। इस संदर्भ में मेरी अर्हता नकुल के सामने कुछ थोड़ी हो जाती है।

ऐसा नकुल जब आया तब मैंने उसे छाती से लगा लिया। उसके साथ-साथ उसके अश्व 'दधिक्रवा' का भी मैंने सबसे परिचय कराया।

लोगों ने उसकी गति के बारे में सुनकर दाँतों तले अँगुली दबाई और कहा, ''पांडुकुमार का तो यह बिना पक्षवाला गरुड़ है।''

जब तक नकुल के सहायक, अधिकारी और सेना पहुँचे तब तक हम लोगों ने उसे राजप्रासाद में पहुँचा दिया था। वह सबसे पहले अपने मामा-मामी (मेरे माता-पिता) से मिला। उनसे आशीर्वाद लिये। फिर नानाजी (उग्रसेन) के पास पहुँचा। सबका एक हीं कहना था कि जब तुम दिग्विजय के लिए निकले हो तब तुम्हें किसी भी स्थिति में अपनी सेना और अधिकारियों से दूर नहीं होना चाहिए

था। कहीं तुम्हें कुछ हो जाए तो?

''मैं मारा जाऊँगा, यही न!'' नकुल ने मुसकराते हुए कहा।

''इतना ही नहीं, तुम्हारा राजसूय यज्ञ संकट में पड़ जाएगा।'' पिताजी ने कहा, ''तुम्हारे पूज्य पिता का वह सपना, जिसको पूरा करने का संकल्प तुम लोगों ने लिया है, वह टूट सकता है।''

नकुल को अब लगा कि उसने भूल की है। वह चुप हो गया। अपने अश्व पर गर्व और विश्वास की अधिकता के कारण ही उसने यह जोखिम उठाया था। उसने मुसकराते हुए कहा, ''आप लोगों के दर्शन मैंने बचपन में किए थे, फिर कभी आपसे मिलना नहीं हुआ। द्वारका में भी यह मेरा प्रथम आगमन है। उत्सुकता ने ही मुझसे यह भूल कराई है।''

''अब तो जो हुआ, हो चुका। आगे से ध्यान रखना।'' पिताजी ने कहा।

''अब आगे कोई संभावना हीं नहीं है।'' नकुल ने मुसकराते हुए कहा, ''अब इसके आगे कहाँ बढ़ना है, द्वारका तो आर्यावर्त्त के पश्चिम का अंतिम छोर है। इसके बाद तो सिंधु है और हमें सिंधु पर तो पताका फहरानी नहीं है।''

''इसका तात्पर्य है कि तुम्हारी दिग्विजय यात्रा निर्विघ्न पूरी हुई?''

''निर्विघ्न तो नहीं कही जा सकती।'' नकुल ने सिर खुजलाते हुए कहा, ''चलते ही रोहितक (पंजाब का दक्षिणी प्रदेश), शौरीषक (आज का सिरसा) के मयूरों के जंगल में पहला अवरोध हुआ। मरुभूमि के लोगों का भी विरोध सहना पड़ा। और तो और, दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, मालव आदि प्रदेशों का विरोध सामान्य नहीं था।''

''दशार्ण ने भी विरोध किया!'' मैं आश्चर्य व्यक्त करते हुए बोला, ''उससे तो ऐसी आशा नहीं थी।''

''क्या कीजिएगा! किसीकी ईर्ष्या कब आपके विरोध में खड़ी हो जाएगी, कुछ कहा नहीं जा सकता।'' नकुल बोलता रहा—''दशार्ण के महाराज ने तो विरोध नहीं किया। वह तो बड़ा नाटकीय है। उसने अपने सेनापति से विरोध करवाया। सारी सेना लेकर उसने हमारा विरोध किया और जब परास्त हुआ तो लगा क्षमा माँगने कि 'क्षमा कीजिएगा, हमारे सेनापति से भूल हो गई। उसे लगा कि कोई सेना चढ़ी चली आ रही है। उसने आगा-पीछा कुछ सोचा ही नहीं और सीधे-सीधे आक्रमण कर दिया। बिना जाने-समझे यह भूल हो गई। हम भला आपका कैसे विरोध कर सकते हैं! द्रुपद हमारे समधी हैं और आप द्रुपद के जामाता। हम लोग तो अपनत्व के एक ही सूत्र में बँधे हैं।' फिर उसने बहुत सारा

उपहार देकर हमारा निमंत्रण स्वीकार किया।''

इसी क्रम में नकुल ने बताया—''सिंधु तटवर्ती गंधर्वों तथा सरस्वती तटवर्ती शूद्रों और अमीरों को भी वश में करना आसान नहीं था। उत्तर ज्योतिष और दिव्यकट (पंजाब और कश्मीर के आसपास का क्षेत्र) के राजाओं से भी युद्ध हुआ। वरन् पंचनद से हमें जो आशंका थी, वह बात नहीं हुई। उन लोगों ने बड़े सहजभाव से हमारी विजय स्वीकार की। एक प्रदेश के राजा ने तो एक बड़ी विचित्र बात कही।'' इतना कहकर वह चुप हो गया। शायद उस राजा का वह नाम याद करने लगा। फिर भी उसे याद नहीं आया।

''उसका नाम मुझे इस समय याद नहीं आ रहा है।'' नकुल बोला, ''बाद में बताऊँगा।...उसने कहा, 'दिग्विजय के लिए पधारे राजा से पराजय स्वीकार करना भी एक विजय है; क्योंकि इस पराजय में कुछ भी हाथ से जाता नहीं, केवल एक व्यक्ति के अहं को संतुष्टि मिलती है।' ''

''उसने कही तो बड़े महत्त्व की बात।'' मैंने कहा।

''क्यों 'कर' देना स्वीकार करना नहीं पड़ता?'' पिताजी ने पूछा।

''केवल स्वीकार करना पड़ता है न! पर कौन देता है और कौन इतनी दूर से माँगने आता है!'' मैंने कहा।

साथ ही नकुल ने हँसते हुए ठीक इसके विपरीत भी बात बताई। उसने कहा, ''अमर पर्वत के निकट एक पर्वतीय राजा ने यह कहा कि हमारे पूर्वज राजसूय यज्ञ करने की लालसा से दिग्विजय के लिए निकलनेवाले राजाओं का अवश्य विरोध करते थे। उनका विश्वास था कि उनसे पराजित होने में भी यश की प्राप्ति होती है।''

सुनकर मुझे भी आश्चर्य हुआ। कितना अद्भुत है यह आर्यावर्त्त भी! इसकी विशालता इतनी विचित्र नहीं, जितनी विचित्रता और विभिन्नता यह अपने में समेटे हुए है। शायद हम उन सबको जानते भी न हों। शायद राजसूय यज्ञ जैसे अनुष्ठान वे सूत्र हैं, जिनसे हमारे पूर्व मनीषियों ने इस देश की सारी विभिन्नताओं को पिरोया है। ऐसे ही सूत्रों में एक प्रबल सूत्र है हमारे जीवन का चतुर्थ आश्रम संन्यास और हमारे यहाँ की तीर्थाटन की पवित्र परंपरा।

इसके बाद मेरी जिज्ञासा और बढ़ी। वहाँ से लेकर मैं नकुल को भैया से मिलवाते हुए अपने कक्ष में ले आया और पूछा, ''अन्य दिशाओं से कोई समाचार नहीं मिला?''

''समाचार तो नहीं मिला, पर कोई विशेष बात होती तो कोई-न-कोई दूत

अवश्य आता।'' इसी सिलसिले में उसने बताया—''दिग्विजय के लिए उत्तर में अर्जुन भैया गए हैं और पूर्व में भीम भैया तथा दक्षिण की ओर सहदेव। पहले तो यह निश्चय था कि चारों भाई एक ही दिन निकलेंगे। किसी तरह बड़ी चेष्टा के बाद व्यासजी ने एक ऐसा मुहूर्त निकाल भी दिया था; पर सहदेव को तो ग्रह-नक्षत्रों की भाषा पर अधिक विश्वास है।''

''वह ग्रह-नक्षत्रों की भाषा मनुष्यों की भाषा से अधिक जानता भी है।'' मैंने हँसते हुए कहा।

''तो उसीने हर दिशा के लिए अलग-अलग मुहूर्त बताए। उसीके अनुसार सबसे पहले अर्जुन भैया और फिर उसीके तीन दिनों बाद भीम भैया ने और फिर दो दिनों बाद सहदेव तथा सबसे अंत में मैंने प्रस्थान किया।''

नकुल ने बताया—''इंद्रप्रस्थ में रहते तो कोई समाचार मुझे नहीं मिला। हाँ, दशार्ण की विजय के बाद किसीने मुझे सूचना दी कि भीम भैया चेदि राज्य में रुक गए हैं।''

''वह पेटू भैया खा-पीकर सोने लगे होंगे।'' मैं चिंतित हुआ—''उन्होंने इसकी जरा भी चिंता नहीं की होगी कि वहाँ का राजा दमघोष का पुत्र शिशुपाल हम लोगों का सबसे बड़ा विरोधी है। वह उन्हें भोजन में विष भी दे सकता है। कौरवों द्वारा की गई घटना पुन: दुहराई जा सकती है।''

''इतनी ठोकरें खाने के बाद तो उन्हें सावधान हो जाना चाहिए।'' नकुल बोला, ''और शिशुपाल के प्रति तो वे अधिक सजग लगते थे। चलने के पहले वे उसकी अधिक चर्चा कर रहे थे।'' नकुल ने यह भी बताया—''चलने के पहले मैंने अपने एक गुप्तचर चारुदत्त को विशेष रूप से उनके साथ लगाया भी है। कोई महत्त्व की बात होती तो अवश्य वह मेरे पास आता।''

अब मैं भी उसके समक्ष खुला—''मैंने भी अपनी ओर से समाचार लाने के लिए विशेष प्रबंध किए हैं।''

नकुल हँसा—''मैं जानता था कि इस स्थिति में आप चुप बैठनेवाले तो हैं नहीं।''

मैंने उसे बताया—''अर्जुन की सूचना तो हमें मिली थी; पर मैं उसकी ओर से उतना चिंतित भी नहीं था। उसने मानसरोवर तक विजययात्रा कर ली है। उसने भोदापुर, बामदेव, सुदामा, सुसंकुल और उत्तर उलूक के नरपतियों को सहज में ही वश में कर लिया। (इन पाँचों में गणतंत्र राज्य थे—उलूक, उल्लुक (कुल्लू)। लगता है, यह आज का कुल्लू प्रदेश ही रहा होगा।) अर्जुन ने किंपुरुषवर्ष (तिब्बत),

द्रुमपुत्र (नेपाल) के राजाओं को भी वश में किया। हाटक देश (यक्षों का प्रदेश) होता हुआ मानसरोवर तक पहुँचा था। (कालिदास ने भी मानसरोवर के आसपास के प्रदेश को यक्ष प्रदेश माना है और अलकापुरी की कल्पना की है।) इसके बाद उसकी कोई सूचना नहीं आई।''

''तो क्या उन्हें इतने लंबे अभियान में युद्ध नहीं करना पड़ा?'' नकुल ने शंका की।

''सामान्य अवरोध तो हुए, पर कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ।'' मैंने कहा।

मध्याह्न हो चुका था। देव मंदिरों में भोग के समय के घंटे सुनाई पड़ने लगे थे। हमने यह भी अनुभव किया कि हमें गूढ़ मंत्रणा में देखकर कई बार प्रहरी झाँककर चला गया था। हमें तुरंत सूचना मिली कि भोजन के कक्ष में लोग पधार चुके हैं। मेरे उठने के पूर्व ही नकुल चलने के लिए खड़ा हो गया। मुझे हँसी आ गई। शायद वह मुझसे अधिक भूखा था।

हमारा भोजन चल ही रहा था कि हमें सूचना मिली कि इंद्रप्रस्थ की सेनाएँ आ पहुँची हैं। उनके स्वागत-सत्कार और ठहराने की व्यवस्था सवेरे से ही हो रही थी। इसकी मुझे कोई चिंता नहीं थी।

जब मैं अपने कक्ष में पहुँचा तो द्वार पर एक राजकर्मचारी खड़ा हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। उसने बताया कि सेना के साथ आए एक दूत ने इंद्रप्रस्थ से पधारे युवराज से मिलने की इच्छा व्यक्त की है।

''उसने अपना नाम बताया है?'' नकुल ने पूछा।

''मुझे नाम तो नहीं मालूम है।'' उसने कहा, ''और न मैं उनसे मिला हूँ। मुझे तो प्रधान सेनापति के कार्यालय से बस इतनी ही सूचना देने का आदेश मिला है।''

''अच्छा, उस व्यक्ति को यहीं भेज दो।'' नकुल ने ही उसे आदेश दिया और थोड़ी देर बाद ही चारुदत्त कक्ष में प्रविष्ट हुआ।

''अरे, चारुदत्त, तुम्हीं थे!'' नकुल बोला, ''तब तुमने अपने आगमन को इतना रहस्यमय क्यों बनाया?''

''यह तो आपने ही कहा था कि जो कुछ कहना हो, सीधे मुझसे ही कहना। किसी और से मत कहना। और न तो संदेश भेजने में किसी और का सहारा लेना।''

''अच्छा, इन बातों को जाने दो। यह बताओ, सब कुशल तो है?''

''हाँ, जितना मैं जानता हूँ उतना सब ठीक है।'' उसने कहा, ''एक पक्ष से अधिक तो महाराज भीमसेनजी को शिशुपाल ने ही रोक लिया।''

''क्या प्रतिरोध लंबा किया उसने?'' नकुल ने कहा, ''किसी युद्ध की बात तो मुझे सुनाई नहीं पड़ी। मैं तो उस राज्य के निकट से ही गुजरा।''

''युद्ध हुआ भी तो नहीं।''

''तब क्या इतने दिनों तक प्रेमालाप होता रहा?''

''हाँ, प्रेमालाप ही समझिए।'' चारुदत्त मुसकराया। फिर उसने एक-एक बात विस्तार से बताई। उसने कहा, ''महाराज भीमसेन से मिलते ही शिशुपाल ने पहला प्रश्न किया—'तुम्हारे साथ तो उस कन्हैया नामक चोर की भी सेना होगी?'

''तब भीमसेनजी ने कहा, 'हम कन्हैया के बल पर राजसूय यज्ञ करने थोड़े चले हैं। हमें तो अपने बाहुबल का भरोसा है।' ''

चारुदत्त का कहना था—''इसपर शिशुपाल बड़ा खुश हुआ। उसने हम लोगों को राजप्रासाद में ठहराया। महाराज दमघोष से मिलवाया। हमारे आने का प्रयोजन बताया। पर अंत में उसने भीमसेनजी से पूछा, 'पर युधिष्ठिर ने इस यज्ञ के लिए उससे सहयोग तो अवश्य माँगा होगा?'

'' 'हाँ, सेना की सहायता माँगी थी; पर कन्हैया ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया।'

'' 'तब वे क्या बोले?' शिशुपाल ने पूछा।

'' 'बोलते क्या! भैया एकदम चुप हो गए।'

'' 'यह बहुत ही अच्छा हुआ।' शिशुपाल ने कहा, 'अब तो युधिष्ठिर को भी उस छलिया का वास्तविक रूप दिखाई दिया होगा।'

''इसपर महाराज भीमसेन चुप रह गए।'' चारुदत्त ने बताया—''फिर उसी रात शिशुपाल ने हमारे महाराज से गंभीर मंत्रणा की। उस समय मेरे अतिरिक्त वहाँ और कोई नहीं था। वह तो मुझे भी हटा रहा था; पर महाराज ने मुझे अपना विशेष और विश्वासपात्र व्यक्ति बनाकर बैठा लिया।

'' 'अब तुमने क्या सोचा?' शिशुपाल ने पूछा।

'' 'किस संदर्भ में?'

'' 'यही, तथाकथित द्वारकाधीश के बारे में?'

'' 'अभी कुछ सोचा तो नहीं है।' भीमसेनजी ने कहा, 'जो कुछ सोचना होगा, हम लोग दिग्विजय के बाद बैठकर सोच लेंगे।'

'' 'हम दोनों एक साथ सोचेंगे।' वह तो इतना प्रसन्न हुआ जैसे मनचाहा स्वप्न देख रहा हो। उसने फिर पूछा, 'हमारे-तुम्हारे विचार न मिले तो?'

'' 'तो उन्हें मिलाया जाएगा।'

"शिशुपाल और अधिक प्रसन्न हुआ। उसने कहा, 'क्या तुम यह नहीं सोचते कि कन्हैया दिन पर दिन अपनी शक्ति बढ़ा रहा है?'

" 'इसमें सोचना क्या है? यह तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।'

" 'तो इसके विषय में इंद्रप्रस्थ की क्या धारणा है?'

"इसपर महाराज भीमसेन चुप हो गए। तब उसने फिर जोर देकर कहा, 'अभी तो कन्हैया ने कुरु वंश को तोड़ा है। उसने एक राज्य के दो टुकड़े कर दिए। अब वह इंद्रप्रस्थ को हड़प लेगा।'

"भीमसेनजी फिर भी चुप थे।"

चारुदत्त ने आगे बताया—"कुछ क्षण मौन रहने के बाद महाराज ने बड़े नाटकीय ढंग से सोचते हुए कहा, 'ये सारे संदर्भ ऐसे हैं, जिनपर हमें नए सिरे से विचार करना होगा; पर यह तभी होगा, जब हम एक रहेंगे।' "

अंतिम रूप से चारुदत्त ने बताया—"इस प्रकार हमारे महाराज ने शिशुपाल पर कूटनीतिज्ञ विजय पाई।"

फिर चारुदत्त से नकुल ने पूछा, "इसके बाद भैया से कहाँ तुम्हारा साथ छूटा?"

"पौंड्रक वासुदेव और कौशिक नदी के किनारे के राजाओं को परास्त करने के बाद।" चारुदत्त ने बताया—"इसके बाद महाराज ने स्वयं कहा, 'अब तुम जाओ और नकुल को सूचना दो। अब तो नहीं लगता कि इस दिशा में कोई मेरा सामना करने में समर्थ है।' "

"पौंड्रक वासुदेव तो बड़ा विचित्र है और शक्तिशाली भी।" मैंने कहा, "एक बार मेरा उससे सामना हो चुका है।"

"उसीके संबंध में महाराज अधिक चिंतित थे। उन्होंने गिरिव्रज से सहदेव (जरासंध के पुत्र) को भी साथ ले लिया था।"

"यदि सहदेव को अपने साथ ले लिया, तब तो पूर्व दिशा में भीम का रास्ता साफ है।" मैंने कहा।

अब मुझे दक्षिण में गए सहदेव की चिंता हुई। उसका कोई समाचार नहीं था। पर यह भी निश्चित था कि उसके मार्ग में कोई ऐसा सबल अवरोध नहीं है। दक्षिण में वह लंका तक बिना रोक-टोक जा सकता है। यदि कहीं भी उसके लिए जरा भी अवरोध है तो वह विदर्भ में। हो सकता है, रुक्मी उसका विरोध करे; क्योंकि वह प्रकृत्या ईर्ष्यालु और दुष्ट है।

इस विषय में चारुदत्त की सूचना उत्साहवर्द्धक मिली। उसने बताया—

"वहाँ तो बिलकुल विरोध नहीं हुआ। रुक्मी राज्य में था ही नहीं और उसके पिता भीष्मक ने बड़े सम्मान के साथ सहदेव महाराज की आवभगत की और निमंत्रण स्वीकार किया।"

"अब तो हमें लगता है कि हमारा राजसूय यज्ञ निर्विघ्न हो जाएगा।" नकुल ने कहा।

"अभी तक की स्थिति तो ऐसी ही है।" मैंने कहा।

"क्यों? आपको क्या ऐसी भी आशंका है कि स्थिति इससे विषम भी हो सकती है?"

"होने को तो कुछ भी हो सकता है।" मैंने नकुल को समझाया—"जो कुछ हम देखते हैं, उसी पर हम अपने कर्म और उसके परिणाम की परिकल्पना करते हैं। इसकी अपेक्षा तो वह बहुत अधिक है, जिसे हम नहीं देख पाते और जो हमारी इंद्रियों से परे है। जब उसके परिणाम सामने आते हैं तब हमें लगता है कि अरे, यह क्या हो गया! वह एकदम अप्रत्याशित होता है और हम उसीको नियति की मंशा मानने को विवश हो जाते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'कर्म करते चलो और फल मुझपर छोड़ दो।' यहाँ 'मुझ' में मैं नहीं हूँ। जिस 'मैं' को तुम देखते हो, उससे मेरा एक अलग 'मैं' है, जिसकी अवस्थिति उस 'विराट्' में है, जिसे हम देख नहीं पाते। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि फल अनुकूल न होने पर भी तुम कभी निराश नहीं होगे।"

उस समय तो नकुल चुप हो गया। सोचने लगा। इस बीच चारुदत्त भी उठकर चला गया।

"तुम बड़े गंभीर हो गए, नकुल।" मैंने कहा।

"सोचता हूँ, अधिकांश विरोध उन्हीं लोगों की ओर से हुआ, जो अपने थे।"

मुझे फिर हँसी आ गई। मैंने कहा, "यह सारा विरोध ईर्ष्याजन्य है और जानते हो, नकुल, ईर्ष्या का विष-वृक्ष अपनत्व की धरती पर ही उगता है।"

□

कुछ दिनों रहकर नकुल चला गया। उपहार में मिली उसके पास अकूत संपदा थी। मेरे माता-पिता और नानाजी बड़े प्रसन्न थे। उनका सोचना था कि यदि इसी तरह और भाइयों को भी उपहार मिले होंगे, तब तो इंद्रप्रस्थ का आर्थिक वैभव आकाश छूने लगेगा। वे अपने इष्ट देवता से बार-बार यही प्रार्थना कर रहे थे कि प्रभो! पांडवों के यज्ञ का संकल्प पूरा करो।

इसी तरह आशाओं और कल्पनाओं में डूबते-उतराते हुए दिन बीतते चले गए। इंद्रप्रस्थ का इधर कोई समाचार नहीं मिला। हम लोग भी चुप ही रहे; क्योंकि समाचार न होने का एक मतलब यह भी है कि सबकुछ ठीक-ठाक ही होगा।

इधर मैं द्वारका के शासन में कुछ अधिक ही व्यस्त रहने लगा। एक दिन अंत:पुर में बच्चों के साथ खेलता हुआ मैं पारिवारिक जीवन का आनंद ले रहा था। मेरी पत्नियाँ भी वहीं थीं। किसी बात के क्रम में सत्यभामा ने कहा, ''हम लोगों के सौभाग्य से यह अंतराल अच्छा जा रहा है।''

''हाँ, इतने समय तक कभी आप हम लोगों के बीच नहीं रहे।'' रुक्मिणी बोली, ''आपको नहीं लगता कि अशांति और उलझनों से दूर यह जीवन कितना उत्तम है!''

''उलझनविहीन जीवन भी कोई जीवन है!'' मैंने कहा, ''खाना-पीना और परिवार के साथ रहना, यह तो पशु प्रवृत्ति है। मनुष्य तो हमेशा दूसरों के लिए जीता है।''

उस समय यह संदर्भ सहजभाव से आया था और सहजभाव से ही समाप्त हो गया; पर मन में इंद्रप्रस्थ की ताजा स्मृति जाग उठी। क्या बात है कि कोई आया नहीं और न कोई समाचार ही मिला। आखिर यज्ञ के अब कितने दिन रह गए?

मैंने नकुल का दिया निमंत्रण निकालकर भी पढ़ा। उसमें तो केवल एक पंक्ति लिखी थी कि 'हमारे राजसूय यज्ञ में आप सादर आमंत्रित हैं।' इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। यह तो तिथिविहीन एक अनौपचारिक सूचना मात्र थी। मन में अनायास एक शंका-सी उठी। कहीं कोई भूल तो नहीं हो रही है, जिसकी परछाईं आगे चलकर पांडवों के कर्तव्य-सूर्य को ग्रसने लगे।

शंका स्वाभाविक थी; पर मैं अपनी कमजोरी को भी जानता था। मुझे इस विशेष प्रकार के यज्ञ की पूरी प्रक्रिया का ज्ञान नहीं था। मैंने अपनी शंका पुरोधा गर्गाचार्य के समक्ष रखी। वे मेरे अज्ञान पर हँसने लगे।

उन्हें अब तक पांडवों के इस यज्ञ की सूचना नहीं थी। उन्होंने मेरी शंका का समाधान करने के पहले पूछा, ''इस यज्ञ का ब्रह्मा कौन है?''

मैंने बताया—''महर्षि वेदव्यासजी।''

''तब यह यज्ञ अवश्य सफल होगा; क्योंकि आर्यावर्त्त में इस समय कुछ ही ऐसे लोग हैं, जो इस यज्ञ का संपूर्ण विधि-विधान जानते हैं। फिर राजसूय यज्ञ ऐसा यज्ञ नहीं है कि एक निमंत्रण बँटवा दिया जाएगा और यज्ञ हो जाएगा। इसके लिए कई बार सूचना प्रसारित करनी पड़ती है। इसकी तैयारी वर्षों पहले से आरंभ होती

है। पहला संकल्प तो यजमान के मन में होता है। फिर वह उसपर अपने बंधु और बांधवों के बीच चर्चा करता है। फिर किस महान् याज्ञिक को इसका ब्रह्मा बनाया जाए, उसका निर्णय किया जाता है। पहला चरण ही ब्रह्मा के चयन के बाद समाप्त हो जाता है।''

गर्गाचार्य बोलते रहे—''फिर यज्ञ की तैयारी का क्रम चलता है। नरकासुर और जरासंध के वध उसी तैयारी के क्रम में कहे जाएँगे।''

''पर हम लोगों ने तो ऐसा कुछ सोचकर किया नहीं था।'' मैंने कहा।

''आपने भले ही न किया हो, पर माना यही जाएगा।'' गर्गाचार्य ने कहा, ''क्योंकि द्वितीय क्रम में स्थायी विरोधियों का मूलोच्छेदन आवश्यक है। इसमें यजमान के संकल्प का प्रसार अपेक्षित है। इसमें अवरोध के दूर होने का एक वातावरण बनता है। योजना के तीसरे चरण में लोग दिग्विजय के लिए निकलते हैं। वह भी समाप्त हो चुका होगा। इसकें बाद चौथा चरण आरंभ होगा।''

''उसमें क्या होगा?'' मैंने पूछा।

''यज्ञ का मुहूर्त निश्चित होगा।''

''यह तो वेदव्यासजी और पांडवों के पुरोधा आचार्य धौम्य का कार्य है।'' मैंने कहा।

''कोई आवश्यक नहीं है।'' आचार्यजी बोले, ''पांडवों में सहदेव ज्योतिष का विश्व-विश्रुत विद्वान् है। यह कार्य तो वह भी कर सकता है।'' आचार्यजी कुछ सोचने लगे। फिर बोले, ''पर वेदव्यासजी ने पांडवों के भविष्य की सूक्ष्म गणना की है। हो सकता है, वे ही कोई शुभ मुहूर्त निकालें।''

इसके साथ ही उन्होंने बताया—''इसके बाद फिर निमंत्रण वितरित किया जाएगा। इसमें तिथि आदि सबकुछ होगा और वह अंतिम होगा। यह राजा, प्रजा सबके लिए होगा। इतनी सावधानी इसलिए बरती जाती है, जिससे कोई भी छूट न सके।'' फिर उनके स्वर में गंभीरता आ गई—''निमंत्रण से छूट जाने का मतलब है, विरोध के अधिकार से वंचित रह जाना; क्योंकि राजसूय यज्ञ सबकी मान्यता और स्वीकृति का यज्ञ है। इसमें एक व्यक्ति भी आपका विरोध करने में सफल हो जाता है तो यज्ञ को असफल समझना पड़ेगा।''

मैंने पूछा, ''इसका तात्पर्य है कि विरोध कभी भी हो सकता है?''

''जी हाँ, वह यज्ञ के समाप्त होने के पूर्व कभी भी हो सकता है और किसी भी रूप में हो सकता है।''

यह 'किसी भी रूप में' का तात्पर्य मेरी समझ में नहीं आया; पर मैंने पूछा

नहीं। लगता है, आचार्यजी मेरी मुद्रा से समझ गए। उन्होंने विस्तार से बताना शुरू किया—"कोई जरूरी नहीं है कि केवल युधिष्ठिर का ही विरोध हो। यज्ञ की किसी प्रक्रिया का विरोध हो सकता है, कर्मकांड का विरोध हो सकता है, याज्ञिक का विरोध हो सकता है, तुम्हारा विरोध हो सकता है।"

"मेरा विरोध!" मैं हँसने लगा—"इस यज्ञ से मेरा क्या लेना-देना!"

"यह तुम कहते हो न!" आचार्यजी बोले, "तुम तो यह भी कह सकते हो कि पांडवों से मेरा क्या लेना-देना; पर संसार पांडवों और तुमको दो नहीं समझता। अब तक पांडवों को जो विरोध सहना पड़ा, वह तुम्हारे विरोधियों का ही विरोध था।"

यह बात मुझे लग गई। मैं अनुभव तो करता था; पर यह विश्वास नहीं था कि लोग भी ऐसा ही अनुभव करते हैं। अब मुझे ऐसा लगने लगा कि कहीं-न-कहीं मेरी प्रतिष्ठा इस यज्ञ से जुड़ी है। इस मानसिकता ने मुझे व्यग्र कर दिया।

□

इसका परिणाम यह हुआ कि बिना बुलाए और बिना किसी सूचना के मैं इंद्रप्रस्थ पहुँचा। अप्रत्याशित रूप से मुझे उपस्थित देखकर सब सन्न हो गए।

"इधर कई दिनों से आपकी ही चर्चा हो रही है।" महाराज युधिष्ठिर ने मिलते ही मुझसे कहा।

"इसीलिए तो उपस्थित हो गया।" मैंने मुसकराते हुए कहा, "जो मुझे हृदय से याद करते हैं, मैं उनसे किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता हूँ।"

"इसका मतलब है कि जब कभी मैं आपको याद करूँगी, आप अवश्य आएँगे?" द्रौपदी ने इसे केवल परिहासवश पूछा।

मैंने भी मुसकराते हुए उत्तर दिया—"तुम याद करके तो देखो!"

"अच्छा, जरूरत पड़ने पर याद करूँगी।"

बात आई-गई और खत्म हो गई। मुझे क्या पता था कि यही बात मेरे लिए पत्थर की लकीर बन जाएगी।

अधिकांश लोगों से मिलने के बाद मैं छंदक के साथ अतिथिभवन में चला गया। दिन भर की यात्रा से श्लथ था। विश्राम की आवश्यकता थी। अभी लेटा ही था कि सूचना मिली, महर्षि वेदव्यास आ रहे हैं।

इतना सुनते ही मैं तो पानी-पानी हो गया। मेरी सबसे बड़ी भूल थी कि मैं यहाँ आकर उनके चरण छूने नहीं गया। मैं उठकर एकदम दौड़ा। सोपान चढ़ते-चढ़ते मैंने उन्हें पकड़ लिया।

चरण छूकर क्षमा माँगी और कहा, ''अत्यधिक थकावट के कारण अनजाने में भूल हो गई।''

''यदि अभी से थकोगे तो राजसूय यज्ञ का क्या होगा!'' उन्होंने कहा।

वे इसी संदर्भ में बात करने आए थे। प्रसन्न होते हुए भी उनकी आकृति पर चिंता की रेखाएँ थीं। वे कुछ खुले तो नहीं।

मैंने ही उन्हें कुरेदा—''ब्रह्मा तो आप हैं। देखना तो आपको ही है।''

''यही तो मेरी विवशता है कि यज्ञ का ब्रह्मा केवल देखता है, वह कुछ करता नहीं है।''

मुझे उनकी चिंता से लगा जैसे कोई नई बात पैदा हो गई है। इस संबंध में मैंने जिज्ञासा भी की।

वे मुसकराते हुए बोले, ''अभी तक तो सब ठीक ही हुआ है। पांडवों की दिग्विजय यात्रा आशातीत सफल रही। इतने अधिक उपहार मिले कि राजकोष भर गया तथा अभी और भी उपहार प्राप्त होने हैं।''

''अभी भी उपहारों की संभावना है!''

महर्षि मेरे अज्ञान पर हँसे। फिर बोले, ''अरे, जो राजे-महाराजे या अन्य लोग यज्ञ में पधारेंगे, वे खाली हाथ तो आएँगे नहीं।''

''इसका तात्पर्य है कि हम आर्थिक संकट से मुक्त हैं।'' मैंने प्रसन्नता व्यक्त की—''अब मेरा पूरा विश्वास है कि यज्ञ में अर्थ की कमी नहीं आएगी।''

''धर्म के राज्य में यज्ञ में क्या, किसी भी कार्य में अर्थ की कमी कभी बाधक नहीं होती।'' उन्होंने विस्तार से बताया—''प्रजा राजा के पाप और पुण्य दोनों की भागीदार होती है। धर्मराज के पुण्य का प्रभाव यह रहा कि वर्षा खूब हुई है। धरती ने सोना उगला है। प्रजा प्रसन्न है। जितना कर अपेक्षित था, राजकोष में उसने उससे अधिक दिया और स्वेच्छा से दिया। अपराधों में कमी आई। युधिष्ठिर को तो प्रजा दूसरा इंद्र मानने लगी है।''

''एक ओर बाहरी राजाओं की स्वीकृति और दूसरी ओर प्रजा का ऐसा प्रणम्य भाव। अब सफलता के लिए और क्या चाहिए?''

''नियति की कृपा।'' स्पष्ट लगा कि वह कोई अदृश्य भविष्य देख रहे हैं। उन्होंने ही बताया—''यज्ञ का मुहूर्त निकालते समय ग्रहों की भाषा हमारे बहुत अनुकूल नहीं थी।''

''तो आपको क्या आशंका दीखती है?'' मैंने पूछा।

''पहले तो मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने धौम्य और सहदेव से भी

उनकी राय जाननी चाही। उन्होंने भी मेरी आशंका का समर्थन किया।'' वेदव्यासजी बोले।

''तब आप किसी दूसरे मुहूर्त पर विचार कीजिए।'' मैंने कहा।

वे ठहाका मारकर हँस पड़े।

उन्होंने बताया—''एक व्यक्ति से कहा गया कि तुम्हारे घर में साँप है, जो तुम्हें डस लेगा। उसने दूसरे दिन घर बदल दिया। फिर वही साँप उस बदले हुए घर में चला आया।'' फिर वे मुसकराए—''मुहूर्त बदलने से भवितव्यता नहीं बदलती। जो होना है, वह तो होगा ही।''

इस सिलसिले में उन्होंने भी लगभग वैसी ही बातें कहीं जैसी गर्गाचार्य कह चुके थे—''इस यज्ञ से हमारी-तुम्हारी प्रतिष्ठा आवश्यकता से अधिक जुड़ गई है, इसलिए हम लोगों को फूँक-फूँककर ही पग रखना चाहिए।'' इस सावधानी के साथ उन्होंने उस समय बातें बंद कीं और मुझे सो जाने का आदेश दिया।

दूसरे दिन पांडवों से महर्षि वेदव्यास के साथ एकांत वार्त्ता आरंभ हुई। विषय था—यज्ञ के अगले कार्य कैसे संपन्न किए जाएँ, जिससे किसी प्रकार के विरोध की संभावना ही न बने? पहली बात तो यह आई कि कौरवों को इतना सम्मान दिया जाए कि विरोध करना तो दूर, वे हमारे सत्यनिष्ठ सहायक बन जाएँ।

''यह तो ठीक है।'' इतना कहने के बाद मैं एकदम मौन हो गया।

मेरी गंभीर चुप्पी पर महर्षि ने शंका की—''तुम इतने गंभीर क्यों हो गए, कन्हैया?''

''सोचता हूँ कि हमारी वार्त्ता अधूरी रह जाएगी, यदि इसमें कुंती बुआ और द्रौपदी को न बुलाया गया।'' मैंने कहा।

''हमारी इस राजनीतिक वार्त्ता में ये महिलाएँ क्या करेंगी?'' भीम बोला।

''आपके परिवार का इतिहास रहा है कि हर महत्त्वपूर्ण घटना के मूल में कोई-न-कोई महिला ही रही है।'' मैंने कहा।

वेदव्यासजी मुसकराने लगे। उनके सामने सारा अतीत सजीव हो गया था।

तुरंत कुंती बुआ एवं द्रौपदी को प्रतिहारी भेजकर बुलाया गया।

मैंने नए सिरे से बात आरंभ की—''आज हमारा विचार-विमर्श इस संदर्भ में है कि हम ऐसा क्या करें कि हमारे अनुष्ठान में कौरवों की ओर से कोई बाधा न उत्पन्न हो सके। श्रद्धेय आचार्यजी का सुझाव है कि हम उनका इतना सम्मान करें कि वे हमारे विरोध में सोच भी न पाएँ।''

''श्वान की पूँछ को आप कितनी देर तक पकड़े रहेंगे! अवसर मिलते ही

वह अपना टेढ़ापन दिखाएगी ही।'' द्रौपदी दबी जबान में बोली। पर उसकी यह टिप्पणी बड़ी तीखी थी।

''इसीलिए मैंने तुम्हें बुलाया है कि यदि तुम अपनी जबान की पूँछ सीधी रखोगी तो सारा संकट हल हो जाएगा।'' मैंने कहा।

''मेरी जबान में कोई पूँछ निकल आई है क्या?'' द्रौपदी हँसते हुए बोली।

''अभी नहीं, बहुत पहले से निकली हुई है।'' मैंने भी हँसते हुए ही कहा, ''मुझे तो तुम्हारी और नागिन की जबान में कोई फर्क दिखाई नहीं पड़ता।'' मैंने कहा और यह अनुभव किया कि मेरी बात द्रौपदी को अच्छी नहीं लगी।

अब महर्षि ने समझाया—''देखो बेटी, तुम्हारे लिए मौन की साधना से बढ़कर और कोई साधना नहीं है।''

''यदि मेरी जबान इतनी दूषित है तो आप लोग कहिए, मैं आयोजन में ही न रहूँ।'' द्रौपदी की प्रकृति की तीक्ष्णता एकदम उभर आई।

महर्षि अवाक् रह गए। द्रौपदी ने महर्षि और अपने बीच वय के अंतर का भी खयाल नहीं किया।

अब मैंने उसे सँभाला—''तुम तो हर बात को अन्यथा ले लेती हो, द्रौपदी! अरे, महर्षि के कथन का तो बस इतना ही तात्पर्य था कि बहुत से झमेले हमारे व्यर्थ के बोलने से खड़े हो जाते हैं। मौन रहकर उन्हें टाला जा सकता है। फिर महर्षि हमारे वरेण्य हैं, पितामह हैं। उन्हें इस तरह उत्तर देकर तुमने उचित नहीं किया।''

अपनी प्रकृति के विरुद्ध द्रौपदी ने तुरंत महर्षि से क्षमायाचना की। बात आगे बढ़ी। तय यह हुआ कि धृतराष्ट्र के कुचक्री पुत्रों को ऐसे महत्त्व के कार्य सौंपे जाएँ कि वे किसी प्रकार के षड्यंत्र की अवतारणा न कर सकें—और यदि करें भी तो बदनामी उन्हींकी हो।

''जैसे?'' विस्तार से जानने के लिए भीम बोला।

''तुम्हें किसने भोजन में विष दिया था?'' मैंने उसीसे प्रश्न किया और उसका उत्तर देते हुए मैंने ही कहा, ''दुःशासन ने न!''

उसने स्वीकृति में सिर हिलाया।

''तो हमें चाहिए कि हम भोजन आदि की सारी व्यवस्था उसीको सहेज दें। इससे खाने-पीने में जरा भी गड़बड़ी हो तो लोग उसी पर संदेह करें। और साथ ही लोग यह भी देखें कि हम उनपर कितना विश्वास करते हैं!''

सभी ने मेरी इस कूटनीति की सराहना की।

हम लोगों ने ऐसे ही सारे काम बाँट दिए और यह निश्चय हुआ कि इसे

गुप्त रखा जाए तथा अवसर पड़ने पर इसके अनुसार कार्य हो। किसीको भी इसकी जानकारी न हो कि इस प्रकार का निश्चय पूर्व ही कर लिया गया था।

फिर अंतिम बार के निमंत्रण की बात चली। लंबे विचार-विमर्श के बाद मैंने निष्कर्ष दिया—''कुछ स्थानों पर पांडवों को पुन: जाना चाहिए। कुछ स्थानों पर उन्हें अपने विशेष दूत भेजने चाहिए। कुछ स्थानों पर तो चर भेजने मात्र से काम हो जाएगा। प्रजा में मुनादी करा दी जाए; पर हस्तिनापुर महाराज युधिष्ठिर स्वयं जाएँ। बड़े से लेकर छोटे तक से मिलें और उनसे पधारने का आग्रह करें। चेष्टा यह हो कि प्रपितामही को भी ले आया जाए। यदि पितामह, विदुरजी, महाराज आदि आ जाएँगे तो धृतराष्ट्रकुमारों की नकेल दबी रहेगी।''

''आप आग्रह भले ही करें, पर माताजी (सत्यवती) आएँगी नहीं।'' वेदव्यासजी ने कहा।

''क्यों?'' सबकी जिज्ञासा समवेत हुई।

''क्योंकि वे अपनी सीमा जानती हैं।'' वेदव्यासजी बोले, ''उन्हें ज्ञात है कि नारी यज्ञ और युद्ध में वर्जित है।''

''पर इतिहास में तो इसके अनेक उदाहरण हैं।'' मैंने कहा।

''हाँ, हैं; किंतु वर्तमान सामाजिक स्थिति उन्हें स्वीकार नहीं करती।''

इसपर सभी मौन रह गए। थोड़ी देर बाद सहदेव ने मुसकराते हुए जिज्ञासा की—''फिर शकुनि मामा की नकेल कौन पकड़ेगा?''

''इसके लिए गांधार नरेश सुबल को बुलाया जाए।'' मैंने कहा, ''सुना है, पिता के सामंने बेटे की बोलती बंद रहती है।''

''आप लोग क्या कर्ण को नहीं बुलाएँगे?'' अब तक मौन की साधना किए बैठी द्रौपदी ने पूछा।

लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। इस प्रश्न के माध्यम से द्रौपदी ने कभी अपने द्वारा घायल किए गए सिंह की ओर संकेत किया।

महर्षि ने मुसकराते हुए कहा, ''जब प्रजा तक आमंत्रित की जाएगी तो भला कर्ण क्यों नहीं! वह कुछ भी हो, है तो हमारे ही बीच का।''

''हमारे बीच का कैसे?'' द्रौपदी ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, ''वह तो सूतपुत्र है।''

''दिग्विजय यात्रा के समय भी उसने हमारा विरोध नहीं किया था।'' यह बात भीम ने बताई।

''तुमसे किसने कहा कि कर्ण सूतपुत्र है?'' द्रौपदी से महर्षि ने पूछा।

"स्वयंवर के समय माधव ने बताई थी।" उसने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा।

अब वेदव्यासजी ने मुसकराते हुए मेरी ओर देखा। उनकी दृष्टि ऐसी रहस्यमय दिखी जैसे वे इस स्थापित सत्य के भीतर कुछ और देख रहे हों। फिर उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा, "कर्ण को बुलाने और न बुलाने का प्रश्न आप लोग अपनी माताजी पर छोड़िए।"

महर्षि के इतना कहते ही कुंती बुआ की आकृति का रंग ही बदलने लगा। उनकी आँखों में ऐसी रहस्यमय व्यग्रता मैंने कभी नहीं देखी थी। लोगों की दृष्टि भी उनकी ओर गई—जैसे वे कुछ कहना चाहकर भी नहीं कह पा रही हों।

बड़ी कठिनाई से किसी तरह उनके मुख से बस इतना निकला—"कर्ण को न बुलाना उसके प्रति अन्याय करना होगा।"

□

महाराज युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर चलने के लिए मुझसे आग्रह किया। आचार्य धौम्य से भी दबाव डलवाया; पर मैं तैयार नहीं हुआ। मेरा कहना था कि जहाँ मैं आपके साथ हुआ कि मेरी भूमिका आपके पक्ष में निश्चित हो जाएगी। यह स्थिति इंद्रप्रस्थ के अनुकूल नहीं होगी। तटस्थ रहकर मैं आपकी अधिक सेवा कर सकता हूँ।

मेरे हस्तिनापुर जाने की बात यहीं समाप्त हो गई। फिर विचार यह आया कि पाँचों पांडव मिलकर हस्तिनापुर चले जाएँ। तब इंद्रप्रस्थ की व्यवस्था कौन देखेगा? हजारों राजाओं के आवास की समस्या थी। यज्ञवेदियों और विशाल मंडप के निर्माण का सवाल था। यज्ञ के पुरोधाओं के रहने की व्यवस्था थी। भोजन आदि के लिए विशाल पाकशाला का प्रबंध करना था। इन सबके लिए तो इंद्रप्रस्थ जैसे ही एक विशाल नगर का निर्माण करना पड़ेगा। यह साधारण कार्य नहीं है। इसके लिए नगरवासियों, शिल्पकारों, कुशल और अकुशल श्रमिकों का सहयोग लेना पड़ेगा। यदि पाँचों भाई हस्तिनापुर ही चले जाएँगे तो काम कैसे चलेगा।

अतएव बहुत सोच-समझकर लोगों ने नकुल को हस्तिनापुर भेजा। युधिष्ठिर से भी अधिक यदि कोई पांडव कौरवों में सर्वग्राह्य था तो वह नकुल ही था। वह उनमें काफी घुल-मिल जाता था और राजनीति की समझ भी उसकी दुर्बल नहीं थी।

इधर इंद्रप्रस्थ नगर के बाहर नूतन यज्ञ नगर का निर्माण आरंभ हुआ। एक

साथ कई क्षेत्रों में काम शुरू किए गए। सैकड़ों सौंध शिखर बनाए गए। महर्षि धौम्य के नेतृत्व में शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ मंडप का निर्माण आरंभ हुआ। इसके लिए पहले भूमि-पूजन किया गया।

महर्षि वेदव्यास की देखरेख में तपस्वी एवं वेदज्ञ याज्ञिकों का विशाल वर्ग एकत्र हुआ। वेदज्ञ एवं महान् श्रोत्रिय सुसमा सामवेद के उद्गाता नियुक्त हुए। ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य, अध्वर्यु और पैल तथा धौम्य को प्रधान 'होता' बनाया गया। उनके प्रिय शिष्यों का एक विशाल समूह इनकी सहायता में था।

इस बार के निमंत्रण बँटने के बाद ही लोगों का आना शुरू हो गया। आश्चर्य की बात है कि परंपरा तोड़कर, हम लोगों की आशा के विपरीत प्रपितामही सत्यवती अपनी प्रपौत्रवधुओं के साथ सबसे पहले पधारीं। वे शिविका में थीं। उनके पीछे उनकी प्रपौत्रवधुओं की शिविकाएँ थीं।

सुनते ही महामुनि व्यास दौड़ पड़े। चरण स्पर्श करते हुए उनके मुख से निकला—"अरे, माताजी, आप!"

"तुम्हें आश्चर्य है न!" वे हँसते हुए बोलीं, "कि मैं यज्ञ में कैसे आई हूँ! तो सुनो, मैं और मेरी ये प्रपौत्रवधुएँ यज्ञ में नहीं, अपने घर आई हैं। इस यज्ञ पर जितना इंद्रप्रस्थ का अधिकार है उतना ही हस्तिनापुर का भी।"

"यह तो हम सब मानते हैं।" इसे केवल व्यासजी ने ही नहीं वरन् युधिष्ठिर के नेतृत्व में पांडवों ने भी स्वीकार किया।

फिर प्रपितामही का विधिवत् अर्चन-पूजन हुआ।

मुझे उनके पधारने की सूचना महर्षि वेदव्यास के साथ ही मिली थी; फिर भी मैं रुक गया था। केवल पहली प्रतिक्रिया देखने के लिए। इसे आप मेरी कूटनीति समझें या राजनीति, पर यह मेरी प्रकृति है कि मैं किसी कार्य में आगे नहीं कूदता। आगे उसे ही बढ़ने देता हूँ, जिसे आगे बढ़ने का अधिकार है।

जब मैं पहुँचा तब वे मुझे देखते ही बोलीं, "अरे, तू भी है यहाँ! मैं समझ ही रही थी कि तू जरूर ही होगा; क्योंकि तेरे बिना पांडवों का कोई काम बन नहीं सकता।"

मैं विनम्रता में और झुक गया।

उन्होंने हँसते हुए सिर सूँघकर आशीर्वाद दिया और बोलीं, "तुमने तो यज्ञ का संकल्प लेने के पूर्व ही पांडवों की बहुत सी बाधाएँ समाप्त कर दीं।"

उनका संकेत जरासंध और नरकासुर के वध से था। मैं उनकी बातें सुनता और मुसकराता रहा। वे कहती गईं—"यह मत सोचना कि मैं जानती नहीं हूँ। मेरे

यहाँ सारे समाचार पहुँचते हैं। हाँ, इतना अवश्य होता है कि उनमें से बहुत कुछ छनकर निकल गया होता है।''

इसके दूसरे ही दिन पूरे दल के साथ हस्तिनापुर से कौरव आदि पहुँचे। इनमें पितामह भी थे, महाराज धृतराष्ट्र भी थे और विदुरजी भी; आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा भी। मामा शकुनि भी।

मुझे देखते ही शकुनि मामा टेढ़ा बोलने से बाज नहीं आया—''तुम यहाँ हो और हम लोगों ने हस्तिनापुर का सिंहासन एकदम खाली छोड़ दिया है।''

मैं मुसकराते हुए चुप ही रहा।

उसने फिर पूछा, ''कर्ण नहीं आया?''

''शायद वे न आएँ।'' मैंने जानबूझकर कहा।

''क्यों? उसे निमंत्रित नहीं किया गया है?''

''निमंत्रित तो किया गया है, पर उनके आने की सूचना नहीं है।'' इसी क्रम में मैंने उसे बताया—''गांधार से सूचना आई है कि आपके पूज्य पिताजी महाराज सुबल पधार रहे हैं।''

इतना सुनना था कि वह एकदम बुझ गया। उसके सारे खुराफाती हाथ-पाँव एक प्रकार के अदृश्य भय-मिश्रित संकोच के कछुए की खोल के नीचे दुबक गए।

वास्तव में शकुनि की अपने पिता से बनती नहीं थी। सुबल नहीं चाहते थे कि उनकी प्यारी बेटी गांधारी का विवाह एक अंधे व्यक्ति के साथ हो; पर शकुनि ने एक ऐसा कुचक्र रचा कि उनकी इच्छा के विपरीत यह कार्य हुआ। इसीसे गांधारी की बिदाई के साथ-साथ उन्होंने इसे भी गांधार से बिदा कर दिया। तब से यह अपने पिता का सामना नहीं कर पाता।

मैंने भी सोचा कि संयोग अच्छा है। जहाँ सर्प फनफनाया तहाँ गरुड़ आगे कर दिया जाएगा।

अब तक की सारी स्थिति अनुकूल थी। मैंने धीरे से महाराज युधिष्ठिर से कहा, ''आज रात को ही पितामह की अध्यक्षता में एक पारिवारिक बैठक करें और पूर्व योजना के अनुसार सबको कार्य बाँट दें। कौरवों को खाली छोड़ना संकट को आमंत्रित करना है। उनमें से कोई-न-कोई कुछ रचने लगेगा।''

''तब उस बैठक में आप भी रहिए। कहीं हमारी पूर्व योजनानुसार कार्य का बँटवारा न हो सका तो?'' धर्मराज बोले।

''मेरे बैठक में उपस्थित रहने से ही कौरव राजनीतिक दाँव-पेंच की आशंका करने लगेंगे।'' मैंने सोचकर एक मध्यम मार्ग निकाला—''बैठक में आप

मुझे पहले मत बुलाइए। पितामह को अध्यक्ष बना दीजिए। फिर आप उन्हींसे कहिए कि यदि आप अनुमति दें तो कन्हैया को भी बुला लूँ; क्योंकि वे इस समय प्रासाद में हैं। जब वे सुनेंगे कि इतनी महत्त्वपूर्ण बैठक हो रही है और मुझे नहीं बुलाया गया है, तो अन्यथा अनुभव करेंगे।''

युधिष्ठिर ने यही किया।

पितामह तुरंत बोल पड़े—''मुझे तो आश्चर्य है कि आपने कन्हैया को छोड़ कैसे दिया! अरे, वह भी तो इसी परिवार के सदस्य हैं।''

मैं अविलंब बुलाया गया। मैं तो प्रतीक्षा में बैठा ही था।

पहुँचते ही पितामह बोले, ''तुम्हें न बुलाकर युधिष्ठिर ने भूल की। मैं इस भूल के लिए दु:खी हूँ।''

''आप कैसी बात करते हैं, पितामह!'' मैंने नाटकीय विनम्रता का प्रदर्शन किया—''यदि मेरी आवश्यकता समझी गई होती तो मैं अवश्य बुलाया गया होता।''

''यहाँ के हर कार्य को तुम्हारी आवश्यकता है।'' पितामह बोले, ''किसी भी निष्कर्ष पर तुम्हारी सहायता के बिना पहुँचा नहीं जा सकता।''

अंधा क्या चाहे—दो आँखें। मैं तो यही स्थिति उत्पन्न करना चाहता था। परिस्थिति अब मेरी मुट्ठी में थी। बातें शुरू हुईं।

कोई काम किसीको बाँटा जाए, इसके पहले मैंने कहा, ''यह आयोजन इतना बड़ा है कि इसको सबसे पहले योग्य और अनुभवी संरक्षक चाहिए। एक ओर राजा-महाराजाओं के आतिथ्य का प्रश्न है और दूसरी ओर श्रोत्रिय ब्रह्मज्ञानियों की संतुष्टि का। इसके लिए मेरा प्रस्ताव है कि पितामह और द्रोणाचार्यजी इस आयोजन का संरक्षकत्व सँभालें। यद्यपि आचार्यजी यहाँ नहीं हैं, फिर भी हम उनके पास इस बैठक का अनुरोध भेजें।''

''इनका कार्य क्या होगा?'' यह आवाज भी कौरवों की ओर से आई थी; पर किसकी थी, कह नहीं सकता।

''इनका कार्य होगा सभी कार्यों का निरीक्षण और समन्वय करना। यदि किसीको कहीं भी कोई त्रुटि या कमी दिखाई पड़ेगी तो वह उसकी शिकायत इन्हीं लोगों से करेगा। ये लोग उस कमी को दूर कराने के लिए आदेश देंगे। नई समस्याओं का समाधान करेंगे। किसी विषय पर इनका निष्कर्ष अंतिम होगा और उसका पालन करना सभी के लिए धर्म की तरह अनिवार्य होगा।''

इसके बाद ही युधिष्ठिर बोल पड़े—''हमें कुछ ऐसे व्यक्तियों की

आवश्यकता है, जो घर के स्वामी की तरह कार्य करें; क्योंकि हम तो यज्ञवेदी पर रहेंगे।''

किसीके कुछ कहने के पहले ही मैंने कहा, ''इसके लिए महाराज़ धृतराष्ट्रजी तो हैं ही। यदि ये अपनी सहायता के लिए और व्यक्तियों को चाहें तो बाह्लीक और सोमदत्त भी इनके लिए उचित पड़ेंगे। वे भी यहाँ नहीं हैं; पर उनसे भी प्रस्ताव किया जा सकता है।''

मेरे इस प्रस्ताव से कौरव पक्ष के अधिकांश लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज तो आशा के विपरीत द्वारकाधीश का सारा निर्णय हमीं लोगों के पक्ष में जा रहा है। लोगों ने हर्षध्वनि कर मेरे प्रस्ताव का स्वागत किया।

फिर मैंने महाराज युधिष्ठिर से पूछा, ''अब बताइए कि आपको कितने महानुभावों की आवश्यकता है?''

वे कहने लगे—''अभी तो कई महत्त्व के कार्य शेष हैं; जैसे दिग्विजय के समय बहुत कुछ उपहार में मिला था। वह सब लाकर एक विशाल कक्ष में यों ही फेंका गया है। उनमें रत्न, स्वर्णाभूषण और स्वर्णमुद्राएँ हैं। और अभी बहुत कुछ उपहार में आएगा भी।''

''हम कितने उपहार की आशा करते हैं?'' दुर्योधन ने प्रश्न किया।

''इसका अभी से अनुमान करना कठिन है।'' युधिष्ठिर बोले, ''जो भी लोग यज्ञ के अवसर पर पधारेंगे, वे खाली हाथ तो आएँगे नहीं।''

''इस विवाद में अभी से पड़ने की आवश्यकता क्या?'' मैंने कहा, ''यह सारा झमेला आप कृपाचार्यजी पर डालिए। इसके लिए भी हमें उन्हें तैयार करना पड़ेगा; क्योंकि वे भी इस बैठक में नहीं हैं। यदि वे चाहें तो अपने साथ भाई दुर्योधन को भी रख लें।''

कौरवों की इस बार फिर बाँछें खिल गईं। यहाँ तक कि पितामह भी सोचने लगे कि आज क्या हो गया है कृष्ण को। सारा निर्णय एकपक्षीय कर रहे हैं। तब उन्होंने कहा, ''इस कार्य में अर्जुन को भी क्यों न सम्मिलित कर लिया जाए?''

मैंने मुसकराते हुए बड़े सहजभाव से कहा, ''पांडवों को आप इन झमेलों से यदि मुक्त रखें तो ठीक रहेगा। उन्हें केवल यज्ञ के लिए सुरक्षित रखिए; क्योंकि यह यज्ञ घड़ी-दो घड़ी चलनेवाला नहीं है। यों तो महाराज युधिष्ठिर ही मुख्य यजमान होंगे, पर उनकी सहायता में शेष भाइयों को रहने दें। कब कैसी आवश्यकता पड़े या न पड़े। मेरी राय से तो हस्तिनापुर को जो कार्य करना है, वह हस्तिनापुर करे और इंद्रप्रस्थ को जो कार्य करना है, वह इंद्रप्रस्थ करे। तभी

अनुष्ठान की सफलता संभव है।''

इसपर कौरवों ने तो प्रसन्नता व्यक्त की ही, पांडव भी प्रसन्न थे; क्योंकि सारी नीति तो पहले से निर्धारित थी और सबकुछ उसी नीति के अनुसार होता जा रहा था।

पितामह सदा एक खंडित व्यक्तित्व ही जीते थे। मन से तो वे पांडवों का भला चाहते थे, पर भलाई कौरवों की करते थे। प्रकृत्या वे कौरव और पांडवों की एकता के पक्षधर थे; पर दोनों कभी एक हो सकते हैं, उनका मन नहीं मानता था। इस समय भी जब उन्होंने देखा कि सारी व्यवस्था कौरवों के हाथ में केंद्रित होती चली जा रही है, तब उनके मुख से अर्जुन का नाम अनायास ही निकल आया था।

उन्होंने तुरंत ही स्वयं को सुधारते हुए कहा, ''अर्जुन का नाम तो मैंने इसलिए ले लिया था कि मेरी दृष्टि में यह एक बड़ा कार्य है। सारे उपहार लेना, सहेजना; किसने क्या दिया है, इसका हिसाब रखना; फिर खर्च की व्यवस्था करना—यह सब दो व्यक्तियों के लिए संभव नहीं है।''

''काम तो बहुत बड़ा है ही।'' मैंने पितामह का समर्थन किया—''इसलिए मेरी राय है कि व्यय विभाग एकदम अलग कर दिया जाए और किसी बहुत ही शांत एवं समझदार व्यक्ति को दिया जाए, जो खुलकर भी खर्च करनेवाला हो और सोच-समझकर भी; क्योंकि कहीं भी यदि व्यय में किसी प्रकार की कमी हुई तो बदनामी ही हाथ लगेगी। यह असम्मान हम सबका ही नहीं होगा, हमारे पूर्वजों तक का होगा। हमारी सारी योजना उनके दायित्व के निर्वाह की ही तो है।''

मेरे कथन का गहरा प्रभाव पड़ा। लोग सोचने लगे।

''तो आप ही बताइए कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को हम किसे सौंपें?''

यह प्रश्न युधिष्ठिर ने मुझसे किया था या पितामह से, मैं समझ नहीं पाया। फिर भी मैंने पितामह की ओर देखा। वे एकदम गंभीर थे। ऐसा लगा जैसे उन्होंने मुँह सिल लिया हो। कहीं कोई बात इधर-उधर से निकल न जाए।

''मेरे विचार से तो चाचाजी (मेरा संकेत विदुरजी की ओर था) इस कार्य को स्वीकार कर लेते तो बड़ी कृपा होती; क्योंकि इस समय आय का स्रोत तो आकाशवृत्तीय है। कहाँ-कहाँ से मेघ आएँगे और कब-कब बरसेंगे, कुछ पता नहीं; पर व्यय सरिता की धारा की तरह निश्चित है। उससे हमें कितनी धरती सींचनी है, कहाँ-कहाँ पानी खर्च करना है, इसमें बुद्धि भी लगानी पड़ेगी तथा सावधानी और सतर्कता भी बरतनी पड़ेगी। हमारा एक बार फिर आग्रह है कि चाचाजी इस काम को सँभाल लें।''

सबने मेरे प्रस्ताव का समर्थन किया और यज्ञ में व्यय का सारा हिसाब रखने का दायित्व विदुरजी को सौंप दिया गया।

"अब तो सभी मुख्य कार्यों का दायित्व उनके योग्य व्यक्तियों को दे दिया गया?" पितामह ने पूछा।

"क्यों, अभी भोजन-पानी का दायित्व कहाँ सौंपा गया, जो सबसे मुख्य है!" भीम इस ढंग से बोला कि लोग हँस पड़े।

"भोजन-पानी की ओर तुम्हारे सिवाय किसी और का भी ध्यान नहीं गया!" पितामह ने हँसते हुए कहा, "क्योंकि पकवान और उसके स्वाद का जितना अनुभव तुम्हें है, उतना किसी और को क्या हो सकता है!"

इसपर ऐसा ठहाका लगा कि लोग काफी देर तक़ हँसते रहे।

जब हँसी थोड़ी देर के लिए थमी, भीम फिर पहले से कुछ जोर से बोला, "मुझे केवल पकवान के स्वाद का ही नहीं, विष के स्वाद का भी अनुभव है।" इतना कहना था कि रही-सही हँसी का जैसे किसीने गला घोंट दिया हो।

वातावरण एकदम गंभीर हो गया।

अब फिर मुझे सँभालना पड़ा। मैंने अपनी कृत्रिम नाटकीय मुसकराहट उगाई और बड़े सामान्य भाव से भीम को संबोधित करते हुए बोला, "अरे भाई, भोजन को अमृत और विष बनते देर नहीं लगती। जहाँ आपने आवश्यकता से अधिक खा लिया वहाँ वह विष हुआ—और यह आपके लिए साधारण बात है।" इतना कहने के बाद मैं हँसा।

सोचा था, और लोग भी मेरी हँसी का साथ देंगे; पर आश्चर्य की बात थी कि कोई नहीं हँसा। सबके मस्तिष्क पर पुराना संदर्भ ही छाया रहा।

मैंने तुरंत मुद्रा बदली—"हाँ, तो भोजन की व्यवस्था के लिए आप लोग किसका नाम सुझाते हैं?"

"अब तक जब सारे नाम तुम्हींने सुझाए हैं तो यह नाम भी तुम्हीं सुझाओ।" पितामह बोले।

"हमारे पास मात्र एक कर्मठ व्यक्ति अभी तक खाली हैं। मैं सोचता हूँ, यह कार्य वे भलीभाँति कर सकते हैं।" मैंने कहा।

लोगों की प्रश्नवाची दृष्टि एकदम मेरी ओर लगी।

मैंने बड़ी नाटकीयता से कहा, "यदि आप उचित समझें तो यह कार्य दुःशासन को दे दिया जाए।"

धृतराष्ट्रकुमारों ने करतलध्वनि से मेरी इस घोषणा का स्वागत किया।

इसके बाद रात्रि के द्वितीय प्रहर के घंटे सुनाई पड़े। लोगों को समय का ज्ञान हुआ। अब तक चुप बैठे धृतराष्ट्रजी बोल पड़े—"समय अधिक हो गया है। अब तो लगभग सारे कार्य भी बाँट दिए गए हैं। शायद ही कुछ बचे हों—और जो कुछ बचे होंगे, उनपर फिर विचार कर लिया जाएगा। क्यों न अब यह बैठक विसर्जित की जाए!"

"नहीं-नहीं, अभी एक बहुत महत्त्व का कार्य बाकी है।" युधिष्ठिर ने कहा, "अभी तक हम लोगों ने केवल एकपक्षीय व्यवस्था की है।"

पक्ष का नाम लेते ही कौरव सजग हो गए। वे एक-दूसरे को देखने लगे। पर शीघ्र ही उन्होंने यह कहकर उनका भ्रम दूर किया—"अभी तक हम लोगों ने राजे-महाराजे और प्रजा के संदर्भ में ही विचार किया है। हमारी दृष्टि उन श्रोत्रियों की ओर नहीं गई, जिन्हें हमारे पुरोधा आचार्यों ने यज्ञ के निमित्त बुलाया है। उनकी भी संख्या काफी हो जाएगी। हमें एक सजग और योग्य व्यक्ति को उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए भी चुनना चाहिए।"

"मैं सोचता हूँ कि इसके लिए भी नाम कन्हैया ही प्रस्तावित करें।" पितामह बोले।

"सबके लिए मैं ही नाम प्रस्तावित करूँ! अब मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है।" मैंने हँसते हुए कहा, "क्योंकि विषय श्रोत्रियों की सेवा-शुश्रूषा का है। इसके लिए ऐसा व्यक्ति चाहिए, जिसे उनकी शास्त्रीय जीवन-पद्धति का ज्ञान हो। ऐसा कोई द्विज ही हो सकता है, जो हमारी ओर से उनकी सेवा करे। हमारे पास तो दो आचार्य थे। हमने बिना उनकी अनुमति के उनको कार्य सौंप दिए। अब आप लोग किसी ऐसे व्यक्ति को बताइए, जो इस दृष्टि से योग्य भी हो और जिससे हमारा घरेलू संबंध भी हो।"

कुछ समय के लिए लोग सोच में पड़ गए। तब तक दुर्योधन बोला, "इसके लिए अश्वत्थामा कैसा पड़ेगा?"

"अरे वाह, आपने भी कैसा उपयुक्त नाम लिया!" मैंने कहा।

अपने पूर्व निश्चय के अनुसार हमने अश्वत्थामा को ही इस कार्य के लिए रखा था। केवल यह चाहता था कि उसका नाम कौरव पक्ष की ओर से आए। और यह हो गया। कौरव बड़े खुश थे। वे समझते थे कि आज की सभा हमारे पक्ष की थी; पर वास्तविकता तो हम पांडव जानते थे। इसीलिए दोनों पक्षों की खुशी समवेत हो एक दूसरे ही रंग में रँग गई थी।

"कहिए, कोई और समस्या है कि बैठक समाप्त की जाए?" पितामह ने

महाराज युधिष्ठिर से पूछा।

''संप्रति कोई और बात तो समझ में नहीं आती।'' युधिष्ठिर ने सिर खुजलाते हुए कहा।

मैं फिर बीच में कूद पड़ा—''और फिर यदि कोई समस्या आएगी तो पितामह उसका समाधान करेंगे और जो इनका निर्णय होगा, उसे हम सबको मानना पड़ेगा।''

''मैं तो सब करूँगा ही।'' पितामह हँसते हुए बोले, ''पर तुम क्या करोगे?''

''जो आप आदेश देंगे।'' मैंने भी हँसते हुए ही कहा, ''या फिर जो कोई नहीं करेगा।''

इसके बाद बड़ी प्रसन्न मुद्रा में वह बैठक समाप्त हुई।

☐

अब सबकुछ हमारी योजना के अनुसार ही हो रहा था। महाराज युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न थे। जब वे मुझसे मिले तब मैंने उन्हें फिर समझाया—''देखिए, सारा प्रबंध आपके विपक्षियों के ही हाथ में है।''

''यह तो आपने ही कराया है।'' उन्होंने कहा।

''पर आप अपनी आँखें खुली रखिएगा।'' मैंने कहा। वे मेरी बात समझ नहीं पाए। मैंने उन्हें समझाते हुए कहा, ''ऐसे में हमें गुप्तचरों की सतर्कता की बड़ी आवश्यकता है। कौन कब आया? किस शिविर में टिकाया गया है? वह किस-किससे मिलता है? क्या सोचता है? इन सबकी जानकारी हमें रखनी चाहिए; क्योंकि एक ओर हम राजसूय यज्ञ कर रहे हैं और दूसरी ओर आचार्यों की भविष्यवाणियों के अनुसार हमें संभावित आशंकाओं के लिए भी तैयार रहना है।''

महाराज युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठता किसी तरह राजनीति की परिधि तक तो जा सकती थी, पर कूटनीति की सीमा को छूने की उसमें इच्छा शक्ति ही नहीं थी। ऐसे अवसरों पर वे शत-प्रतिशत मुझपर निर्भर हो जाते थे।

इस बार भी उन्होंने कहा, ''गुप्तचर विभाग के अधीक्षक को मैं आपके पास भेज देता हूँ। आप ही समझा दें।''

मुझे बड़ी झुँझलाहट हुई। मैंने उसी झुँझलाहट में कहा, ''तब क्यों नहीं मैं ही इंद्रप्रस्थ के सिंहासन पर बैठ जाऊँ!''

''इससे बड़ी प्रसन्नता की बात मेरे लिए दूसरी नहीं होगी।'' उन्होंने मुसकराते हुए कहा और चले गए।

अब राजा-महाराजाओं का आना आरंभ हो गया था। सबसे पहले आनेवालों

में पांचाल से द्रुपद, गांधार से सुबल, मद्र से मामा शल्य तथा कुंतिभोज आदि थे। ये सभी वृद्ध थे; इसीलिए इन्होंने एक-दो दिन पूर्व पहुँचकर विश्राम करने की योजना बनाई थी।

मैंने सबसे मिलकर अपना प्रणाम निवेदित किया। सब बड़े प्रसन्न हुए। सबने मुझे जरासंध और नरकासुरवाले कांड के लिए बधाई दी। आशीर्वाद दिया।

इसके दूसरे दिन मेरा परिवार पहुँचा। बलराम भैया के साथ ही अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सांब आदि थे। मेरे परिवार के ही साथ चारुदेष्णा, उल्मुक आदि समस्त यादव महारथी भी पधारे। फिर तो राजा-महाराजाओं के पधारने का ऐसा ताँता लगा, जिनकी गणना कठिन थी; पर व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि किसी आगंतुक को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ।

मैंने नित्य का कार्यक्रम बना लिया था। प्रातः संध्या-पूजन से निवृत्त हो सीधे पितामह के पास पहुँचता था। जलपान भी उन्हींके साथ करता था। पहले दो-एक दिनों तक तो उन्होंने मेरी उपस्थिति को बहुत महत्त्व नहीं दिया; पर जब उन्होंने समझ लिया कि यह मेरे नित्य का कार्यक्रम ही है, तब उन्होंने मेरे लिए विशेष रूप से नवनीत एवं दधि की व्यवस्था की और हँसते हुए कहा, ''कृष्ण का भोग नवनीत और दधि के बिना संभव कैसे?''

''मैं भोग के लिए नहीं वरन् आपके प्रसाद और आशीर्वाद के लिए आता हूँ।'' मैंने कहा।

मेरे यहाँ आने के पीछे कई उद्देश्य थे। एक तो यज्ञ में आए राजा-महाराजाओं से भेंट हो जाती थी; क्योंकि वे महाराज युधिष्ठिर को उपहार आदि देकर सीधे यहाँ आते थे। जिनसे भेंट नहीं हो पाती थी, उनका समाचार मिलता था। फिर कौरव पक्ष के वरेण्य लोगों से संपर्क बनाए रखने का यह अच्छा माध्यम था। यहाँ उनके भीतर की बहुत सी बातें मालूम हो जाती थीं।

यहीं मुझे विदुरजी ने बताया—''उस दिन की बैठक में तो शकुनि कुछ नहीं बोला था; पर बैठक समाप्त होते ही ज्यों ही वह वहाँ से निकला, अपने भानजों के साथ बाहर आया तो प्रासाद की ओर बढ़ते हुए वह बोला, 'देखा, आज कन्हैया ने कैसा हम लोगों को फँसाया! हम सबको कार्य में लगा दिया, जिससे हम कुछ और न सोच सकें। पांडव आनेवालों से संपर्क करें, वाहवाही लूटें और हम लोगों की सेवा में लगे रहें।'

'' 'पर मैंने तो ऐसा सोचा भी नहीं था। शायद पांडवों ने भी ऐसा न सोचा हो।' मैंने कहा।

" 'अरे, आप न सोचें। हो सकता है, पांडव भी न सोच पाएँ; पर कृष्ण तो सोच ही सकता है।' शकुनि बोला। इसी समय महाराज ने उसे डाँटा—'तुम्हारी दृष्टि ही इतनी दूषित है, शकुनि, कि पांडवों के किसी काम में तुम्हें अच्छाई दिखाई ही नहीं देती। चलो, तुम्हें तो कोई कार्य नहीं सौंपा गया है। तुम तो परम स्वतंत्र हो। जो समझ में आए, सो करना।' "

"इसका तात्पर्य है कि वह कुछ करने से बाज नहीं आएगा।" मैंने कहा।

"वह क्या करेगा! जब से महाराज सुबल पधारे हैं, उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम है।" विदुरजी ने बताया—"यहाँ तो वे पितामह से मिलने आए थे। मैंने उनसे जानबूझकर शकुनि की चर्चा की। तब वे बड़े क्रोध में झुँझलाते हुए बोले, 'उसका नाम मत लीजिए। उसके जैसा नीच शायद ही कोई दूसरा हो।' "

"अपने पुत्र के प्रति पिता की धारणा का पता क्या कौरवों को भी है?" मैंने पूछा।

"कह नहीं सकता।" विदुरजी बोले, "नहीं पता होगा तो धीरे-धीरे मालूम हो जाएगा। ऐसी बातें कहीं छिपती हैं!"

इन सभी उद्देश्यों के अतिरिक्त पितामह के यहाँ निरंतर अपनी उपस्थिति बनाए रखने का मेरा एक दूसरा उद्देश्य भी था—उनके चिंतन पर छाए रहना, जिससे हमारे और पांडवों के हित के अतिरिक्त कभी वे और कुछ सोच ही न सकें।

यहीं मेरी भेंट कर्ण से भी हुई। वह बड़े प्रेम से मिला और गले लगते हुए बोला, "इस समय तो पूरे आर्यावर्त्त में आपके नाम का डंका बज रहा है।" फिर वही पुरानी बात दुहराई—"नरकासुर के अंत:नगर और जरासंध की कारा से जिन्हें आपने मुक्ति दिलाई है, वे आपको भगवान् मानते हैं—और उन्हें मानना भी चाहिए।"

मैंने अनुभव किया कि कर्ण के इस कथन में जरा भी ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं है। वह एकदम सहजभाव से बोला था।

मैंने भी उतने ही सहजभाव से कहा, "लोगों के मानने से क्या होता है! आप तो नहीं मानते।"

"जिस दिन आप मुझे अपना भक्त स्वीकार कर लेंगे उस दिन आप भी मेरे लिए भगवान् हो जाएँगे।"

उसका यह कथन उस दिन मुझे बहुत गहराई तक छू गया था। पर उस समय तो मैं कर्ण के साथ ही हँस पड़ा था।

फिर मैंने जानना चाहा—"आपको कहाँ ठहराया गया है?"

"दुर्योधन आदि की इच्छा थी कि मैं उनके साथ ही उनके प्रासाद में रहता; पर मैंने स्वीकार नहीं किया। मेरी बहुत कुछ स्वतंत्रता छिन जाती। फिर उनके पारिवारिक अनुष्ठान से मेरा क्या प्रयोजन! मैं सूतपुत्र हूँ न!" इतना कहते-कहते उसकी आकृति का रंग एकदम बदल गया—"इसीसे यादवों और क्षत्रियों से दूर यमुना के किनारे एक छोटे से शिविर को मैंने अपने निवास के लिए स्वीकार किया है। वह स्थान मेरे स्नान-ध्यान की दृष्टि से बड़ा सुविधाजनक है।"

"तो आपकी उपस्थिति एकदम तटस्थ रहेगी?"

"तटस्थ ही नहीं, एकदम निष्क्रिय भी।" इसी क्रम में वह अनायास बोल पड़ा—"धर्मराज बड़े भले व्यक्ति हैं। जब मुझे पता चला कि वे अपने पूज्य पिता की इच्छापूर्ति के लिए राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, तब मैंने भीम की दिग्विजय यात्रा का विरोध नहीं किया। मैंने समर्थन भी नहीं किया; क्योंकि मैं पांडवों का समर्थन करूँ, यह मेरी प्रकृति में नहीं है। हाँ, उनकी पितृभक्ति का मैं समर्थक अवश्य हूँ।"

"क्योंकि आप भी पितृभक्त हैं।"

मेरे इतना कहते ही संकोच एवं ग्लानि भरी हँसी उसके चेहरे पर उभर आई। वह बोला, "जिसके पितृ का ही पता नहीं, वह पितृभक्त क्या होगा!"

फिर वह एकदम चुप हो गया। आँखें भी उसकी मुँदने लगीं; जैसे वह अपने भीतर उठी कोई आवाज सुन रहा हो। मुझे कष्ट हुआ कि बातें यमुना के कल-कल से उठकर किस आत्मग्लानि के गड्ढे में डूब गईं।

ज्यों-ज्यों दिन बीतता गया, भीड़ बढ़ती गई। राजे-महाराजे तो पधारे ही, उनकी कुछ प्रजा भी आई; क्योंकि आर्यावर्त्त में बहुत दिनों बाद राजसूय यज्ञ होने जा रहा था। इसलिए यह अनुष्ठान लोगों की दृष्टि में एक पर्व की तरह महत्त्वपूर्ण था और इंद्रप्रस्थ की स्थिति किसी तीर्थ जैसी हो गई थी।

सबसे अंत में विरोधियों का समूह आया। यह मात्र संयोग था या सोची-समझी योजना, कह नहीं सकता; पर शिशुपाल, पौंड्रक वासुदेव, दंतवक्त्र आदि एक ही दिन पधारे और आश्चर्य यह कि ये लोग पितामह से मिलने नहीं गए। सीधे महाराज युधिष्ठिर से मिले। उन्हें उपहार दिए और फिर अपने आवंटित शिविरों में चले गए। बाद में मुझे यह पता चला कि शिशुपाल भीमसेन से मिलने के लिए आतुर है।

कोई ऐसा राजा नहीं था, जिसने उपहार में शत स्वर्णमुद्रा से कम दिया हो। प्रजा भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य से अधिक दे रही थी। इंद्रप्रस्थ का कोष

एकदम भर गया था। इसीसे दुर्योधन ने विदुरजी पर अधिक-से-अधिक व्यय करने का दबाव बनाया।

संध्या होते-होते एक विचित्र प्रकार का कोलाहल उठा। मैंने सोचा, यह क्या हो गया? माथा ठनका। कल से ही अनुष्ठान के विविध कृत्य होने वाले हैं और आज ही यह कोलाहल! मेरी व्यग्रता बहुत बढ़ गई; क्योंकि आचार्यों की भविष्यवाणी ने मुझे शंकालु बना दिया था।

मैं स्वयं जाना नहीं चाहता था। बिना बुलाए जाना मैं उचित नहीं समझता था। बलराम भैया ने कहा कि मैं देखूँ। मैंने कहा, आपका भी जाना उपयुक्त नहीं होगा। मैंने अपने पौत्र अनिरुद्ध को भेजा कि तुम जाओ। किसीसे कुछ बोलना नहीं, केवल दूर से देखकर चले आओ कि बात क्या है।

संध्या भी डूबने लगी। अँधेरा होने को आया। काफी देर हो गई। कोलाहल थम गया; पर अनिरुद्ध नहीं आया। व्यग्रता बढ़ी।

''लड़का है, तमाशा देखने लगा होगा।'' बलराम भैया ने धीरज बँधाया— ''घबराने की कोई बात नहीं। यदि कोई गंभीर बात होती तो आगे बढ़ती; पर अब तो सब शांत लगता है।''

मैं भी यही सोचकर अपने शिविर के सामने चुपचाप टहल रहा था। मैंने देखा कि सामने से भीमसेन डग बढ़ाता हुआ चला आ रहा है। मैंने कोलाहल के संबंध में उससे जानने की चेष्टा की।

उसने कहा, ''मैं उधर से नहीं आ रहा हूँ।''

''इतना हो-हल्ला हुआ, पर तुमने जानने की चेष्टा नहीं की?'' मैंने पूछा।

''बात यह थी कि मैं शिशुपाल के शिविर में था। हो-हल्ला सुनकर मैं भी घबराया। वहाँ से चलना भी चाहता था; पर उसने उठने नहीं दिया। मुझे बैठाकर वह योजना बनाता रहा।''

''किस प्रकार की योजना?''

''आपके वध की योजना।'' उसने मुसकराते हुए कहा।

मुझे भी हँसी आ गई। साथ ही आचार्यों की भविष्यवाणियाँ भी मन में गूँजने लगीं।

भीम ने जो कुछ बताया, उसका पूर्वार्द्ध मैं नकुल से सुन चुका था। फिर भी उससे सुनना मुझे कुछ विशेष अच्छा लगा। उसने कहा, ''जब मैं दिग्विजय के लिए निकला था तब चेदि भी गया था। मौसाजी (शिशुपाल के पिता दमघोष) ने तो मेरा स्वागत किया था। वे बड़े प्रसन्न थे। शिशुपाल का पहला प्रश्न था कि 'तुम्हारे

साथ द्वारका की भी सेना होगी?' मैंने कहा, 'नहीं।'

''तब उसने पूछा, 'क्यों नहीं है?'

''मैंने कहा, 'कृष्ण ने अपनी सेनाएँ नहीं दीं।' मैंने थोड़ा नमक-मिर्च और लगा दिया तथा कहा कि 'कन्हैया का कहना था कि राजसूय यज्ञ करेंगे आप लोग और दिग्विजय करेगी हमारी सेना!'

''बस इतना काफी था। शिशुपाल उस समय उबल पड़ा—'देखा, कितना स्वार्थी है कन्हैया! आखिर उसकी वास्तविकता तुम लोगों के सामने नंगी हो ही गई। अब तो तुम लोगों की भी आँखें खुल गई होंगी!' ''

भीम का कहना था—''मैं तो चुप ही था, पर शिशुपाल ने मेरा हाथ पकड़कर कहा, 'अब से हम मात्र संबंधी ही नहीं, हमारी-तुम्हारी मित्रता भी घनिष्ठ हुई। अब से हमारा-तुम्हारा एक ही उद्देश्य होगा—कन्हैया का विनाश।' ''

मैंने भीम को टोकते हुए कहा, ''तुम्हें यह सब पहले बताना चाहिए।''

''तो आप क्या करते?'' भीम ने पूछा।

''जैसे शिशुपाल से डरता हूँ वैसे तुमसे भी डरता।'' मैंने कहा।

भीम ने ठहाका लगाया। थोड़ी देर बाद वह अपनी हँसी को समेटता हुआ बड़ी गंभीरता से बोला, ''उसे वास्तविकता का तो पता नहीं है। वह सोचता है कि सारी व्यवस्था कौरवों के हाथ में इसलिए है कि पांडवों का मन भी कृष्ण की ओर से खट्टा हो चुका है। सारा वातावरण उसके विरुद्ध है। इस समय यदि कन्हैया नामक जीव पर लक्ष्य साधा जाए तो तीर निशाने पर बैठेगा। शायद उसने पौंड्रक वासुदेव और दंतवक्त्र से भी बातें कर ली हैं। इस समय तो उसे हरियाली सूझ रही है। यद्यपि वह सावन का अंधा नहीं है; फिर भी वह किसी बहाने की तलाश में है। हमें उससे सावधान रहना चाहिए।''

मैं मुसकराते हुए भीम को सुनता रहा। अंत में मैंने उससे इतना ही कहा, ''मुझसे अधिक सावधानी तो तुम्हें बरतनी चाहिए। अब उससे कभी मिलने की चेष्टा मत करना।''

मैंने इतनी गंभीरता से ये बातें कहीं कि भीम सुनकर चुपचाप चला गया। एक मुख्य बात जो वह बताना चाहता था, उसे भी शायद वह भूल गया। वह कहना चाहता था कि उसका बेटा घटोत्कच बहुत सारा उपहार लेकर आ गया है।

रात्रि का प्रथम प्रहर खिसकने को था। वायु की गति ठंडक के बोझ से शिथिल हो गई थी; पर अनिरुद्ध अभी तक नहीं आया था। मेरी चिंता कुछ-कुछ क्रोध और झुँझलाहट में बदलती चली जा रही थी। आते ही मैं उसे ऐसा लताड़ूँगा

कि बहुत दिनों तक याद करेगा। मेरी मानसिकता कुछ ऐसी ही होती जा रही थी कि अचानक दूर क्षितिज पर दो छाया प्रतिमाएँ उभरीं और फिर मेरे शिविर की ओर बढ़ती ज्ञात हुईं। थोड़ी देर बाद तो मुझे अनिरुद्ध के होने का आभास लगने लगा; पर अब तक मैं यह नहीं जान पाया कि वह दूसरा कौन है।

थोड़ी देर बाद जब वे दोनों अन्य शिविरों के सामने से निकले, तब शिविरों के बाहर जल रही मशालों की ज्योति उनपर पड़ी और मैंने शीघ्र ही उस दूसरे व्यक्ति को भी पहचान लिया। वह महाराज युधिष्ठिर का पुत्र प्रतिविंध्य था।

आते ही मैं तड़पा—"कहाँ थे इतनी देर तक?"

उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम। प्रतिविंध्य भी कुछ बोल नहीं पाया। किसी तरह अपना साहस बटोरकर अनिरुद्ध बहुत धीरे से बोला, "मैं तो आ रहा था, पर प्रतिविंध्य चाचा ने ही मुझे रोक लिया।"

मैंने प्रतिविंध्य से कुछ नहीं कहा। वह काँपता हुआ एक अपराधी की तरह मेरे सामने खड़ा था। थोड़ी देर बाद क्रोध को झाड़ते हुए बड़े सामान्य भाव से मैंने उससे कहा, "अरे वत्स, किसी चर से सूचना भिजवा देते। हम लोग इतने व्यग्र तो न होते। एक तो अनिरुद्ध पहली बार इंद्रप्रस्थ आया है; फिर यहाँ की राजनीति का तो तुम्हें अच्छी तरह ज्ञान है। हम लोग उस पहाड़ी पर खड़े हैं, जो किसी भी समय ज्वालामुखी हो सकती है।"

"हाँ, भूल तो मुझसे हो गई।" प्रतिविंध्य ने सहमते-सहमते कहा, "बात यह हुई कि दुर्योधन चाचाजी ने उसके ठहराने की व्यवस्था मुझे ही सौंप दी और मैं अनिरुद्ध को अपने साथ लेता गया।"

"किसकी व्यवस्था करनी थी?" मैंने पूछा।

"आपने कुछ सुना नहीं क्या?" प्रतिविंध्य फिर विस्तार से बताने लगा—"आज मध्याह्न के पूर्व ही एक काला-कलूटा व्यक्ति अपने साथियों के साथ आया। सभी आदिवासी लग रहे थे। प्रतिहारियों ने आकर पिताजी को बताया कि भीलराज आपसे मिलना चाहते हैं। पिताजी ने अनुमति दे दी। वह आया और उसने राजकीय अभिवादन के साथ एक धनुष और एक स्वर्ण प्रतिमा पिताजी को उपहार में दी। पिताजी बड़ी देर तक उस प्रतिमा को देखते रहे। फिर अपनी बगल में खड़े अर्जुन चाचा की ओर उन्होंने प्रतिमा को बढ़ाते हुए कहा, 'देखो, कितनी सुंदर प्रतिमा है!'

"चाचाजी ने उसे बड़े ध्यान से देखा और फिर एकदम भड़क पड़े।" प्रतिविंध्य का कहना था—"उन्होंने कहा कि 'यह मेरा प्रत्यक्ष अपमान है। आचार्यजी

की गोद में मुझे बिठाकर चारों ओर से धधकती लपटों से घेर दिया गया है। इस प्रतिमा में आचार्यजी को और मुझे जीवित जलाया जा रहा है। यह मेरे और मेरे गुरु का प्रत्यक्ष अपमान नहीं तो और क्या है?'

" 'पर यह प्रतिमा न आपकी है और न आपके गुरु की है।' उस भीलराज ने कहा। चाचाजी आगबबूला हो गए—'तुम मेरी आँखों में धूल झोंकना चाहते हो! यह प्रतिमा हम दोनों की नहीं, तब किसकी है?'

" 'यह मेरी बनाई प्रतिमा है, ईर्ष्या की।'

" 'क्या मूर्खता की बात करते हो! ईर्ष्या तो अमूर्त होती है, कहीं उसकी भी मूर्ति बनाई जा सकती है!' तब उस भीलराज ने कहा, 'अमूर्त को मूर्त में देखना ही तो कला है, अग्रजश्रेष्ठ!' "

इतना सुनते ही मेरे मुख से तुरंत निकल पड़ा—"क्या बात कही है उसने!" मेरा मन एकदम इस वाक्य में डूब गया—'अमूर्त को मूर्त में देखना ही तो कला है, अग्रजश्रेष्ठ!'

प्रतिविंध्य बोलता जा रहा था—"उसके इतना कहते ही तो कोलाहल शांत हो गया। पिताजी ने भी उसका बड़ा सम्मान किया। जब वह चलने लगा तो पिताजी सिंहासन से खड़े हो गए।

"अब प्रश्न था कि उसे सामंतों के शिविर में ठहराया जाए या राजाओं के शिविर में?" प्रतिविंध्य ने बताया—"हमारे चाचाओं में ही दो राय हो गई। तब तक दुर्योधन चाचा दौड़े हुए मेरे पास आए और बोले, 'प्रतिविंध्य, इसे राजाओं के शिविर में ठहराने की व्यवस्था करो।' "

"ठीक किया दुर्योधन ने।" मैंने कहा।

"पर हम अभी तक यह न जान पाए कि वह कौन है?" प्रतिविंध्य बोला।

"तुमने उसके दाहिने हाथ का अँगूठा देखा था?" मैंने पूछा।

"हाँ, वह कटा हुआ था।" प्रतिविंध्य ने कहा, "उसीका नहीं, उसके जितने साथी थे, सभी ने अपने दाहिने हाथ के अँगूठे पर पट्टियाँ बाँध रखी थीं।"

मेरा मन द्रवित हो गया। मेरे मन ने कहा, 'तुम उसे कैसे पहचानोगे! तब तो तुम पैदा भी नहीं हुए थे। हम सब तुमसे भी छोटे थे।' इसके बाद मैंने उन्हें एकलव्य की कथा सुनाई। प्रतिविंध्य और अनिरुद्ध दोनों मुझे बड़े ध्यान से सुनते और मेरे साथ टहलते रहे।

सारी कथा सुनने के बाद प्रतिविंध्य ने एक गंभीर प्रश्न किया—"धनुर्विद्या का इतना अद्भुत साधक क्या मूर्तिकार भी हो सकता है?"

''मूर्तिकार तो वह पहले से ही था।'' मैंने बताया—''उसने आचार्य द्रोण की ऐसी जीवंत प्रतिमा बनाकर धनुर्विद्या की साधना आरंभ की थी, जिसे देखकर स्वयं आचार्यजी चमत्कृत रह गए थे। सुना है, उन्होंने यहाँ तक उससे कहा था कि अच्छा होता, यदि तुम मूर्ति ही बनाते। तब जानते हो, उसने क्या कहा था? उसने कहा था—'मैं मूर्तिकला साधक तो था ही, पर आपकी दुत्कार ने मुझे धनुर्विद्या के प्रति लौ लगाई। अब तो यह आग लक्ष्य पर पहुँचकर ही बुझेगी।' ''

''चाचाजी बता रहे थे कि यह भीलराज अद्‌भुत है। जहाँ देखो यह वहीं पहुँच जाता है।'' प्रतिविंध्य ने कहा, ''सुना है, माताजी (द्रौपदी) के स्वयंवर में भी यह कर्ण की ओर से बोला था।''

''अभी क्या देखते हो, यह इतिहास में पहुँच जाएगा।'' मैंने कहा, ''जहाँ-जहाँ, जब-जब आचार्य द्रोण का नाम लिया जाएगा तब-तब लोगों को एकलव्य अनायास याद आएगा। एक आचार्य के चरित्र का यह श्याम पक्ष है। चंद्रमा के साथ कलंक की तरह लगा रहेगा।''

☐

देर तक मेरे मन को एकलव्य और शिशुपाल घेरे रहे। शय्या पर पड़ा-पड़ा मैं काफी रात तक इन दोनों के विषय में ही सोचता रहा। दोनों के व्यक्तित्व में कोई तुलना नहीं। एक वैभव से पराभव की ओर बढ़ रहा था, दूसरा पराभव से संघर्ष करता हुआ वैभव की ओर अग्रसर था। एक अनैतिकता व अन्याय को समर्पित था और दूसरा सामाजिक न्याय के लिए प्रयत्नशील। एकलव्य जातीय आधार पर शिक्षा के छिने अधिकार की हारी हुई लड़ाई लड़ रहा था और शिशुपाल केवल मेरा विरोधी था। मेरे परिवार का भी नहीं वरन् एकमात्र मेरा। उसकी ईर्ष्या इस महान् यज्ञस्थल पर मेरे पराभव का स्वप्न देख रही थी।

मेरा चिंतन कल्पना में डूबता चला गया। अब शिशुपाल मेरे सामने विरोधी मुद्रा में खड़ा था। मैंने उससे पूछा, 'आखिर तुम मेरा विरोध क्यों करते हो? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?'

'मेरे प्रेमिल सपनों के संसार में आग लगाकर तुम ऐसे अनजान बनते हो जैसे तुम्हें कुछ मालूम ही नहीं।' मेरी कल्पना में शिशुपाल बोला, 'जिस रुक्मिणी से मेरा विवाह होने वाला था, उसे तुम चोरों की तरह लूटकर भागे। यह तुम्हारा कैसा धर्म था? तुम तो बड़े धर्मपालक बनते हो न!'

'उस समय भी मैंने धर्म की रक्षा की थी।' मैंने कहा, 'उस समय किसीकी इच्छा तुम्हारे साथ रुक्मिणी का विवाह करने की नहीं थी—और रुक्मिणी की तो

बिलकुल ही नहीं। केवल उसका भाई रुक्मी उसे तुम्हारे साथ बलात् बाँध रहा था। किसी भी नारी को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसीके साथ बलात् बाँध देना क्या अन्याय नहीं था? क्या स्त्री की इच्छा और अनिच्छा का कोई महत्त्व नहीं? केवल पुरुष की इच्छा ही सबकुछ है? क्या नारी क्रीत दासी है? पालित जीव है कि जिस गाड़ी में चाहो, उसे नाथ दो?'

फिर भी शिशुपाल चुप नहीं हुआ। अब वह गालियाँ देने लगा; क्योंकि जब क्रोध असमर्थ हो जाता है तब वह गालियों के व्यर्थ बाण छोड़ने लगता है।

उस समय मुझपर उछाले जा रहे कीचड़ के प्रतिशोध में उछालने के लिए मेरे पास कीचड़ नहीं था। मैं चुपचाप उसे देखता रहा। कल्पना में डूबता गया। कब सो गया, पता नहीं। नींद खुली तो कानों में मंगला आरती की ध्वनि पड़ी। याद आया कि आज विशेष पूजन होगा; क्योंकि आज से ही यज्ञ का कर्मकांड आरंभ होने वाला है। मैं भी स्नानादि से निवृत्त होकर तैयार होने लगा। इसी समय मुझे सूचना मिली कि आज रात को पूज्य पिताजी आए हैं और कुंती बुआ के प्रासाद में ठहरे हैं। मैंने यह सूचना बलराम भैया के यहाँ भी भिजवाई। वे अभी सोए हुए थे।

मैं नित्य के अनुसार पितामह के ही आवास पर गया। आज वे बहुत से लोगों से घिरे थे। वहीं पिताजी से भी भेंट हो गई। चरण स्पर्श के बाद मैंने उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछा; क्योंकि जब मैं आया था तब वे अस्वस्थ थे। इसीसे बलराम भैया के साथ भी वे नहीं आ पाए थे।

''मार्ग में कोई कष्ट तो नहीं हुआ?'' मैंने पूछा।

''नहीं, कोई विशेष नहीं।'' पिताजी ने कहा, ''कुछ विश्वस्त सेवक और सैनिक साथ में ले लिये थे। फिर पुष्कर के बाद तो चेदिराज की एक सैनिक़ टुकड़ी मिल गई। उसने बड़ी देखभाल की।''

''कहाँ जा रही थी वह सैनिक टुकड़ी?'' मैंने पूछा।

''मेरे साथ वह यहीं आई है।'' इसके बाद उनकी आवाज कुछ तेज हुई; जैसे वह इसकी सूचना पितामह को भी देना चाहते हों—''पता नहीं क्यों शिशुपाल ने सेना बुलाई है!''

पितामह गंभीर हो गए; पर मैं उस गंभीरता को तुरंत पोंछते हुए बोला, ''वह आई होगी किसी उद्देश्य से। अब छोटी-छोटी बातों में पितामह का मस्तिष्क मत उलझाइए।''

उस समय तो बात समाप्त हो गई।

हम पितामह के रथ पर ही वहाँ से यज्ञस्थल पर पहुँचे। लोगों का आना आरंभ हो गया था। मैंने देखा, राजा-महाराजाओं के स्वागत में तो काफी लोग लगे थे, पर श्रोत्रिय ब्राह्मणों की आवभगत में अमात्य मंडल के मात्र दो सदस्य अपने परिचरों के साथ जुटे थे। मैं अविलंब उनकी सेवा में पहुँचा। मैंने यज्ञमंडप के मुख्य द्वार पर ही जल की पूरी व्यवस्था कराई और छोटे-बड़े सभी ब्राह्मणों के पद पखारने लगा।

मेरे मन ने कहा, 'इस समय तुम्हारे लिए इससे उचित दूसरा कोई कार्य नहीं हो सकता।' जो देखता वही अचरज करता—'अरे, द्वारकाधीश ब्राह्मणों के चरण पखार रहे हैं।' चारों ओर बस एक ही चर्चा होने लगी।

वेदव्यासजी तो गद्‌गद थे। उन्होंने पितामह से कहा, ''जो राजसत्ता राष्ट्रीय मनीषा के चरण पखारती है, उसकी अस्मिता कभी समाप्त नहीं होती।''

जब मैंने वेदव्यासजी के चरण धोए तब वे पुलकित तो थे ही, उन्होंने एक वाक्य कहा, ''कभी केवट ने आपके चरण धोए थे, आज आप केवट (वेदव्यास एक मछुआरे की पुत्री मत्स्यगंधा—सत्यवती—के पुत्र थे) के चरण धो रहे हैं। आप धन्य हैं!''

इस उद्‌गार का अर्थ मैं उस समय समझ नहीं पाया था, अन्यथा मैं तुरंत कहता, आप केवट कैसे? आप तो महान् श्रोत्रिय हैं। श्रुति को प्रतिश्रुत एक द्विज हैं।

कोई ऐसा याज्ञिक नहीं था, जिसने खुलकर मुझे आशीर्वाद न दिया हो। उनके बीच मैं एक मुख्य व्यक्तित्व हो गया था। उसी समय मेरी प्रशंसा राज समाज में रेंग गई।

यदि इस धारा का कहीं प्रतिरोध हुआ तो शिशुपाल के पास। उसने पौंड्रक वासुदेव से कहा, ''देखा, शुरू कर दिया इसने नाटक!''

''इस नाटक का पटाक्षेप तो तुम्हें ही करना है।'' पौंड्रक बोला।

''करूँगा तो मैं ही पटाक्षेप, पर कोई बहाना तो मिलना चाहिए न!'' शिशुपाल बोला।

इधर महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मा का आसन ग्रहण किया और उधर उद्‌गाता सुसमा ने सामगान आरंभ किया। अध्वर्यु एवं याज्ञवल्क्य ने अग्नि का आह्वान आरंभ किया। दूसरी ओर पांडवों के पुरोधा महर्षि धौम्य ने महाराज युधिष्ठिर को संकल्प कराना शुरू किया।

वेदमंत्रों की समवेत ध्वनि से सारा वातावरण कंपायमान हो गया; जिसकी

सौम्यता, पवित्रता और गंभीरता से प्रभावित हुए बिना वहाँ उपस्थित कोई व्यक्ति रह नहीं पाया।

अब प्रश्न उठा कि महाराज युधिष्ठिर किसकी अग्रपूजा करें? इस समय आर्यावर्त्त के राजाओं और बुद्धिजीवियों में सर्वश्रेष्ठ कौन है?

पौंड्रक वासुदेव ने अग्रपूजा के लिए शिशुपाल के नाम का प्रस्ताव किया। करूष के दंतवक्त्र ने उसका समर्थन किया। फिर उसने जरासंध के पुत्र सहदेव को अपने समर्थन में बुलाया। वह लपककर उसके पास भी गया; पर उसका समर्थन कर नहीं पाया। वह चुपचाप लौट आया।

शिशुपाल बड़बड़ाया—''तेरा बाप मेरा मित्र था। हम दोनों कंधे से कंधा मिलाकर हर संकट का सामना करते थे और तू उसका पुत्र इतना जघन्य और नीच है कि ऐन मौके पर धोखा दे रहा है!''

इसके बाद शिशुपाल ने भीम के पुत्र सुतसोम को बुलाया। पूछा, ''तुम्हारे पिताजी कहाँ हैं?''

''दिखाई तो नहीं पड़ रहे हैं।'' सुतसोम ने कहा, ''हो सकता है, दु:शासन चाचा के साथ पाकशाला में हों।''

''पर दु:शासन तो यहीं है।''

''तब वह कहीं जा सकते हैं।''

''पर वे किधर गए?''

सुतसोम बोला, ''अभी तो वे इधर ही थे।''

''लगता है, वह भी अवसर पर खिसक गया।'' शिशुपाल बड़बड़ाया—''वह भी मायावी ही निकला।''

अब द्रोणाचार्य ने हस्तक्षेप किया। वे पितामह के निकट जाकर उच्च स्वर में बोले, ''आप लोग शांत रहें। व्यर्थ व्यग्र न हों। यह समस्या हमारी है। हम इसका समाधान करेंगे। और जब हम उसका समाधान न कर पाएँगे तब आपसे सलाह आमंत्रित करेंगे।''

''हम लोगों ने तो प्रस्ताव के रूप में सलाह आपको दे दी है।'' पौंड्रक वासुदेव बोला।

''हमने आपकी बात सुन ली है।'' आचार्यजी ने कहा, ''हम लोगों ने अपने परिवार के सदस्यों के बीच यह निर्णय लिया था कि अनुष्ठान के मध्य यदि कोई नई समस्या उत्पन्न होगी तो हम भीष्मजी से राय लेंगे और उनकी सलाह हमारे लिए अंतिम निर्देश होगी। अतएव हम भीष्मजी से पूरी सभा की ओर से

आग्रह करते हैं कि वे कृपा कर बताएँ कि महाराज युधिष्ठिर यज्ञ के पूर्व किसकी अग्रपूजा करें?''

वातावरण एकदम शांत हो गया। गहरी जिज्ञासा ने सारे कोलाहल को धर दबोचा।

पितामह खड़े हुए। उनकी मुद्रा से स्पष्ट लगा जैसे वे किसी रत्न की खोज में चिंतन के गंभीर सागर को मथ रहे हों। धीरे-धीरे, पर बड़े दृढ़ स्वर में उन्होंने बोलना शुरू किया—''बड़ा विकट प्रश्न आप लोगों ने मेरे समक्ष उपस्थित किया। महाराज युधिष्ठिर किस व्यक्ति की अग्रपूजा करें? जीवन का विराट् अनुभव मेरे सामने है, आर्यावर्त्त का विराट् परिसर मेरे सामने है और मेरे सामने हैं आप लोगों की भव्य आकृतियाँ। उन्हींमें से मुझे अग्रपूजा के योग्य व्यक्ति को चुनना है। ऐसे व्यक्ति की मानक अर्हताएँ भी पहले से निर्धारित हैं। जो ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ हो, शौर्य में सर्वोपरि हो; जो सामाजिक न्याय एवं धर्म का संस्थापक, संरक्षक और पालक हो; जिसकी गरिमा से यह संपूर्ण राष्ट्र महिमामंडित होता हो, ऐसा एक ही व्यक्ति इस समय दिखाई दे रहा है।'' इतना कहने के बाद पितामह कुछ क्षणों के लिए रुके। उनके गले में जैसे कुछ अटक गया।

अद्भुत सन्नाटा छा गया। लोगों की साँसें जैसे रुक गई हों। समय जैसे थम गया हो। पितामह किसका नाम लेने वाले हैं, लोगों की दृष्टि केवल इसी बिंदु पर थी कि उन्होंने अपने गले को साफ करते हुए कहा, ''ऐसा एक ही व्यक्ति इस समय मेरे सामने है और वह हैं द्वारकाधीश श्रीकृष्ण।''

मेरा नाम लेते ही कोलाहल मच गया। मेरे जय-जयकार से आकाश गूँजने लगा। ब्राह्मणों ने मेरे लिए स्वस्तिवाचन आरंभ किया। उद्गाता सुसमा ने मुझे आशीर्वाद देते हुए उच्च स्वर में सामगान आरंभ किया। राजाओं का एक विशाल समूह मेरी प्रशंसा में 'द्वारकाधीश वासुदेव की जय' के नारे लगाए जा रहा था। प्रजा भी इस नारेबाजी में उछल-उछलकर भाग ले रही थी।

उधर सहदेव मेरे चरण धोने के लिए गंगाजल ले आया। उसने ब्राह्मणों के मंत्रोच्चारण के मध्य मेरे चरण धोए। कुंकुम तिलक लगाया।

तब तक एक विस्फोटक आवाज उस सारे कोलाहल को चीरती हुई आई—''ठहर जाओ! यह अधर्म मत करो। मेरे रहते एक चोर, लफंगे और लुटेरे की अग्रपूजा नहीं हो सकती।''

यह आवाज थी शिशुपाल की। उसने अपने स्थान पर खड़े होकर पितामह का जोरदार विरोध किया और कहा, ''आपने अग्रपूजा के लिए जो मानक अर्हताएँ

बताई हैं, उनमें एक भी कन्हैया नामक इस छलिया और कुचक्री पर ठीक नहीं बैठतीं। न यह राजा है, न ऋत्विक् है; न आचार्य है और न सबसे वृद्ध। अपने पिता के रहते यह राजा कैसे हो सकता है? यह तो युवराज भी नहीं हो सकता; क्योंकि इसका बड़ा भाई बलराम सभी दृष्टियों से इससे योग्य है।''

शिशुपाल की आवाज निरंतर तेज होती गई—''तब लोग इसे राजा कैसे स्वीकार करेंगे? और जब आपके यहाँ इस समय द्रुपद उपस्थित हैं, इसी छलिया के पिता वसुदेव उपस्थित हैं। जिनके जन्म लेते ही पृथ्वी काँप उठी थी, वे महाराज बाह्लीक उपस्थित हैं, काशी नरेश उपस्थित हैं। यदि राजाओं में से ही आपको चुनना हो तो आप इन्हें चुनें, इनकी अग्रपूजा करें।

''यह शस्त्र और शास्त्र किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। और हो भी कैसे सकता है? क्या यह द्रोणाचार्य और कृपाचार्य से अधिक पूज्य है? ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध और वयवृद्ध की दृष्टि से यह नीच श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के रहते पूज्य कैसे हो सकता है?'' शिशुपाल धारा प्रवाह इतने क्रोध के आवेग में बोलता चला जा रहा था जैसे किसीको सुनने के लिए उसके पास अवसर ही न हो। बहुत से लोग मेरे पक्ष में बोलने के लिए खड़े हो गए थे; फिर भी उसने किसीको नहीं बोलने दिया और स्वयं बोलता चला गया—''अरे, यदि आप लोगों को इसके वय के किसी व्यक्ति की पूजा करनी है तो शस्त्रविद् और शास्त्रज्ञ अश्वत्थामा किससे कम हैं! मैं किससे कम हूँ! इस गुणहीन, नीच, अधार्मिक और दुष्ट की पूजा करना तो यहाँ पधारे राजाओं का अपमान करना है!''

''चेदि नरेश! तुम भूल कर रहे हो।'' यह कई राजाओं की समवेत ध्वनि थी, जो मेरे पक्ष में उभरी थी—''द्वारकाधीश सभी दृष्टियों से अग्रपूजा के योग्य हैं। पितामह के चयन को हमें आदेश की तरह स्वीकार करना चाहिए।''

इसपर वह और आगबबूला हो गया। उसका आक्रोश भभक उठा। उसने मुझे गालियाँ देनी शुरू कीं—''कुत्ते, तू सोचता है कि लुक-छिपकर घी का घट चाट लेने पर तू धन्य हो रहा है! तेरा यह अग्रपूजन नपुंसक का ब्याह है। अंधे को दर्पण दिखाना है। जैसे कोई भिखारी राजाओं के बीच बैठा दिए जाने मात्र से राजा नहीं हो सकता वैसे तेरी यह अग्रपूजा तुझे महान् नहीं बना सकती।''

इसके बाद वह बड़े आवेश से मेरी ओर झपटा। सबको आश्चर्य हुआ यह देखकर कि उसके पुत्र धृष्टकेतु ने उसे रोका। शिशुपाल ने तो उसे झटक दिया। दंतवक्त्र ने भी उसे डाँटा। वह चुपचाप बैठ गया। उसकी मुद्रा से लग रहा था कि वह अपने पिता के व्यवहार से संतुष्ट नहीं है, या वह कुछ और चाहता है।

अब महाराज युधिष्ठिर स्वयं शिशुपाल के पास गए और उसके कंधे पर हाथ रखकर उसे धीरे-धीरे समझाने लगे—"देखो, पितामह हममें श्रेष्ठ हैं। वे दृढ़ संकल्प, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, ब्रह्मज्ञानी और धर्मपालक हैं। अनुभव की विराट् संपदा उनके पास है। हमें उनके आदेश का पालन करना चाहिए।"

"क्या पालन करना चाहिए!" उसके क्रोध में एक उबाल और आया। अब वह पितामह को ही भला-बुरा कहने लगा—"तुम उसे ब्रह्मचारी कहते हो! अरे, ब्रह्मचर्य के आवरण में उसने अपनी नपुंसकता छिपा रखी है। तुम उसे धर्मपालक कहते हो! यह वही व्यक्ति है न, जिसने काशिराज की कन्या अंबा को हर लिया था; जबकि वह बेचारी शाल्व से विवाह करना चाहती थी। यह कहाँ का धर्म था?"

अब तो युधिष्ठिर की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। सबको यह लगने लगा कि क्रोधाग्नि में शिशुपाल की बुंद्धि भस्म हो गई है। युधिष्ठिर ने भी सोचा कि अब इसे समझाना केवल पानी पीटना है। वे वहाँ से लौटकर अपने सिंहासन पर बैठ गए।

और लोग चिल्लाते रहे—"द्वारकाधीश की अग्रपूजा होने दीजिए।"

पितामह ने एक बार फिर उसे समझाने की चेष्टा की—"शिशुपाल, इस समय तुम आक्रोश के आवेग में हो। तुम्हारे मुख से जो निकल रहा है, वह विचार के योग्य नहीं है; क्योंकि मस्तिष्क में विवेक और क्रोध का एक ही कक्ष होता है। जब विवेक आता है तब क्रोध वहाँ से भाग जाता है और जब क्रोध आता है तो विवेक नहीं ठहरता। इस समय तेरे पास विवेक नहीं, केवल क्रोध है। पहले तू शांत हो। जब तेरे विवेक की क्षमता लौट आए तो तू मेरे कथन पर विचार करना।" फिर पितामह मेरी प्रशंसा में बोलने लगे—"वस्तुतः श्रीकृष्ण राजाओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। यहाँ कोई ऐसा राजा नहीं, जिसे इन्होंने कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में पराजित न किया हो। क्षत्रियों में यह स्थापित नियम है कि जो जिससे पराजित हो जाता है, वह उसे श्रेष्ठ मानता है। तुम अपने मित्रों को छोड़कर यहाँ उपस्थित राजा-महाराजाओं से स्वयं पूछकर देखो, वे श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ मानते हैं या नहीं!"

"हाँ, हम मानते हैं। हम सब मानते हैं।" राजाओं की ओर से उठे इस सम्मिलित स्वर में सबसे तीव्र स्वर भीलराज एकलव्य का था।

"तू मुझे समझाने चला है खूसट बूढ़े! तेरी बुद्धि मारी गई है! तू पांडवों, यादवों और कौरवों का क्रीत दास हो गया है। तू उसकी प्रशंसा कर रहा है, जो

हत्यारा है, कृतघ्न है। अरे, जिसका इसके परिवार ने नमक खाया उसी कंस की, अपने मामा की इसने हत्या की। पक्षी (बकासुर) को मारनेवाले, घोड़े (केशी) की हत्या करनेवाले, बैल (वृषभासुर) की हत्या करनेवाले और चेतनाहीन छकड़े (शकटासुर) को पैर से मारकर गिरानेवाले को तू बड़ा शौर्यवान् समझता है! अरे, वह गोवर्धन पर्वत तो दीमकों की बाँबी थी, उठा लिया तो कौन बड़ा काम कर लिया! अरे, तेरा कन्हैया तो मात्र एक चरवाहा है, गायों को चरानेवाला!''

अब तो भीम से रहा नहीं गया। वह क्रोध में आपे से बाहर हो गया और दाँत पीसते हुए उसकी ओर लपकने ही वाला था कि मैंने उसे रोका। तब तक मैंने देखा कि पूरी भीड़ को चीरता छंदक आ रहा है। उसे कुछ जरूरी बातें मेरे कान में कहनी थीं; फिर भी मैंने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

शिशुपाल से इतना सुनने के बाद मेरे खून में उबाल आना स्वाभाविक था। मैं चुपचाप हँसता रहा। उसे गालियाँ देने का पूरा अवसर देता रहा; क्योंकि मैं देख रहा था कि वह जितनी गालियाँ देता जा रहा था, लोग उतना ही मेरे पक्ष में होते जा रहे थे। मेरी जय-जयकार उतनी बढ़ती जा रही थी। इससे उसके साथियों का भी मनोबल गिरता जा रहा था। उसके पुत्र धृष्टकेतु की व्यग्रता बढ़ती जा रही थी।

इसका प्रभाव शिशुपाल पर उलटा पड़ रहा था। उसे लग रहा था कि सारी भीड़ मुझे चिढ़ा रही है। यह स्थिति उसकी क्रोधाग्नि में घृत का कार्य कर रही थी। गालियों की बौछार बढ़ती गई, निरंतर बढ़ती गई।

अब छंदक ने धीरे से मेरे कान में बताया कि यह जो बाहरी कोलाहल है, वह चेदि से आए सैनिकों का है। उन लोगों की तैयारी है कि मौका मिले और हम घुसकर अपने महाराज शिशुपाल की ओर से आक्रमण करें।

अब मैंने सोचा कि अभी तक तो शिशुपाल ने पितामह, युधिष्ठिर और मेरे बारे में झूठ-सच लोगों को बताया, अब क्यों नहीं उसके विषय में भी उसकी असलियत लोगों को बताई जाए। कम-से-कम लोग यह तो जान लें कि यह किस तरह का व्यक्ति है। पूजा के सिंहासन से मैं खड़ा हुआ। पितामह भी हड़बड़ाकर अपनी जगह खड़े हो गए। उन्हें शायद यह लगा कि मैं उसपर आक्रमण करने जा रहा हूँ; पर मेरी मंशा यह तो थी नहीं।

मैंने उच्च स्वर में लोगों को संबोधित करते हुए कहा, ''अभी तक मैं हँसते हुए अपने संबंधी शिशुपाल को सुनता जा रहा था और सोच रहा था कि इसके पागलपन का यह ज्वार शीघ्र ही थम जाएगा; पर अब पानी सिर से ऊपर हो गया है। यह शिशुपाल नाम का जीव मेरा संबंधी ही नहीं वरन् मेरी सगी

बुआ श्रुतश्रवा का एकमात्र पुत्र है। पर इसने जन्म से ही मेरा विरोध किया। मेरे घरवालों, यहाँ तक कि समस्त यादवों का अहित चाहा। उनका सत्यानास करने में कुछ भी उठा नहीं रखा।''

मैं धीरे-धीरे आवेश में आता गया और मेरी आवाज ऊँची होती गई—''इस नीच ने बिना किसी कारण के द्वारका को जला डालने की कुचेष्टा की। उस समय मैं द्वारका से दूर प्राग्ज्योतिषपुर में था। इसी तरह जब महाराज भोजराज रैवतक पर्वत पर विहार कर रहे थे, तब यह चोरों की तरह उनकी राजधानी में घुस गया और उनके साथियों को मार डाला। मेरे पिताजी के अश्वमेध यज्ञ का इसने अश्व पकड़ लिया था, केवल यज्ञ में विघ्न डालने के लिए। उसी समय मैं इस पापी को मार डालता; पर इसकी माँ रोने लगी। बोली, 'तेरा भाई है, इसकी रक्षा कर।'

''मैंने साफ कहा, 'पर मैं इसकी रक्षा नहीं कर पाऊँगा। यह आततायी है, पापी है, दुष्ट प्रकृति का नीच है।'

'' 'तब तू इसे क्षमा कर।' बुआ ने कहा।

'' 'क्षमा की भी एक सीमा होती है।' मैंने कहा, 'आखिर मैं इसके कितने अपराध क्षमा करूँगा?'

''मैं कहता गया। बुआ घबरा गई। तब मैंने उसे वचन दिया कि इसके सौ अपराध तक मैं क्षमा करूँगा। फिर भी यह अपराध करता गया। महान् तपस्वी यदुवंशी बभ्रु को यह हर ले गया था। उस समय वह बेचारा मुझसे मिलने द्वारका आया था। तब मुझे ऐसा क्रोध आया था कि मैं इसका वध कर डालता; पर बुआ को दिए वचन के कारण मैं चुप रह गया। इसी तरह की नीचता इसने अपनी चचेरी बहन भद्रा के साथ भी की थी। वह बेचारी करूषराज के लिए तपस्या कर रही थी। उसके साथ रूप बदलकर इसने छल किया; जैसे सीता के साथ रावण ने किया था। मैं तो उसी समय इसे रावण की गति प्रदान करता; पर मेरे सामने एक बार फिर बुआ को दिया वचन आकर खड़ा हो गया। उस समय भी मैंने इसे छोड़ दिया; पर आज तो इसकी दुष्टता सीमा लाँघ चुकी है।''

''तो तू क्या करेगा?'' शिशुपाल बीच में ही गरजा।

वस्तुत: वह मुझे निरस्त्र समझ रहा था। मेरी वंशी और चक्र दोनों मेरी कटि में खोंसे थे। उस मूर्ख को यह भी नहीं ज्ञात था कि वंशी और चक्र के बिना कृष्ण की कोई परिकल्पना नहीं हो सकती।

ज्यों ही वह गरजा त्यों ही मैं बोला कि मैं तुम्हारा वध करूँगा—और मैंने

तुरंत कटि से चक्र को निकालकर अभिमंत्रित किया। इस अवधि में शिशुपाल भी थोड़ा बढ़ आया था।

"खबरदार, जो आगे बढ़े!" गरजते हुए मैंने चक्र चला दिया।

सूर्यपुत्र की तरह वह ज्योतित चक्र जब घूमता हुआ आगे बढ़ा, पूरी भीड़ देखती रह गई। सभी चमत्कृत थे कि यह कहाँ से आ गया।

लोग देखते रह गए और शिशुपाल का सिर धड़ से अलग हो गया।

मैं पुनः गरजा—"है कोई और उसका साथी, जो आगे आए?"

पर कोई आगे नहीं बढ़ा। भय और आतंक के इतने भयानक व घने मेघ छाए कि बिना बरसे ही गर्जन मात्र से हर एक उनमें भीग गया।

इस समय मेरा रौद्र रूप जिसने भी देखा, वह स्तंभित रह गया। अब मैंने अपनी यह रुद्रता और भयानक की—"आप लोग जहाँ खड़े हैं वहीं बैठ जाइए और कार्यक्रम को आगे चलने दीजिए।"

ऐसा ही हुआ। लोग चुपचाप बैठ गए। जरा भी कसमसाहट नहीं, जरा भी सुगबुगाहट नहीं। शिशुपाल का रुंड-मुंड रक्त उगलता रहा और कार्यक्रम आगे बढ़ा। विधिवत् अग्रपूजा संपन्न हुई।

पांडवों और कौरवों दोनों ने मेरा अभिवादन कर मुझे मालाएँ पहनाईं। इसके बाद और लोग मालाएँ लेकर आगे बढ़े।

मैंने उन्हें रोक दिया—"बस, यह सब अब नहीं।"

मैं एकदम वहाँ से उठा और जहाँ शिशुपाल का खंडित शव पड़ा था वहाँ आया। मैंने कहा, "कुछ भी हो, शिशुपाल मेरा भाई था। अच्छा था या बुरा था, पर था तो मेरा भाई।" इतना कहते-कहते मेरा गला रुँध गया। अब सारी सभा करुणार्द्र हो उठी।

धृष्टकेतु मुझसे लिपटकर रोने लगा।

मैंने उसे समझाया—"ढाढ़स धरो, वत्स! तुम्हारे पूज्य पिता ने अपने कर्मों का फल पाया। मैं तो निमित्त बना। जिस दिन मनुष्य पैदा होता है उसी दिन से उसकी मृत्यु उसके साथ लग जाती है—और जब जीवन समाप्त होता है, उसी क्षण उसे धर दबोचती है। वह न समय देखती है, न वातावरण; न स्थान और न व्यक्ति की स्थिति। बस कोई-न-कोई निमित्त ढूँढ़ती है और उसीके माध्यम से प्रत्यक्ष हो जाती है। यही तुम्हारे पिताजी के भी साथ हुआ और यही एक दिन हमारे साथ भी होगा।"

मैं समझा तो रहा था धृष्टकेतु को, पर हर व्यक्ति बड़ी गंभीरता से मुझे

सुनने लगा। मैं बोलता रहा—"इसीसे किसीकी मृत्यु पर शोक करना व्यर्थ है। फिर भी हम दु:खी होते हैं—अज्ञान के कारण, मोह के कारण, स्वार्थ के कारण। मरता तो शरीर है; क्योंकि वही जन्म लेता है। आत्मा नहीं मरती। वह तो शरीर के माध्यम से व्यक्त होती है। और तब उसे व्यक्त करने की शरीर की क्षमता क्षीण पड़ जाती है, आत्मा उसे छोड़ देती है। मृत्यु तो नए जीवन का द्वार खोलती है। इसलिए हे वत्स! तुम्हारे पूज्य पिताजी किसी नए जीवन में प्रविष्ट हो रहे होंगे। अब उनके लिए शोक क्या! अब उनकी अंत्येष्टि की चिंता करो।"

मैंने उसी समय एक शिविका मँगवाई। ओषधि से शिशुपाल के कबंध के साथ उसका सिर जुड़वाया। फिर उसे शिविका में रखा गया। तब मैंने पितामह से शव को हटाने की आज्ञा ली।

पितामह ने भरे गले से अनुमति दी और वहाँ उपस्थित सभी लोगों को संबोधित करते हुए कहा, "शिशुपाल के जीवन की अंतिम यात्रा आरंभ हो रही है। हम खड़े होकर दिवंगत आत्मा के लिए मौन प्रार्थना करेंगे। उन्हें बिदाई देंगे; किंतु यज्ञ विधिवत् चलता रहेगा। यजमान और पुरोधा जो कर रहे हैं, करते रहेंगे। पांडवों और कौरवों को छोड़कर जो भी शवयात्रा में जाना चाहें, जा सकते हैं।"

इसके बाद शिशुपाल का शव शिविका में वहाँ से उठाकर नगर के बाहर निर्जन और शांत अरण्य में लाया गया। वहाँ शिविका से बाहर निकालकर उसकी देह पर अगरु और चंदन का लेप लगाया गया। फिर उसे घृतस्नान कराया गया।

आश्चर्य था कि इस सारे कार्य के बीच कहीं छंदक नहीं था। पर जब शव यात्रा आरंभ हुई तब वह पता नहीं कहाँ से आ टपका।

"कहाँ थे जी?" मैंने उसके आते ही पूछा।

"मैं उन लोगों की खोज करता रहा, जो जीवित रहते शिशुपाल के बड़े घनिष्ठ मित्र थे।" छंदक ने बताया—"उनका कहीं पता नहीं। उनके साथ आए लोगों का भी कहीं पता नहीं है। न कहीं पौंड्रक वासुदेव दिखाई पड़ रहा है और न कहीं दंतवक्त्र।"

"वे सब स्वार्थ के साथी थे। शिशुपाल के जीवन तक ही उनका साथ था।" मैंने कहा। मैंने देखा कि धृष्टकेतु बड़ी सावधानी से मेरी बातें सुन रहा है—"हम लोगों का साथ भी चिता तक ही रहेगा। जब चिता धू-धू कर जलेगी तब उस अग्नि को पार कर हममें से कोई नहीं जाएगा। उसके बाद भी यदि कोई शिशुपाल के साथ जाएगा तो उसका कर्म, उसका धर्म।"

उसी सुनसान अरण्य से शवयात्रा आरंभ हुई। धीरे-धीरे काफी लोग जुट

गए। सबसे आगे चेदि से आई सैन्य टुकड़ी थी। शिशुपाल ने इसे किसलिए बुलाया था और यह उसके किस काम आई! उस सैनिक टुकड़ी के पीछे हम लोग और उसके निकट संबंधी चल रहे थे। हमारे पीछे देश-विदेश से पधारे राजा-महाराजाओं का दल था और सबसे पीछे चल रही थी इंद्रप्रस्थ की प्रजा, थोड़े से लोग, जो यज्ञस्थल से उठकर हमारे साथ ही चले आए थे।

यमुना किनारे पहुँचते-पहुँचते सूर्य लगभग डूबने लगा था। यमुनाजल में हिलोरें लेती उसकी अरुणिमा में शिशुपाल के सद्यः बहते रक्त की लाली दिखाई दे रही थी।

चंदन की चिता पर राजकीय सम्मान के साथ शव रखा गया। जब धृष्टकेतु ने मुखाग्नि दी तब पुरोधा ने अथर्ववेद (१८।२।५६) का यह मंत्र पढ़ा—

''इमौयुनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सदनं समितीश्चाव गच्छतात्॥''

यह ऋचा मेरे मन में ऐसे चुभ गई कि क्या बताऊँ। धीरे-धीरे चिता की ज्वाला भी शांत होने लगी। केवल धधकते अंगारे रह गए—और फिर वे स्वयं भी राख होने लगे। मैं ध्यानावस्थित उन्हें देखता रहा। जो अग्नि दूसरों को जलाने की क्षमता रखती है, उसका भी अंतिम परिणाम जलकर राख होना ही है। अंत मे शिशुपाल भी राख ही हो गया। सारा तू-तू, मैं-मैं यहीं छोड़ गया। तब तक धृष्टकेतु मेरी बगल में आकर खड़ा हो गया था। मुझे उसकी आहट लगी।

मैंने उससे कहा, ''जब तुम मुखाग्नि दे रहे थे तब पुरोधा ने एक ऋचा पढ़ी थी। जानते हो उसका भावार्थ क्या था?'' और मैं उसे भावार्थ बताने लगा—''आपकी प्राणविहीन मृत देह को वहन करने के लिए इस वंशानुगत चली आई और आह्वान की गई दोनों प्रकार की अग्नि को आपकी देह में लगा रहा हूँ, जिससे आप इन अग्नियों के द्वारा सर्वनियंता परमात्मा के समीप जा सद्गति प्राप्त कर सकें।''

धीरे-धीरे चिता बुझने लगी। अँधेरा बढ़ने लगा। सबसे पहले धृष्टकेतु ने स्नान किया। फिर शवयात्रा में आए अन्य लोगों के भी स्नान का क्रम चलने वाला था। परंपरानुसार बड़े और पूज्य को अग्रवर्ती बनाकर यह अंत्येष्टिस्नान चलता है।

यहाँ भी लोगों ने मुझे अग्रवर्ती बनने के लिए विवश किया। क्या संयोग था कि अभी कुछ घड़ी पूर्व लोगों ने मेरी अग्रपूजा की थी। जिसने मेरी अग्रपूजा का विरोध किया था, उसीकी अंत्येष्टि में मैं अग्रवर्ती बना। शुभ और अशुभ दोनों

साथ-साथ। दीप और छाया की तरह, जीव और माया की तरह।

मैं आगे बढ़ा ही था कि अचानक बलराम भैया मेरे आगे आ गए। बोले, "राजसूय यज्ञ में तुम्हारी अग्रपूजा की गई है और तुम्हीं अग्रवर्ती स्नान भी करोगे! यह नहीं होना चाहिए और नहीं होगा; क्योंकि शुभ कार्य के बाद अशुभ कार्य वर्जित है। फिर मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। मेरे रहते तुम अग्रवर्ती कैसे बन सकते हो?"

भैया ने मुझे अलग से स्नान कराकर सीधे यज्ञशाला में भेज दिया। तेरह दिनों तक शिशुपाल का अशौच चला। यद्यपि हमारा परिवार अशौच में नहीं था, फिर भी हम शिशुपाल के पुत्रों और निकट संबंधियों की तरह दिन में एक बार ही भोजन करते थे और धरती पर ही सोते थे।

सोचता हूँ, उस महाकाल की मुद्रा का क्या ठिकाना। जो राजसूय यज्ञ की अस्मिता को ही भस्म कर देना चाहता था, वह शिशुपाल ही भस्म हो गया। उसकी भस्मी लेकर उसके पुत्र और संबंधी, उसके हितू-हितैषी चेदि के लिए चल पड़े। हम सबकी आँखें भर आईं। उन्हें इंद्रप्रस्थ की ओर से करुणार्द्र भावभीनी बिदाई दी गई।

इसके चार-पाँच दिनों बाद ही यज्ञ की पूर्णाहुति दी गई। अनुष्ठान के ब्रह्मा ने यज्ञ की सफलता की उद्घोषणा की। ऋत्विकों ने समवेत स्वर में यजमान के लिए स्वस्तिवाचन किया। सामगान गाए गए। महाराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को हाथ खोलकर दान और दक्षिणा दी। राजा-महाराजाओं को भी ससम्मान बिदाई दी गई। सभी प्रसन्न और आह्लादित थे। यहाँ तक कि कौरवों ने भी युधिष्ठिर के धैर्य, व्यवस्था, समझदारी आदि की प्रशंसा की। पितामह, आचार्य, महाराज धृतराष्ट्र आदि ने उन्हें आशीर्वाद दिए।

पर वेदव्यासजी एकदम गंभीर थे। मुझे लग गया कि कोई विशेष बात अवश्य है। हम लोगों ने उन्हें एक दिन और रोक लिया। वह पुरोधा धौम्य एवं अपने शिष्य पैल के साथ रुक भी गए; पर उतने ही गंभीर तथा बुझे-बुझे-से जैसे इस प्रसन्नता और आह्लाद के प्रकाश में कोई भयावह अँधेरा उनके सामने लटक रहा हो।

दूसरे दिन उष:काल में ही हम लोग वेदव्यासजी के आवास पर पहुँचे। वे पूजन पर बैठे थे। पूजन समाप्त करने के बाद उन्होंने हमें प्रसाद के साथ आशीर्वाद भी दिया; पर दबे मन से।

अब मुझसे रहा नहीं गया। मैंने पूछ ही लिया—"क्या हम लोगों से कोई

भूल हो गई?''

''नहीं तो!''

''तब आप उतने प्रसन्न क्यों नहीं दिखाई दे रहे हैं जितने अन्य लोग थे?''

''क्योंकि मुझे वह दिखाई दे रहा है, जिसे अन्य लोग देख नहीं सके।''

''वह क्या है, महाराज?'' हम लोगों की व्यग्रता शिखर पर थी।

''वह है पांडवों का भयावह भविष्य।'' इतना कहकर वे क्षण भर के लिए मौन हुए। आँखें बंद हुईं। फिर थोड़ी देर बाद आँखें बंद किए-किए ही बोले, ''महाराज पांडु की इच्छा पूरी हुई। यज्ञ तो सफल हो गया; पर जिस अशुभ घड़ी में शिशुपाल मारा गया, उससे तो लगता है, पांडवों के दिन अब अधिक खराब आने वाले हैं।''

''इसकी भविष्यवाणी तो आप बार-बार करते रहे हैं।''

''पर इस बार तो इस अशुभ घटना और घड़ी ने उस भविष्यवाणी को और पक्का कर दिया है।''

पांडव तो स्तब्ध रह गए। कोई कुछ बोल नहीं पाया।

मैंने ही पूछने का साहस किया—''आपकी दृष्टि में पांडवों के कितने दिन संकटापन्न हैं, महाराज?''

''कम-से-कम तेरह वर्ष तो बड़े ही संकटग्रस्त हैं।''

''इनसे त्राण का कोई उपाय?''

वेदव्यासजी जोर से हँसे और हँसते हुए ही बोले, ''यदि भवितव्यता से त्राण का उपाय होता तो हम सब नियति के समक्ष इतने निरुपाय न होते।''

मनु शर्मा

१९२८ की शरत् पूर्णिमा को अकबरपुर (अब अंबेडकर नगर), फैजाबाद (उ.प्र.) में जनमे हनुमान प्रसाद शर्मा लेखन जगत् में 'मनु शर्मा' नाम से विख्यात हैं। लगभग डेढ़ दर्जन उपन्यास, दो सौ कहानियों और अनगिनत कविताओं के प्रणेता श्री मनु शर्मा की साहित्य साधना हिंदी की किसी भी खेमेबंदी से दूर, अपनी ही बनाई पगडंडी पर इस विश्वास के साथ चलती रही है कि 'आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो बरसों बाद मैं डायनासोर के जीवाश्म की तरह पढ़ा जाऊँगा।'

अनेक सम्मानों और पुरस्कारों से विभूषित श्री मनु शर्मा ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लिखा है; पर कथा आपकी मुख्य विधा है। 'तीन प्रश्न', 'मरीचिका', 'के बोले माँ तुमि अबले', 'विवशिता' एवं 'लक्ष्मणरेखा' आपके प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। 'पोस्टर उखड़ गया' सामाजिक कहानियों का संग्रह है। 'मुंशी नवनीतलाल' और अन्य कहानियों में सामाजिक विकृतियों तथा विसंगतियों पर कटाक्ष करनेवाले तीखे व्यंग्य हैं। 'द्रौपदी की आत्मकथा', 'अभिशप्त कथा', 'कृष्ण की आत्मकथा' (आठ भागों में), 'द्रोण की आत्मकथा', 'कर्ण की आत्मकथा' और अब यह अत्यंत रोचक कृति—'गांधारी की आत्मकथा'।

सम्मान और अलंकरण—गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट. की मानद उपाधि और उत्तर प्रदेश हिंदी समिति द्वारा 'साहित्य भूषण' विशेष उल्लेख्य हैं।